संवेद-36

वर्ष 3, अंक 1, जनवरी 2011



सम्पादक : **किशन कालजयी**
सहसम्पादक : **राजीव रंजन गिरि**
सम्पादकीय सहयोग : **नीरू अग्रवाल**
पुखराज जाँगिड़
नेहा

प्रबन्ध सम्पादक : **कुमकुम कुमारी**

सम्पादकीय सम्पर्क
एफ-3/78-79
सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089
फोन : 011-27891526
samvedmonthly@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक व मुद्रक कुमकुम कुमारी द्वारा
बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089
से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिंटर्स, 556, जीटी रोड,
शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित।

मूल्य : पचास रुपये
वार्षिक सदस्यता : तीन सौ रुपये
आजीवन : पाँच हजार रुपये

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से आर्थिक सहयोग प्राप्त
सम्पादन/संचालन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

संवेद-36

वर्ष 3, अंक 1, जनवरी 2011

इस बार

पुखराज जाँगिड़ : रेखाओं में समाया जीवन / 6

भूमंडलीकरण के दौर में

एजाज अहमद : भूमंडलीकरण और संस्कृति / 8
इस्माइल सिराजिल्दिन : दुनिया की गरीबी और भूख / 28
पी. साईनाथ : गैर-बराबरी का वैश्वीकरण / 37
गिरीश मिश्र : भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति / 50
विनोद शाही : बहुराष्ट्रवादी वैश्वीकरण और हिन्दी का बाजार / 54
जवरीमल्ल पारख : भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी सिनेमा / 59
वैभव सिंह : वैश्वीकरण के दौर में धर्म-संस्कृति / 70
जगदीश्वर चतुर्वेदी : फेसबुक और मीडिया का सांस्कृतिक परिवेश / 82
रंजीत वर्मा : भूमंडलीकरण और साहित्य / 91
वन्दना राग : इन्तजार और अभी... / 95
आलोक पाण्डेय : हिन्दी और भूमंडलीकरण / 101
राकेश बिहारी : बाज़ार जो सपने बेचता है... / 108

लम्बी कविता

विजेन्द्र : प्लाज़्मा / 118

कहानी

नूर ज़हीर : राज़फ़ाश / 148
विभा रानी : बर्फ की खुमारी / 153
जयश्री रॉय : वर्जित / 166

लेख

रोहिणी अग्रवाल : 'गोदान' का स्त्रीवादी पाठ / 178
ज्योतिष जोशी : उपन्यास, राष्ट्र-राज्य की अवधारणा और जैनेन्द्र / 201

कविता

अशोक गुप्ता / 222
गुरमीत बेदी / 226
सुनील कुमार पाठक / 229
राहुल झा / 234

लेख

प्रभु जोशी : कला आलोचना का बौद्धिक छद्म / 244
हितेन्द्र पटेल : इतिहास और ऐतिहासिकता पर एक टिप्पणी / 251

संस्मरण

रामदेव सिंह : हिन्दी कहानी की बेचैन आत्मा उर्फ द ग्रेट... / 261

लेख

डेनियेला ब्रेडी : स्वतन्त्र भारत में उर्दू की नियति... / 267
अरुण कुमार : बोली बनाम भाषा की राजनीति / 282

यात्रा-वृत्तान्त

उर्मिला जैन : ज़ेबरा की धारियां-सफेद पर काली या काले पर सफेद / 296

पुस्तक-समीक्षा

प्रेमपाल शर्मा : सत्ता और समाज / 300
सुरेश पण्डित : वर्तमान का भविष्य / 305
लेखकों के परिचय / 311

आवरण एवं रेखांकन : कुँवर रवीन्द्र

पुखराज जाँगिड़



k.ravindrasingh@yahoo.com

रेखाओं में समाया जीवन

कुँवर रवीन्द्र मूलतः यथार्थवादी शैली के चित्रकार हैं। उनका जन्म 15 जून 1959 को मध्यप्रदेश के रीवा में हुआ और प्रारम्भिक जीवन छत्तीसगढ़ के ठेठ ग्रामीण इलाकों में तथा शेष जीवन भोपाल में बीता। 1975-76 से लगातार सृजनरत हैं और देश की लगभग प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के आवरण पर प्रकाशित हो चुके हैं। उनके रेखाकनों पर 'अक्षरा' के सम्पादक विजय कुमार देव के सम्पान में आई 'रवीन्द्र और रेखांकन' पुस्तक काफी चर्चित रही। उनके चित्रों की पहली प्रदर्शनी सन् 1979 में रायपुर (छत्तीसगढ़) में हुई। इसके बाद 1983 में मध्यप्रदेश के ब्योहारीऔर शहड़ोल शहरों में उनके चित्रों की प्रदर्शनियाँ हुईं। मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में अब तक क्रमशः उनकी तीन चित्र-प्रदर्शनियों विधानसभा सभागार (1975), मध्यप्रदेश कला परिषद् (1976) व दंगा और दंगे के बाद विषय पर हिन्दी भवन (1993) का आयोजन हो चुका है। इसके अतिरिक्त बेतुल (विवेकानन्द सभागार, 1995) में भी में उनके चित्रों का प्रदर्शन हो चुका है। साहित्यिक पत्रिकाओं के साथ-साथ देशभर की कई व्यावसायिक-अव्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों और कविताओं के मुख पृष्ठों पर उनके अब तक लगभग चौदह हजार रेखांकन चित्र प्रकाशित हो चुके हैं। अपनी नायब कला-साधना के लिए उन्हें मध्यप्रदेश का 'सृजन सम्मान' (1995), बिहार का 'कला सम्मान' (1998) और छत्तीसगढ़ का 'सृजन सम्मान' (2003) मिल चुके हैं।

कुँवर रवीन्द्र के चित्रों का प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में पक्षियों से बड़ा

गहरा रिश्ता है। दूसरे शब्दों मं कहूं तो प्रकृतिजीविता उनके चित्रों की प्रारम्भिक शर्त है। और शायद हमारे जीवन की भी। इसलिए उनके चित्र बड़ी ही संजीदगी से हमारे समय की सामाजिक उठापठक को हमारे सामने लाने में सफल हो पाये हैं। हर कला का अपना सामाजिक दायित्व होता है और कुँवर रवीन्द्र की कला बहुत ही सहज ढंग से उसका निर्वहन करती चलती। लक्ष्य मनुष्यता की तलाश है ताकि इंसान-इंसान बना रहे। सार्थक और उद्देश्यपूर्ण कला का प्रभाव लोगों के मानस पटल पर पड़ता है और वह लोगों को जीने की वजह देती है। कुँवर रवीन्द्र के चित्रों में रहस्य और कल्पना का अनूठामिश्रण है पर हमारे सामने वह व्यावहारिक और मानवीय रूप में ही आता है। प्रकृति और जीवन-सूत्रों से आबद्ध उनके नायाब चित्र अलग-अलग माध्यमों में अपना अलग-अलग प्रभाव छोड़ते हैं। उनकी भावभिव्यंजना काफी गहराई और विविधता लिये होती है। उनमें समकालीन जीवन के दोनों पक्ष (सहज और जटिल) मौजूद हैं।

कलाओं का अन्तर्गुंफन और उनकी परस्पर अन्तनिर्भरता उनके चित्रों की विशेषता है। वैसे ही एक कलाकार के लिए प्रेम पाने और उड़ेलने और बाँटने का सबसे सशक्त माध्यम उसकी कला है और कुँवर रवीन्द्र की चित्र-साधना कला में मनुष्यता की खोज के लिए जूझती रही हे। यानी धुंधियाती पृथ्वी और खत्म होती मनुष्यता को बचाने का एक कला-प्रयास। उनकी चित्रकला का प्रकृति प्रेम आकृष्ट करता है।

कुँवर रवीन्द्र की कृतियों में भारतीय और पाश्चात्य दोनों स्त्री-छवियां मौजूद है। उनमें प्रकृति स्त्रीमय है। प्रकृति का स्त्रीमय होना कला की प्रतिबद्धता को रूपायित करता है। देह में आबद्ध स्त्री के विपरीत उसका उन्नत ललाट उसकी स्वाभिमान से भरी क्षमताओं का बखान करती है। सूर्य और धरती के सम्बन्ध के. रवीन्द्र की चित्रकारी जीवन के दो ध्रुव के मिलन का अनुपम उदाहरण है। इस मिलन का माध्यम प्रकृति है और पक्षी उसके प्रतीक हैं। उनकी रचनाएं पृथ्वी और चंद्रमा के मध्य पक्षियों की उपस्थिति दर्ज करती है। उनमें चूल्हे-चौके में झोंकी घरेलू स्त्री तथा खादानों और खेतों में खपाई गई कामगारी स्त्री, दोनों के क्रियाकलापों का विविध आयामी चित्रण है। इसमें एक ओर तन ढकने के कपड़े तक को मोहताज स्त्री है तो दूसरी और अपने आप में सिमटी-सकुचाई सी अबोध-बलिका भी है। वास्तव में उनके चित्र मानव-मन के, प्रकृति और मनुष्य के अनसुलझे रहस्यों पर टिप्पणी है। उनकी कला-साधना में दिशाहीनता और दिशाओं की तलाश दोनों के भाव निहित हैं और वह सत्ता के केन्द्रीकरण और उसके एकलमार्गी रवैये पर कटु व्यंग्य भी है। उनकी कृतियाँ हर संवेदनशील व्यक्ति से संवाद करती है, बतियाती है।

पुखराज जाँगिड़–जन्म–07 अक्टूबर, 1982 जयराम ढाणी, माडपुरा, बाड़मेर (राजस्थान)। दिल्ली विश्वविद्यालय से 'लोकप्रिय साहित्य की अवधारणा और वेद प्रकाश वर्मा के उपन्यास' पर एम.फिल्.। फिलहाल जेएनयू, नई दिल्ली से साहित्य और सिनेमा के अन्तर्संबन्धों पर पी-एच.डी. के लिए शोधरत। 'संवेद' के सम्पादकीय सहयोगी। सम्पर्क : 204-ई, ब्रह्मपुत्र छात्रावास, पूर्वांचल, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-67 ई-मेल–pukhraj@gmail.com

एजाज अहमद



भूमंडलीकरण और संस्कृति

संस्कृति के बारे में आज के वातावरण में कुछ कहना मेरे लिए इस बात से और भी ज्यादा मुश्किल हो जाता है कि साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण के इस युग में हमने ऐसे विशाल अकादमिक काम्पलेक्स और सांस्कृतिक उद्योगों को खड़े होते देखा है, जिन्होंने वैश्विक स्तर पर एक ऐसी अनोखी विचारधारा को प्रचारित करने का काम अपने हाथ में लिया है, जिसे बिलकुल ठीक-ठीक ढंग से 'सांस्कृतिकवाद' कहा जा सकता है—जो, दूसरे शब्दों में, एक ऐसी विचारधारा है जो संस्कृति को सामाजिक व्यवहारों के केवल एक अभिन्न अंग के रूप में नहीं बल्कि निर्धारीदृष्टान्त (determining instance) के रूप में लेती है। यह हमारे समय के वैचारिक उत्पादों की महान विडम्बनाओं में से ही एक है कि ठीक उस ऐतिहासिक क्षण में जब पूँजीवाद ने विश्व भर में न केवल आर्थिक—बल्कि स्वयं सांस्कृतिक उत्पादों के दूर-दराज कोनों में भी अन्ततः पैठ बना ली है, हम पश्चिमी अकादमी के सभी प्रसिद्ध मंचों से प्रचारित होने वाली एक ऐसी विचारधारा का उदय देख रहे हैं, जो निर्धारण के बिन्दु को राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र से सांस्कृतिक क्षेत्र की ओर स्थानान्तरित कर देती है।

संस्कृति के मुद्दों पर मैं थोड़ी देर में अधिक विस्तार से लौटूँगा। पहले मैं बहुत संक्षिप्त और सांकेतिक ढंग से यह बताने के लिए आपका समय लूँगा कि 'भूमंडलीकरण' शब्द को मैं किस प्रकार समझता हूँ, क्योंकि अन्ततः यही समझ, मेरे लिए, इस बात को निर्धारित करती है कि हमारे समय में संस्कृति का क्या अर्थ

है। इस मुद्दे को मैं ज्यादा नहीं खींचूँगा कि यह तथाकथित भूमंडलीकरण साम्राज्यवाद के इतिहास की नवीनतम अवस्था है और कि स्वयं पूंजी के ढाँचे में हुए ऐतिहासिक स्थानान्तरणों का कुल योग इसमें केंद्रीय महत्त्व का है, लेकिन यह साम्राज्यवाद की सिर्फ नयी अवस्था ही नहीं है, बल्कि आमूल रूप से भी एक नयी अवस्था है जो जब तक घटित नहीं हो सकती थी, तब तक कुछ पूर्व-शर्तों को पूरा नहीं कर दिया जाता। उन पूर्व-शर्तों में सबसे महत्त्वपूर्ण कौन-सी थी? इस प्रश्न का उत्तर मैं आपस में जुड़ी हुई तेरह थीसिसों के रूप में दूँगा और जो बात मैं कहना चाहता हूँ वह यह है कि यह इन सभी तत्त्वों का—केवल कुछ का नहीं—योगफल है, जो इस अवस्था की आमूल नवीनता को निर्धारित करता है।

मेरा मानना है कि उन पूर्व-शर्तों में से पहली थी स्वयं उपनिवेशवादी साम्राज्यों का समापन और इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों को वैश्वीकरण के प्रारंभिक वर्ष माना जा सकता है। मार्क्स पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि एक एकीकृत विश्व बाजार की ओर ले जाना पूँजीवाद के तर्क में शुरू से ही अन्तर्निहित रहा था और उपनिवेशवाद ने ऐसे बाजार के निर्माण में मुख्य भूमिका निभायी है, लेकिन 15वीं शताब्दी से लेकर जब यह प्रक्रिया शुरू हुई, 18वीं शताब्दी के अन्त तक, वास्तविक उपनिवेशवाद की प्रक्रिया अधिकतर अमेरिकन महाद्वीपों तक ही सीमित रही और केवल 19वीं शताब्दी में ही एशिया और अफ्रीका के आन्तरिक भागों में गहन रूप से उपनिवेश स्थापित किये गये और विश्व को अन्ततः उन्नत पश्चिम के केंद्रीय औद्योगीकृत देशों तथा गैर-औद्योगीकृत उपनिवेशों एवं आश्रित राज्यों के, जिनमें से कई नाममात्र के लिए स्वाधीन थे, समूहों में बाँटा गया। अपने उत्कर्ष-काल में, उपनिवेशवाद ने एक विश्व-अर्थव्यवस्था से मिलती-जुलती चीज का निर्माण कर लिया था, लेकिन यह असल में आपस में गुँथी हुई ऐसी अर्थव्यवस्थाओं का तंत्र था, जिसमें अलग-अलग औपनिवेशिक ताकतों का अलग-अलग भागों में नियंत्रण था। इस नयी अवस्था में एक पूरी तरह से एकीकृत विश्व-अर्थव्यवस्था के रूप में पूंजीवाद के और आगे विकास के लिए अब गैर-उपनिवेशकरण आवश्यक था, और जब तक इसके प्रतिद्वन्द्वी अपनी-अपनी औपनिवेशिक ताकत न खो देते, अमेरिका निर्विवाद वर्चस्वशाली शक्ति के रूप में नहीं उभर सकता था।

यह हमें दूसरी पूर्व-शर्त पर लाता है अर्थात् एक ऐसी उत्कृष्ट शक्ति की जरूरत थी, जिसकी देखरेख में कई छोटे-बड़े साम्राज्यों से एक संयुक्त वैश्विक साम्राज्य की ओर संक्रमण हो सके। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की चौथाई सदी, जिसे इतिहास में अमेरिकी वर्चस्व का स्वर्णयुग माना जाता है, इस संक्रमण के ही अनुरूप है। हाल ही में उस वर्चस्व के क्षीण होने के विषय में बहुत कुछ कहा जाता रहा है और बेशक यह सच है कि दूसरे केंद्र, खासतौर से पश्चिमी यूरोप तथा जापान भी उभरे हैं, जिन्होंने इस अनन्य शक्ति के कुछ पहलुओं को चुनौती दी है। फिर भी यह कहना जरूरी है कि अमेरिका सर्वाधिक शक्तिशाली पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के रूप में कायम है,

कि यू.एस. फैडरल रिजर्व अभी भी वित्तीय बाजार में ऐसी केंद्रीय भूमिका निभाता है, जो यूरोपीय और जापानी बैंक नहीं निभा सकते; कि अमेरिका के पास पश्चिमी यूरोप और जापान की सम्मिलित शक्ति से भी कहीं अधिक सैन्यशक्ति है; कि नाटो का हस्तक्षेप असल में अमेरिकी हस्तक्षेप है; कि दुनिया में सूचना और सांस्कृतिक मालों के प्रवाह को नियंत्रित करने वाले दस निगमों में से छः अमेरिकी हैं; और कि तृतीय विश्व के तकनीकी वैज्ञानिक-प्रबंधकीय अभिजात वर्ग के प्रशिक्षण में अमेरिका की अब तक सर्वप्रमुख—और मैं कहता हूँ कि अभिभूत करने वाली भूमिका रही है।

तीसरी पूर्व-शर्त, जैसा कि मैंने अभी कहा, यह कि क्लासिकी उपनिवेशवाद के युग ने शिव को औद्योगीकृत देशों के केन्द्र और गैर-औद्योगीकृत देशों के पिछड़े हुए क्षेत्रों के रूप में भी विभाजित कर दिया था। पूँजीवाद के एक सार्वभौम प्रणाली के रूप में वाकई सफल होने के लिए विश्व का उन्नत और पिछड़ी पूँजी के क्षेत्रों के रूप में एक बिलकुल नये किस्म का बँटवारा जरूरी था। उपनिवेशवादी साम्राज्यों की समाप्ति ने तृतीय विश्व में किसी सीमा तक औद्योगीकरण के राष्ट्रीय बुर्जुआ प्रोजेक्ट को सम्भव बना दिया और अपने-आप में पूँजीवाद की पहुँच को बहुत अधिक बदल दिया। विश्व की एक सर्वोत्कृष्ट वित्तीय प्रौद्योगिकीय और सैन्य शक्ति के रूप में अमेरिका इस पूरे नये तंत्र को आकार देने के लिए एक ऐसी अनूठी क्षमता से सम्पन्न था, जो किसी भी औपनिवेशिक शक्ति में नहीं थी। कहीं और, जैसे चीन में, बढ़ते हुए औद्योगीकरण की वैसी ही प्रक्रिया का गैर-पूँजीवादी रास्ते से सम्बद्ध होना आन्तरिक क्रान्ति और क्रान्ति के पहले जिस किस्म का अर्ध-औपनिवेशक साम्राज्यवाद वहाँ प्रभावी था, उसका पीछे हटना, दोनों के संयोग से सम्भव हुआ; वह एक ऐसी अर्थव्यवस्था है, जिसे अब वापस भूमंडलीकृत बाजार में पूरी तरह पचाया जा रहा है।

चौथे सोवियत गुट और पूर्वी-एशियाई समाजवादी और अर्द्ध-समाजवादी राज्यों ने 'भूमंडलीकरण' को तीन तरह से बाधित किया हुआ था। जनसंख्या की दृष्टि से वे मोटे तौर पर विश्व का एक तिहाई हिस्सा थे और यह एक तिहाई हिस्सा सही अर्थ में पूँजीवादी भूमंडलीकरण के लिए उपलब्ध ही नहीं था, भले ही वैश्विक पूँजीवादी बाजार के साथ दूसरे किसी भी तरह के सम्बन्ध उन देशों ने बनाए हों (मसलन, उस प्रणाली के विघटन से काफी पहले ही ज्यादा कमजोर कॉमेकान देशों में ऋण-निर्माण के इतिहास और प्रक्रिया पर ध्यान दें)। दूसरे, वैश्विक स्तर पर वे अपने-आप में पूँजीवादी साम्राज्यवाद की प्रणाली को चुनौती देने की सम्भावना रखते थे, जैसा कि उसी काल के वियतनाम से अंगोला और गिनी-बिसाऊ के खूनी मुक्ति युद्धों तक का इतिहास सिद्ध करता है। और तीसरे, वे न केवल मुक्तियुद्धों के लिए, बल्कि बहुत से निर्गुट देशों—जैसे मिस्र या सीरिया या भारत जैसे देशों के लिए, प्रौद्योगिकी, प्रशिक्षण, वित्त और सैन्य आपूर्ति के वैकल्पिक स्रोतों का काम करते थे। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की चौथाई शताब्दी में इस्पात से लेकर मूलभूत उद्योगों में

जिस तरह का विकास हुआ है, वह उस वैकल्पिक स्रोत के बिना कल्पनातीत होता; हम अमेरिका पर उस तरह की सैन्य निर्भरता से बचने में सफल रहे जैसी हमारे ईरान और पाकिस्तान जैसे कई पड़ोसियों ने स्वीकार की और यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक वैकल्पिक ध्रुव के बोध ने उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रीय बुर्जुआ राज्य के लिए एक निश्चित वामपंथी झुकाववाले वैचारिक दृष्टिकोण को बनाए रखने में सहायता की। केवल सोवियत गुट के ढह जाने और चीन के विश्व-बाजार में पचाये जाने के बाद ही पूँजीवाद वास्तव में एक वैश्विक प्रणाली बन पाया। यह सब बीसवीं शताब्दी की अन्तिम चौथाई में हासिल किया गया।

भूमंडलीकरण के अपने वर्तमान वर्चस्वशाली स्वरूप में पूरी तरह उभरने की पाँचवीं पूर्व शर्त भी यानी राष्ट्रीय बुर्जुआजी के राष्ट्रवाद की समाप्ति, जैसा कि भारत का अनुभव दिखलाता है, उसी वैकल्पिक ध्रुव की समाप्ति से बँधी हुई थी; 1989 की घटना का हमारे देश की प्रमुख कम्युनिस्ट ताकत, यानी सी पी आइ (एम) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, पर इसने खुद सत्ताधरी वर्ग के नीतिगत दृष्टिकोण को बदल कर रख दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लगभग एक चौथाई शताब्दी तक तृतीय विश्व के अधिकांश हिस्से में आर्थिक राष्ट्रवाद ने अनेक युक्तियों के जरिए नव-उदारवाद की वास्तविक विश्वव्यापी विजय में एक बाधा खड़ी कर रखी थी—मसलन संरक्षणवाद, घरेलू उद्योग के विकास के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का उपयोग, आर्थिक सहायता और प्रौद्योगिकी के लिए वैकल्पिक स्रोत के रूप में कॉमेकान देशों से सम्बन्ध और इस प्रकार अपने समाजों पर साम्राज्यवाद के प्रभाव को किसी हद तक सीमित कर दिया था।

अधिकांश तृतीय विश्व के देशों के लिए इस अवस्था का अन्त 1970 के दशक के शुरू में हो गया और वस्तुतः ये सारे देश—मिस्र, भारत, इंडोनेशिया, घाना, ब्राजील, ग्वाटेमाला आदि आश्रित राज्यों के तन्त्र में वापस पचा लिए गये, ताकि जो देश अब भी झुके नहीं, वे स्थानीय और आंशिक प्रतिरोध के द्वीप भर बनकर रह जाएं। तृतीय विश्व के देशों में राष्ट्रीय बुर्जुआजी के राष्ट्रवाद की अन्तिम समाप्ति, पूर्वी यूरोप और यू. एस. एस. आर. में सोवियत प्रणाली की समाप्ति तथा चीन में पूँजीवादी प्रणाली की पुनर्स्थापना के साथ हुई। केवल तभी एक बड़ी संख्या में तृतीय विश्व के देशों ने इस तरह व्यवहार करना शुरू किया जैसे उस चीज का कोई विकल्प नहीं था, जिसे अब 'भूमंडलीकरण' कहा जाता है। जैसा कि आप अच्छी तरह जानते हैं, भारत में ये रुझान काफी समय से विकसित हो रहे थे, पर 1980 के दशक के अन्त में ही, आर्थिक राष्ट्रवाद की नीतियों की बदौलत हासिल किये संचय के स्तर के बल पर राष्ट्रीय बुर्जुआजी ने स्वयं को इतना आश्वस्त अनुभव किया कि उसने संरक्षणवाद को छोड़कर बहुराष्ट्रीय फर्मों के साथ कनिष्ठ भागीदार के रूप में अपना एकीकरण कर लिया। उस दशक के अन्त में सोवियत प्रणाली के ढहने के बाद गुट-निरपेक्षता का दिखावा भी छोड़ दिया गया।

छठे विश्व वित्तीय बाजारों को एकीकृत करने और उत्पादक पूँजी को अपेक्षाकृत अधिक गतिशील बनाने के लिए नयी प्रौद्योगिकियों की जरुरत थी। इसका अर्थ था अन्य चीजों के अलावा राष्ट्रों की भौगोलिक सीमाओं के परे और लाखों पक्षों से बने एक सूचना सुपर-हाईवे का निर्माण, जिसकी खास विशेषता है वित्तीय सूचना, व्यापारिक संदेश, मनोरंजन के मालों और व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार का आपस में गुँथा हुआ एक इकहरा अस्तव्यस्त बहाव। इस बहाव के अधिकांश 'आभासीय' चरित्र को बहुत अतिरंजित किया गया है; पर यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि जिस किस्म के वैश्विक उत्पादनों और विनिमय को इन बहावों ने आसान बनाया है, उन्होंने जिंसीकरण की प्रक्रियाओं के साथ-साथ ऐतिहासिक रूप से नये किस्म के विश्वीकृत श्रम कानूनों को अत्यधिक तीव्र और विस्तृत कर दिया है। तो, इस सन्दर्भ में न तो विश्व अर्थव्यवस्था, न विश्व संस्कृति, न वैश्विक खेलकूद और न ही वैश्विक मनोरंजन तब तक सम्भव थे, जब तक वित्तीय मालों सहित मालों का केवल अलग-अलग राष्ट्रों के बीच विनिमय होता था। इन परिघटनाओं के भूमंडलीकरण के लिए ऐसी प्रौद्योगिकियों की आवश्यकता है जो इन सिगनलों को दुनिया-भर में घरों में भेज सकें और जो वित्तीय निर्णयों के प्रसारण के यात्रा समय को कम करके व्यावहारिक दृष्टि से शून्य पर ले आएँ। यहाँ तक कहा जा सकता है कि इस नये भूमंडलीकृत साम्राज्यवाद को प्रवर्तित करने के लिए युद्धोत्तर काल के असीम प्रौद्योगिकीय नवाचार उतने ही जरूरी थे, जितनी जरूरी औपनिवेशिक विजयों को पूरा करने के लिए द्वितीय औद्योगिक क्रान्ति की प्रौद्योगिकियां थीं। इसके विपरीत, उत्पादन और मुनाफे की इन प्रौद्योगिकियों का वैश्वीकरण तब तक कल्पनातीत था, जब तक दुनिया भर में सर्वहारा वर्ग एक ऐसे पैमाने पर पहले से विद्यमान न हो, जो औपनिवेशिक काल में अकल्पनीय था।

सातवें, यह पूरी इमारत कानून और नियम के एक ऐसे संगठित तंत्र पर थमी हुई है, जिसके दो परस्परव्यापी पहलू हैं। सबसे पहले तो आई. एम. एफ., वर्ल्ड बैंक, गैट, डब्ल्यू.टी.ओ. आदि के नियामक कानून हैं, जो आपस में मिलकर दुनिया भर में एकरूप नीतियों, दायित्वों और शर्तों को थोपने वाली एक नयी विश्व सरकार के रूप में तेजी से उभर रहे हैं, खासकर साम्राज्यीकृत विश्व में। इस तंत्र का परिष्कार करने में इन संस्थाओं की भूमिका केन्द्रीय रही है और निश्चय ही उनका अपना बेहद पेचीदा कानून ढाँचा और नियामक कानून है, जिनका अलग-अलग सभी राष्ट्र-राज्यों को पालन करना पड़ता है, लेकिन कानून और सम्प्रभुता के इस भूमंडलीकरण का एक उतना ही महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि राष्ट्रीय सरकारों पर अपने कानूनों को अमेरिकन कानूनों के अनुरूप—अक्सर केवल प्रतिकृति-बनाने के लिए लगातार दबाव डाला जा रहा है। इस प्रकार के गैर-भूभागीय साम्राज्य, जिसकी राजधानी वाशिंगटन डीसी में है, दूर-दराज के राष्ट्र-राज्यों के वास्तविक आन्तरिक कार्यों का तिहरे ढंग से अधिग्रहण कर लेता है : निजी बहुराष्ट्रीय पूँजी की ताकत और प्रलोभन

के द्वारा अधिराष्ट्रीय सुपर-नेशनल संस्थाओं (डब्ल्यू. टी.ओ. आदि) के नियामक कानूनों द्वारा और विभिन्न राष्ट्रों के कानूनों को अमेरिकन कानून की प्रतिकृतियों में बदलकर।

आठवें इस नये भूमंडलीकृत साम्राज्य को नये प्रकार की सैन्य प्रौद्योगिकियों की भी जरूरत थी, जैसे मिसाल के लिए 'स्वचालित युद्ध क्षेत्र' आटोमैटिक बैटलफील्ड्स जो दुनिया भर में प्रचुर संख्या में उत्पन्न हो रहे छोटे-छोटे शत्रुओं के विरुद्ध प्रभावशाली और त्वरित विजय दिलाते हैं। यह हम इराक और भूतपूर्व यूगोस्लाविया दोनों के मामले में देख चुके हैं, जिन्होंने साम्राज्य की सैन्य प्रौद्योगिकियों और नैतिक दावों के परीक्षण क्षेत्र का काम किया है। इन प्रौद्योगिकियों की तैनाती और फिर उनकी देख-रेख, बल्कि कार्यान्वयन मुख्यतः अमरीका द्वारा, हालोंकि अक्सर किसी एक निष्पक्ष एजेंसी के नाम पर, किया गया है; यदि इराक पर हमला संयुक्त राष्ट्र संघ के नाम पर किया गया, तो कोसोवो पर युद्ध नाटो के तत्त्वावधान में लड़ा गया। नवीं पूर्व-शर्त यह कि जिस प्रकार वर्ल्ड बैंक और डब्ल्यूटीओ जैसी संस्थाओं का उपयोग कानून और नियमों की नयी साम्राज्यवादी व्यवस्था को थोपने के लिए किया गया, वैसे ही संयुक्त राष्ट्र से सम्बद्ध संस्थाएं खासतौर से सुरक्षा परिषद, साम्राज्यवादी आक्रामकता को नैतिक वैधता देने के लिए अधिकाधिक उपयोग में लाई जा रही हैं। अमेरिकी सैन्य षड्यंत्रों को वैधता प्रदान करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का उपयोग उतना ही पुराना है जितना 1950 के दशक का कोरिया युद्ध।

इसके अगले बीस सालों की क्रान्तिकारी उथल-पुथल के काल में इस दुष्ट गठबन्धन ने अपने कदम पीछे खींचे। वियतनाम की आजादी के आसपास 1970 के दशक के मध्य में अल्पकाल के लिए 'राज्यों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का घोषणापत्र' लागू करके, जिसने घोषित किया कि सदस्य राष्ट्रों को न केवल 'विदेशी निवेश और बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों को नियमित करने और उन पर अपने प्राधिकार का उपयोग करने का' बल्कि ''राष्ट्रीयकरण, स्वत्वहरण या विदेशी संपत्ति के स्वामित्व के स्थानान्तरण का भी अधिकार है,'' संयुक्त राष्ट्र ने उस युग के क्रान्तिकारी मिजाज को भी पकड़ने की कोशिश की थी। इस प्रकार, वैश्विक शक्तियों के एक अलग सन्तुलन के क्षण में, जिसे 1960 के दशक की क्रान्तिकारी लहरों और रेडीकल सरकारों ने हासिल किया था, स्वयं संयुक्त राष्ट्र ने तृतीय विश्व के आर्थिक राष्ट्रवाद की आधारभूत आकांक्षाओं का इस प्रकार से अनुमोदन किया था कि श्री कोफी अन्नान को, जो अब सुरक्षा परिषद के दोबारा अमेरिकीकरण का संचालन कर रहे हैं, दुःस्वप्न आने लगे। खाड़ी युद्ध के सैन्य आक्रमण तथा डब्ल्यूटीओ के आर्थिक आक्रमण के समय तक सुरक्षा परिषद तथा संयुक्त राष्ट्र सचिवालय को फिर से साम्राज्यवादी नीति के औजारों में बदला जा चुका था, और श्री कोफी अन्नान का काम उतना ही अधिक आसान हो गया।

दसवें, सुरक्षा परिषद द्वारा अमेरिकी आक्रमण के वैधीकरण के अलावा विश्व के बुद्धिजीवी वर्ग के बीच नैतिक दबाव, वैचारिक वैधीकरण और सांस्कृतिक स्वीकृति

के लिए एक जटिल तंत्र की जरूरत थी। इसे सभी तरह के गैर-सरकारी संगठनों (एन. जी. ओ.) से लेकर उच्चाशयी उत्तर आधुनिकवाद और 'इतिहास का अन्त' की विचारधारा आदि अनेकानेक रूपों में हासिल किया गया। साम्राज्य की इस नयी उभरती हुई नैतिक अर्थव्यवस्था में, जैसा कि अंतोनियो नेग्री अर्थपूर्ण ढंग से संकेत करते हैं, हम उत्कृष्ट अमरीकी विश्वविद्यालयों के भद्र नीतिशास्त्रियों को 'न्यायपूर्ण युद्ध'—मजे की बात यह है कि यह अवधारणा सबसे पहले सामराजी रोम में विकसित की गयी—और मानव-अधिकारों के पक्ष में 'हस्तक्षेप' के अधिकार' के गुणों का बखान करते हुए देखते हैं। इसका दुनिया भर में एक अनोखा असर हुआ है, जो साम्राज्य के केन्द्रों से शुरू हुआ पर तीसरी दुनिया में साम्राज्य के मुवक्किलों तक फैल गया है। यदि मानव अधिकारों के मुद्दे पर सद्दाम हुसैन वाकई एक दानव था तो विश्वयुद्ध के दिनों की 'दुष्ट साम्राज्य' की वाग्मिता को अब दोबारा काम में लाया जा सकता है और पीछे हट रहे सैनिकों से लेकर अभागे बच्चों तक दसियों हजार इराकियों की मौत को एक न्यायपूर्ण युद्ध के खेदजनक पहलू के रूप में पेश किया जा सकता था। हालांकि यह याद करना अच्छा होगा कि इस नैतिक अर्थशास्त्र की भी अपनी ही नियमावलियां और लचीलेपन हैं। जनवाद और मानव अधिकार परम मूल्य हैं, सिवाय उस वक्त के जब सऊदी अरब जैसी जगहों की बात आती है। अफगानिस्तान के नशे के व्यापारी और खूनी धर्मान्ध जब तक अमेरिका के विश्वव्यापी कम्युनिस्ट-विरोधी धर्मयुद्ध के प्यादों के रूप में काम करते हैं, तब तक उनका चित्रण नैतिक कर्ताओं, यहाँ तक कि महान इस्लामी उद्देश्य के मुजाहिद्दीन के रूप में किया जाता है। इसके विपरीत जब कम्युनिस्टों को हरा दिया जाता है, तब उन्हें 'इस्लामी तत्त्ववाद' की बदतरीन बुराइयों के मूर्त रूप की तरह पेश किया जाता है। मानव अधिकारों के उद्योग द्वारा पहले से पैदा की गयी नैतिक वैधता और वैश्विक मीडिया की मिलीभगत की बदौलत ये मानवद्वेषी लचीलेपन अधिकांशतः अनदेखे ही रह जाते हैं।

ग्यारहवें, हम सम्प्रभुता और नागरिकता की एक नयी विकसित होती हुई प्रणाली को देख रहे हैं। नये कानून की उभरती हुई व्यवस्थाओं का जिक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ, जैसे अन्य अनेक विद्वानों ने भी किया है। वाशिंगटन डी. सी. और न्यूयार्क के जुड़वाँ शहर इस साम्राज्य की संयुक्त राजधानी का काम करते हैं, क्योंकि वे न केवल अमरीकी सरकार के मुख्यालय हैं, जो कि एक निर्णायक तथ्य हैं, बल्कि इस नयी सामराजी प्रभुसत्ता की अधिकांश प्रमुख संस्थाओं : वाल स्ट्रीट, आईएमएफ, वर्ल्ड बैंक, डब्ल्यूटीओ, संयुक्त राष्ट्र आदि के भी मुख्यालय हैं। इन साम्राज्य केन्द्रीय देशों में कीन्सवाद के और तृतीय विश्व में सुधारवादी राष्ट्रवाद के ढह जाने का अर्थ यह है कि सामाजिक और आर्थिक हकदारियां अब सिद्धान्ततः भी नागरिकता या रोजगार, जिन्दा रहने की बुनियादी जरूरतों से कम और सामाजिक हित के अन्तिम निर्णायक के रूप में बाजार से अधिक बँधी हुई हैं। यदि बाजार आमदनियों का पुनर्वितरण ऊपर की ओर करता है, जैसा कि पूँजीवाद चाहेगा, बजाय नीचे की ओर

करने के—जैसा कि पीपुल्स कन्वेंशन अगेन्स्ट ग्लोबलाइजेशन चाहेगी—तो फिर तली में रहने वालों का और भी बुरा हाल होने वाला है, जिनसे दुनिया भर में वैसा ही बर्ताव किया जाता है, जैसा कुवैत अपने बंधुआ, विदेशी, अ-नागरिक मजदूरों के साथ करता है। नागरिकता ही राष्ट्र-राज्य की समाप्ति के बाद बची हर सकती है, जिसकी रोजाना जल्दबाजी में लेकिन संयुक्त रूप से, मनस्वी आधुनिकतावादियों तथा मेंडलीन अलब्राइट जैसों के द्वारा घोषणा की जाती है। राष्ट्र-राज्यों का पुनर्गठन सम्बन्धित उन राज्यों की भौगोलिक सीमाओं के अन्दर साझी नागरिकता अथवा मेहनतकश मानवता के सामूहिक हित को सुनिश्चित करने वाली क्रियाविधियों के संयुक्त प्रोजेक्टों के रूप में नहीं, बल्कि नृजातीय अस्मिताओं के विभेदक प्रोजेक्टों के रूप में लिया जा रहा है। समानता का स्थान अब अस्मिता ने ले लिया है। अन्त में नये साम्राज्यवाद द्वारा वैश्विक स्तर पर किये गये तीव्र वर्गीय ध्रुवीकरण का अर्थ यह है कि उच्चतम तबके के अधिकार में वैश्विक नागरिकता जैसी कोई चीज है, जिसमें यात्रा या निवास की कोई बाधा नहीं है अथवा सामूहिक उपयोग के पैटर्न और शैक्षणिक सुविधाएं हैं—भले ही इस स्तर का कोई खास सदस्य दिल्ली, साओ पाओलो, टोक्यो, फैंकफर्ट, न्यूयार्क, बल्कि बीजिंग तक में रहे, जबकि उन्हीं शहरों में बाड़ों, झुग्गियों, चालों और यकीनन विशाल ग्रामीण भीतरी क्षेत्रों में बहुत बड़ी संख्या में रहने वाले इस धरती के बदकिस्मत लोगों को अब बुनियादी हकदारियों से अधिकाधिक वंचित किया जा रहा है; अब न्यूयार्क, लंदन, पेरिस जैसे साम्राज्यवादी प्रभुत्व के लगभग सभी बड़े शहरों में तीसरी दुनिया के महत्त्वपूर्ण द्वीप हैं। तृतीय विश्व के शहर और भी क्रूर हैं। मसलन शंघाई जैसे शहर में एक बढ़ती हुई संख्या में किसान हैं—उस शहर में उनकी संख्या कई लाख हो चुकी है—जो भीतरी क्षेत्रों से भागे हुए हैं, पर उनके पास कहीं भी रहने की सरकारी अनुमति नहीं है। ये लोग सरकारी आँकड़ों में लगातार छिपकर और अ-व्यक्ति (नॉन पर्सन) की तरह रह रहे हैं।

बारहवीं पूर्व-शर्त यह है कि भूमंडलीकरण की विचारधारा ने पूँजीवादी सार्विकीकरण के समक्ष राष्ट्र-राज्य और उसकी तथाकथित समाप्ति के प्रश्न पर बहुत बकवास पैदा की है। असलियत में, राष्ट्र-राज्य रूप-विधान जीवित और फलता-फूलता लग रहा है। अमरीका के पास एक सैन्य प्रतिष्ठान है, जो गहराई तक राष्ट्रीय—उद्धत राष्ट्रवाद की भाषा में 'राष्ट्रवादी' हैं। यूरोपीय यूनियन के सबसे ताकतवर सदस्य जर्मनी ने अभी-अभी पूर्वी क्षेत्रों को लगभग उपनिवेश बनाकर अपने राष्ट्रीय सुदृढ़ीकरण को हासिल किया है। तथाकथित 'पूर्वी एशियाई टाइगर्स' का दर्शनीय विकास जबर्दस्त सरकारी हस्तक्षेप के बिना असम्भव था। दुनिया भर में नव-उदारवादी निजीकरण की नीतियां अलग-अलग राष्ट्र-राज्यों द्वारा ही कार्यान्वित की जाती हैं। पूँजी कोई अवरोध नहीं चाहती है, लेकिन श्रम कानून हमेशा राष्ट्रीय होते हैं; मैक्सिन मजदूर से मैक्सिको में और दूसरी ओर कैलिफोर्निया में पूछ कर देखिए—खाड़ी राज्यों में

भारतीय मजदूरों की चर्चा करना बेकार है। भूमंडलीकरण एक ऐसा राष्ट्रराज्य चाहता है जो श्रम के सम्बन्ध में तो कमजोर हो, पर पूँजी के पक्ष में सख्त हो।

अन्त में, संस्कृति का भारी पुनर्गठन। यहाँ केन्द्रीय तथ्य यह है कि हम एक विश्वव्यापी पूँजीवादी सभ्यता का उदय देख रहे हैं, जिसमें राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय संस्कृतियों को, उसी एकमात्र सभ्यता के कई रूप भेदों के रूप में पुनर्गठित किया जा रहा है। सबसे गहरे स्तर, जिंसीकरण के स्तर पर, सभ्यतागत समागता विद्यमान है, लेकिन द्वितीयक वास्तविकता के स्तर पर अर्थात् जिंस के प्रतीयमान फिनौमिनल रूप में हर तरह के भेदों को बनाए रखा जाता है, प्रोत्साहित किया जाता है, बल्कि गढ़ा जाता है, क्योंकि विविधता के बिना स्वतंत्रता और चयन के भ्रम को कायम नहीं रखा जा सकता, जो कि बाजार का असली सार है। यही कारण है कि मिसाल के लिए वैश्विक बाजार में नृजातीयता आधुनिक फैशन डिजाइन का एक इतना बड़ा घटक है; तो राष्ट्रीय बाजारों में भी है, जिन्हें बहुद्देशीय बाजारों की शक्ल में पुनर्व्यवस्थित किया गया है।

फ्रेडरिक एंगेल्स ने एक बार बड़े आशावादी ढंग से लिखा था कि ''संस्कृति के क्षेत्र में एक कदम मुक्ति की ओर एक कदम है।'' लगता है, उस भलेमानुष को इस बात का पूर्वानुमान नहीं था कि पूँजीवाद का अनिवार्य सांस्कृतिक प्रोजेक्ट यह था कि जिंस उत्पादन की हर अ-मुक्ति (अनफ्रीडम) को बाजार में व्यवहार में लाई जानेवाली स्वतंत्रता के रूप में पैक किया जाए, बेशक उन लोगों के लिए जिनके पास पैसा है और भौतिक जीवन की अ-मुक्ति की सांस्कृतिक भिन्नता के रूप में पैक किया जाए। वाल्टर बैंजामिन शायद सच्चाई के करीब था, जब उसने कहा था कि सभ्यता का हर दस्तावेज साथ ही साथ बर्बरता का भी एक दस्तावेज है। 'सभ्यता' से उसका आशय बेशक पूँजीवादी सभ्यता से था, जिसमें सौंदर्यीकरण एस्टेटाइजेशन की क्रियाएं मुद्रीकरण मोनीटाइजेशन की क्रियाओं के साथ-साथ चलती हैं ताकि हमारे सामने उपयोग मूल्य अपने दूसरे शैतानी रूप यानी विनिमय मूल्य के साथ गुँथे हुए रूप के अलावा अन्य किसी रूप में नहीं आ सकें।

इस टिप्पणी के साथ मुझे भूमंडलीकरण के विषय से, जिसको मुझे इतना विस्तार नहीं देना था, छुट्टी दीजिए ताकि मैं 'संस्कृति' के मामले पर आ सकूँ, जिसके बारे में आपमें से कुछ लोगों को भ्रम है कि मुझे इस पर यदि विशेषज्ञता हासिल नहीं भी हो तो किसी किस्म की जानकारी अवश्य है। मैं अक्सर चक्कर में पड़ जाता हूँ कि पूँजीवाद के इस भूमंडलीकरण के युग में 'संस्कृति' शब्द का अर्थ क्या हो सकता है, जब कृषि उत्पादन और गुजारे की अर्थव्यवस्थाओं 'सब्सिटेंस' इकॉनमीज के हर पहलू को मूल्य के एक अकेले वैश्विक कानून के तहत लाया जा रहा हो, भले ही इस कानून को विशेष राष्ट्र-राज्यों में अलग-अलग ढंग से लागू किया जा रहा हो। समीर अमीन के शब्दों में सबसे गहरे स्तर पर लगता है कि संस्कृति वह क्षेत्र है, जहाँ उपयोग मूल्यों को विनिमय मूल्यों की मध्यस्थता के बिना सहकारी ढंग

से तथा बिना किसी जोर-जबरदस्ती के, आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए, जिनमें स्पष्टतः सौन्दर्यात्मक आवश्यकताएं भी शामिल हैं, उत्पादित किया जाता है तथा उनमें भागीदारी की जाती है। इस बुनियादी अर्थ में ऐसा लगता है कि सांस्कृतिक उत्पादन, जिंस उत्पादन का विपरीत है और पूँजीवाद की पूर्णता अपने-आप में संस्कृति का नकार होगी। मेरे विचार से हमारा यही अर्थ हाता है जब हम तमाम दुनिया के देशज लोगों या भारत के दरिद्रतम किसान समुदायों के अधिकारों, सांस्कृतिक अधिकारों सहित का बचाव करते हैं। ये वे लोग हैं, जिनका पूँजीवाद में एकीकरण सबसे कम पर उत्पीड़न सबसे अधिक हुआ है, क्योंकि उनके सामाजिक और सांस्कृतिक रूप (बल्कि उनकी भौतिक उत्पादन की प्रक्रियाएं भी) पूँजीवाद के लिए आवश्यक संचय की अनिवार्यताओं तथा व्यक्तीयन (इंडिविजुएशन) के प्रतिमानों के बहुत कम अनुरूप हैं, खासकर इसकी वैश्वीकृत अवस्था में जबकि राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय बुर्जुआजियों के अलावा राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय नौकरशाहियों के एक अनूठे संयोजन ने हमारे पेड़ों और नदियों तक के बारे में नाजुक फैसले लेने का अधिकार अपने स्वयं के लिए सुरक्षित कर लिया है तो, इस पूँजीवादी सार्विकीकरण के नये युग में 'संस्कृति' शब्द के असली अर्थ को अपेक्षाकृत अलग ढंग से समझना होगा।

संस्कृत की इस परिभाषा में, जिसे मैंने समीर अमीन से लिया है और जिसमें अपने प्रयोजन के लिए मैंने कुछ हेरफेर किया है, एक अर्थ है, बल्कि एक गहरा अर्थ है : कला का कोई कार्य जब विनिमय, बाजार की कीमतों, विज्ञापनों आदि के चक्करों में पड़ जाता है तो इसका सौंदर्यपरक सुख और उपयोग-मूल्य की शुद्धता अनिवार्यतः कम हो जाती है या रूपान्तरित तो हो ही जाती है; और जब सामाजिक विशिष्टता तथा विशेषधिकार प्राप्त करने के उद्देश्य से इसको संचित किया जाता है, तो खुद संस्कृति एक प्रकार की पूँजी का काम करना शुरू कर देती है, लेकिन तुरन्त यह बात जोड़ना जरूरी है कि नवीनतम अवस्था सहित अपनी सभी अवस्थाओं में संस्कृति के सम्बन्ध में पूँजीवाद की भूमिका वही होती है, जो अनेकानेक अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में होती है : उत्पादन के साधनों में सुधार कर वह सम्भावना के क्षेत्र को अत्यधिक बढ़ा देता है, लेकिन फिर उत्पादन और विनिमय के इसके स्वयं के सामाजिक सम्बन्ध इनके द्वारा खोली गयी सम्भावना की जड़ काटते हैं। मिसाल के लिए विकास की एक पारम्भिक अवस्था में पूँजीवाद ने सांस्कृतिक मालों के लिए एक बाजार पैदा किया और इस प्रकार की एक बड़ी संख्या में कलाकारों को अभिजात-वर्गीय संरक्षण से मुक्त कर दिया, इस प्रकार दस्तकारी उत्पादन के अलावा कला के लिए स्वायत्त क्षेत्र की सम्भावना को बढ़ा दिया; लेकिन फिर इसमें अपने क्षेत्र में आने वाले हर कला-उत्पादन को एक बिकाऊ माल में बदल कर उन्हीं कलाकारों को उसी बाजार का कैदी बना दिया। इस प्रक्रिया में बाजार की अपूर्णताओं ने कला और संस्कृति के क्षेत्र को स्थानीय और राष्ट्रीय में बाँट दिया। स्थानीय ऐसा क्षेत्र बना, जहाँ बाजार की पकड़ या तो थी ही नहीं या बहुत सीमित थी, जबकि

राष्ट्रीय ऐसा क्षेत्र बना जिस पर बाजार ने छा जाने की कोशिश की। तो इसकी हाल की अवस्थाओं में, ठीक वैश्वीकरण तक हुआ यह है कि स्थानीय भी अधिकाधिक बाजार के प्रमुख में आता गया है और स्वायत्त बाजार के प्रभुत्व में आता गया है और स्वायत्त क्षेत्र सीमित होते गये हैं।

मिसाल के लिए स्वतंत्रता के बाद तृतीय विश्व के लगभग हर देश में सरकार-समर्पित क्षेत्र के रूप में दस्तकारी के संगठन को देखिए। यह सरकारी समर्थन और क्षुद्र माल उत्पादन का एक विचित्र मिश्रण था, जो ग्रामीण प्रामाणिकता को शहरी ड्राइंगरूम में लाया, जो फिर व्यक्ति रूप में यात्रियों के पर्यटन से अधिकाधिक जुड़ता चला गया और अन्ततः वैश्वीकृत नियति बाजार से जुड़ गया। एनजीओ गतिविधियों के कुछ क्षेत्रों में जानते हुए या अनजाने में एक अनोखी साझेदारी विकसित हुई। कुछ एनजीओ ने साम्राज्य की नैतिक अर्थव्यवस्था को संगठित करने में सहायता की, जहाँ मानव अधिकार जैसे मुद्दों का इस्तेमाल राष्ट्र-राज्य को, जो काफी क्रूर और अवैध था, न केवल अनुचित ठहराने के लिए, बल्कि बहुराष्ट्रीय एजेंसियों, यहाँ तक कि साम्राज्यवादी राज्यों को भी उन मानव अधिकारों के संरक्षक के रूप में नियुक्त करने के लिए किया गया।

एक समानान्तर कार्रवाई में क्षुद्र उत्पादन का एक अर्ध-सौन्दर्यपरक, अर्ध-सांस्कृतिक क्षेत्र गठित किया गया, जहाँ समाज के कुछ सबसे ज्यादा उत्पीड़ित तबकों—मसलन किसानों और आदिवासी महिलाओं को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूप से विशिष्ट वर्ग के उपभोग हेतु उत्पादन के लिए लामबन्द किया गया। यहाँ मैं नीयत का मुद्दा नहीं उठा रहा हूँ, क्योंकि नीयतें तो अक्सर प्रशंसनीय थीं; यह सब उस चीज के लिए किया गया, जिसे 'सशक्तीकरण', ज्यादातर महिलाओं का सशक्तीकरण कहा गया। यहाँ मेरी दिलचस्पी इस बात में ज्यादा है कि बाजार की ताकत किस प्रकार इस किस्म के प्रोजेक्टों को अपने स्वयं के विस्तार के लिए शामिल कर लेती है और किस प्रकार के नेक-नीयत लोगों का कुशलतापूर्वक अपने नैतिक एजेंटों ओर सांस्कृतिक प्रतिनिधियों के तौर पर इस्तेमाल करती है और, मेरी दिलचस्पी स्वयं 'यथार्थ' की अन्तर्विरोधी संरचना में है, जिसमें सशक्तीकरण के वे प्रोजेक्ट्स जो बाजार अर्थव्यवस्था के अन्दर काम करते हैं, अक्सर वैश्वीकरण के दूसरे चेहरे निकलते हैं।

जो भी हो, एक मार्क्सवादी को संस्कृति की उस दृष्टि पर विचार करना ही होगा, जो इसे एक ऐसा क्षेत्र मानती है, जिसमें उपयोग मूल्यों को स्वेच्छा से उत्पन्न किया जाता है और उनके विनिमय—मूल्य की मध्यस्थता के बगैर, सौन्दर्यपरक आवयकताओं सहित सामूहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए सहभागिता की जाती है। हालाँकि सैद्धान्तिक अमूर्तन के एक निचले स्तर पर संस्कृति के मुद्दे को अन्य परिभाषाओं के माध्यम से भी, जो अनिवार्यतः मानवतावादी तथा समाजशास्त्रीय हैं, सम्बोधित किया जा सकता है। ऐसी तीन परिभाषाएं मेरा ध्यान खींचती हैं : सौंदर्यपरकता और बौद्धिकता के एक क्षेत्र के रूप में संस्कृति; 'जीवन के एक समग्र

ढंग' के रूप में संस्कृति; और एक अधिक भौतिकवादी दृष्टि से, सम्प्रेषण के उन साधनों और व्यवहारों के योगफल के रूप में संस्कृति, जिनके द्वारा अभिप्रायों और मूल्यों का उत्पादन और विकीर्णन किया जाता है।

इन तीनों में से 'जीवन के एक समग्र ढंग' के रूप में संस्कृति की परिभाषा शायद सबसे ज्यादा आम है, जिस पर सर्वाधिक सहमति है और यही वह अवधारणा है, जिसमें से 'राष्ट्रीय संस्कृति', 'भारतीय संस्कृति', 'हिन्दू संस्कृति' आदि के विचारों को व्युत्पन्न किया गया है। मुझे लगता है कि एक ऐसा समाज, जो शक्ति और शक्तिहीनता की श्रेणियों में आधारभूत ढंग से विभाजित हो, चाहे वे शक्तियां वर्गीय हों, या स्त्री पर पुरुष का आधिपत्य हो या धार्मिक आस्था के समुदाय के अन्दर शक्ति की संरचनाएं हों—एक ऐसा समाज जो इतने आधारभूत विरोधों से विदीर्ण हो, किसी एक अकेली संस्कृति से सहभागी नहीं हो सकता। ऐसे उदाहरणों में संस्कृति 'राष्ट्रीय मनीषा' नेशनल स्पिरिट के प्रकटीकरण का काम नहीं करती है, बल्कि संघर्ष और कलह का मैदान होती है। आस्था के समुदायों पर भी वही बात लागू होती है, जिन्हें प्रभावी विमर्शों में प्रायः एकीकृत सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। एक जातिग्रस्त समाज की एक एकीकृत संस्कृति होना न केवल असम्भव है, बल्कि ब्राह्मणवाद और इसके विरोध में उत्पन्न तमाम असहमतियों, जिनमें ईश्वरवादी असहमति भी शामिल है, का इतिहास एक अकेली इन्द्रियातीत धार्मिक संस्कृति के हमारे भ्रम को दूर कर देगा।

संस्कृति की राष्ट्र धर्म से पहचान करना मुझे कुछ ज्यादा ही सीधा और गलत लगता है। ऐसे सभी मामलों में जो चीज हम पाते हैं, वह कोई एकीकृत संस्कृति नहीं है, कोई विविधता में एकता नहीं है, जैसा कि वह सौम्य मुहावरा बतलाता है, बल्कि आपस में संघर्षरत विविध प्रकार की संस्कृतियां हैं। न ही संस्कृति कोई स्थिर, पार-ऐतिहासिक कोटि है, जैसा कि संस्कृति की अधिकांश सौंदर्यशास्त्रीय धारणाएं इसे रोमानी ढंग देने की प्रवृत्ति रखती हैं। कम से कम आधुनिक विश्व में सांस्कृतिक व्यवहारों में जो चीज परिवर्तित नहीं होती, वह है स्वयं परिवर्तन का सिद्धान्त और प्रक्रिया। अन्त में संस्कृति हमेशा ही स्वतन्त्रता, आत्मविकास और सामुदायिक सहभागिता आदि का ही क्षेत्र नहीं होती। संस्कृति जिसमें पारम्परिक संस्कृति भी शामिल है, उतनी ही बार परतन्त्रता और फँसाव का क्षेत्र भी होती है, जैसा कि खास-खास समुदायों के कितने ही उत्पीड़ित सदस्य आपको बता सकते हैं।

इन कुछ नकारात्मक परिभाषाओं का परीक्षण मैं सिर्फ एक जाहिर-सी बात को कहने के लिए करना चाहता था कि असली सवाल हमेशा नहीं होता है; किसकी संस्कृति? और वैश्वीकरण के सम्बन्ध में सवाल है; राष्ट्र के अंदर किसकी संस्कृति को यह पूरी तरह नष्ट करता है और किसकी संस्कृति का यह वैचारिक रूप से समर्थन करता है तथा भौतिक रूप से उसे सुदृढ़ करता है। ऐसा यह इलेक्ट्रानिक साधनों, दूरसंचार के साधनों, निवेश योग्य पूँजी के सकेन्द्रण आदि तमाम तरह के साधनों

से करता है, जिन्हें वह कुछ सांस्कृतिक व्यवहारों के लिए सुलभ कराता है और कुछ अन्य को इनसे वंचित कर देता है। जब मैं भारत में वैश्वीकृत पूँजी के सांस्कृतिक हस्तक्षेप का विरोध करता हूँ तो मैं पारम्परिक किस्म की राष्ट्रीय उद्धतता के जाल में नहीं फँसना चाहता। मैं वैश्वीकरण की संस्कृति का विरोध एक भारतीय, एक हिन्दू, एक मुस्लिम, एक तृतीय विश्व संस्कृति के नाम पर नहीं करता। मेरा स्वयं का विरोध इससे कहीं अधिक आधारभूत है। वैश्वीकरण की संस्कृति भारत में कुछ खास जीवन-पद्धतियों को नष्ट करती है और कुछ अन्य को प्रोत्साहित करती है; कुछ के हाथ में वह सांस्कृतिक युद्ध के अत्यन्त उन्नत साधन थमाती है और अन्य को उनसे वंचित करती है; यह एक ऐसे संघर्ष में क्रूरतापूर्वक हस्तक्षेप करती है, जो व्यक्तिगत रूपसे हमारा है; यह पहले से ही इस सम्भावना को समाप्त करने का प्रयास करती है कि हम राष्ट्र के अन्दर संघर्षरत लोग ही अपने तरीके से इन मुद्दों को तय कर लें।

मैं उस किस्म के राष्ट्रवाद से पूरी तरह असहमत हूँ जिसे मैं राष्ट्रीय संस्कृति के बचाव की एक प्रतिक्रान्तिकारी, देशजवादी धारणा मानता हूँ, क्योंकि इस किस्म की रक्षात्मकता यह मानकर चलती है कि जिसकी रक्षा की जानी है, वह एक ऐसी राष्ट्रीय संस्कृति है, जो पहले से मौजूद है। इसके बजाय जिसकी हम रक्षा करना चाहते हैं, वे हैं वैश्वीकरण के शिकारों की संस्कृतियाँ। और हम वैश्वीकरण का सामना करते हुए हमारी अपनी जनता की जरूरतों और अपेक्षाओं के अनुसार अपने राष्ट्र के और इसलिए हमारी अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण के अधिकार की रक्षा करना चाहते हैं। इस परिभाषा में संस्कृति कोई ऐसी चीज नहीं है, जो विरासत में मिली है या जिसे पहले से हासिल किया जा चुका है, यह एक ऐसा क्षितिज है जहाँ अभी पहुँचना है और एक ऐसा क्षितिज है जो तब तक हमसे दूर हटता रहेगा, जब तक हम सामूहिक रूप से, सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक जनवादी माँगों में से सबसे आधारभूत माँग को पूरा नहीं कर देते—'जनवादी माँग' मुहावरे के विद्रोही अर्थ में और, इसी सबसे आधारभूत अर्थ में वैश्वीकरण एक ऐसी पहले से ही रोकथाम करने वाली प्रतिक्रान्ति है जो स्वयं को स्थायी बनाने की कोशिश करती है।

मुझे संस्कृति की एक अधिक विनम्र और अधिक भौतिकवादी परिभाषा की ओर लौटने की अनुमति दीजिए, जिसके अनुसार यह उन साधनों और व्यवहारों का योगफल होती है, जो मूल्यों और अर्थों को उत्पन्न करते है। यह परिभाषा मुझे पसन्द है, क्योंकि अर्थ की 'उत्पत्ति' का विचार 'संस्कृति' के विचार को अतीत की ओर नहीं, बल्कि भविष्य की ओर अभिमुख करता है; केवल विरासत प्राप्त करने का नहीं बल्कि निर्माण करने का आयाम भी देता है और एक ऐसे सामूहिक स्वामित्व का विचार प्रदान करता है जिसको लेकर समाज के अन्दर भिन्न-भिन्न शक्तियाँ संघर्षरत हैं। साधनों और व्यवहारों के योगफल की इसकी परिभाषा संस्कृति को 'अनुभूति की संरचनाएँ' जैसे मुहावरों में निहित सारी रहस्यात्मकता के परे खुद की अपनी

एक भौतिकता देती है; व्यक्ति जो 'करता' है, वही संस्कृति है। और यदि संस्कृति परस्पर संघर्षरत पक्षों के व्यवहारों के योगफल की अन्तर्विरोधी समग्रता है तो निस्संदेह ऐसे सांस्कृतिक व्यवहार तो रहेंगे ही जिन्हें हिंसा और प्रभुत्व द्वारा गहरे संकट में डाल दिया जाता है, लेकिन दूसरे क्षण भी हमेशा रहेंगे, जो विद्रोही सांस्कृतिक व्यवहारों के ऐसे क्षण होंगे, जो असम्भव की कल्पना करते रहेंगे और इस प्रकार भविष्य की आशा को कायम रखेंगे।

भविष्य की ओर इसी अभिमुखीकरण, इसी संकल्प और असम्भव की कल्पना करने की सामर्थ्य को वैश्वीकरण की संस्कृति घातक रूप से क्षति पहुँचाने का प्रयास करती है। कैसे? इस दूसरे प्रकार की संस्कृति के, जो खुद भी मूल्य और अर्थ उत्पन्न करती है, कौन से अधिक महत्त्वपूर्ण पहल हैं? मैं इसके कुछ बुनियादी लक्षणों पर पहले ही बोल चुका हूँ। मैं शीघ्रतापूर्वक इसके कुछ दूसरे लक्षणों पर जोर दूँगा और चूँकि मैं विशिष्ट श्रोताओं के सामने बोल रहा हूँ, इसलिए एकाधिकार आदि के विवरण को छोड़ दूँगा।

सबसे पहले आक्रामक पहुँच। इस पहुँच को समझने के लिए हमें केवल एक औपनिवेशिक कक्षा को याद करना होगा, जो राष्ट्र के बच्चों के एक छोटे से प्रातिनिधिक समूह तक पहुँचती थी। उपनिवेशवाद की विचारधारा ज्यादा अप्रत्यक्ष ढंग से मानो पाठ्य पुस्तकों की आड़ में वितरित की जाती थी। बच्चे उन कक्षाओं में अपेक्षाकृत कम ही घंटे और दिन बिताते थे और अपने घरों को, जो वैयक्तिक रूप से कक्षाओं से असम्बद्ध ही थे, लौट जाते थे। इस कवायद से गुजरने वाली भारत की आबादी की संख्या शायद दस फीसदी से ज्यादा नहीं होगी; बाकी लोग अप्रत्यक्ष और अपूर्ण रूप से इनके प्रभाव में लाए जाते थे। इसके विपरीत वैश्वीकरण की संस्कृति सिर्फ कक्षाओं के माध्यम से ही नहीं आती है जिनमें आबादी का एक बड़ा अनुपात शामिल होता है, बल्कि अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से, निश्चित रूप से मध्यवर्ग के लिए, टेलीविजन जैसे उपकरणों और बाजारू संगीत के माध्यम से दैनिक आधार पर घरों में पहुँच रही है। घरों पर इस आक्रमण की तीव्रता न केवल विचार प्रक्रिया की, बल्कि जीने की मूल्य प्रणालियों, उपभोग के प्रतिमानों, यहाँ तक कि प्रेम और कामभावना जैसी मानवीय इच्छाओं को भी बदल देती है। यह कहा जा सकता है कि जबकि पारम्परिक अर्थ में साक्षरता औपनिवेशिक युग की अपेक्षा जयादा व्यापक रूप से फैली है, इलेक्ट्रानिक साक्षरता आज के भारत में और भी अधिक व्यापक पैमाने पर फैली हैं और जीने की संस्कृति को स्थानान्तरित करने के लिए पढ़ने-लिखने की साधारण साक्षरता की तुलना में बहुत अधिक सक्रिय है। इन प्रक्रियाओं का सीधा प्रभाव समृद्ध वर्गों पर निस्संदेह सबसे ज्यादा है, पर वे वर्ग ही अपने द्वारा शासित वर्गों की संस्कृति को आकार देने में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। न ही कहीं कोई चीन की दीवार है जो मजदूर वर्गों को धनवानों की मीडिया प्रसारित जिन्दगी से अलग करती हो; असल में इलेक्ट्रानिकों द्वारा छलयोजित संस्कृति की उन लोगों तक भी मजबूत पहुँच

है जिनके पास वे उपकरण नहीं हैं, क्योंकि मिसाल के लिए, गरीब परिवारों द्वारा टी. वी. और वी.सी.आर. किराये पर लाना और उस संस्कृति में निष्क्रिय, कल्पना-विहारी उपभोक्ता के रूप में भागीदारी करना रोजमर्रा की बात है।

फिर सांस्कृतिक रूपों में वैश्वीकरण है। सामूहिक संस्कृति और सार्वजनिक मनोरंजन की संस्थाओं का भी, जिनकी मजदूर वर्गों के मोहल्लों और देहातों में पहले की अपेक्षा आज ज्यादा गहरी पहुँच है, प्रभावशाली अमेरिका मीडिया के साथ वैचारिक, राजनीतिक, सौन्दर्यबोधी और अभिव्यंजक रूप में बहुत अधिक एकीकरण हो चुका है। यह बात अपने-आप से ही स्पष्ट है कि किस प्रकार नव-उदारवाद के आक्रमण के साथ विदेशी मीडिया ने भारत में भी, जहाँ एक दशक पहले यह बात अकल्पनीय थी, टी.वी. चैनल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। टी.वी. देखने का हर सत्र, जिसका समूचा भारतीय मध्यवर्ग आदी हो चुका है, कुछ खास किस्मों की विचारधारा तथा सांस्कृतिक रुचि ग्रहण करने का स्टडी सर्कल बन जाता है और स्वयं का अमेरिकी टीनेजर की छवि में पुनर्निर्माण उन लोगों के बीच काल्पनिक वर्गीय गतिशीलता का एक व्यापक रूप बन जाता है, जिनकी स्थिति वर्गीय सोपानक्रम के तल में भौतिक रूप से अपरिवर्तित रहती है। सांस्कृतिक रूपों का यह वैश्वीकरण और गहरी इच्छाओं का पैटर्न खासतौर से विज्ञापनों, लोगों के प्रोत्साहन तथा इन सबके और मनोरंजन के अन्तर्सम्बन्धों द्वारा हासिल किया जाता है, जहाँ सांस्कृतिक उद्योगों के व्यक्तियों का खास उत्पादनों और उत्पादन चिन्हों के साथ गहरा तादात्म्य स्थापित किया जाता है। सचिन तेंदुलकर और शाहरुख खान पेप्सी के विक्रय में सामूहिक संस्कृति की परस्पर परिवर्तनशील प्रतिमाएँ बन जाते हैं। इस प्रक्रिया में अनुश्रुत बल्लेबाज सचिन किसी और की तरह खुद भी एक मनोरंजनकर्ता और विक्रेता बन जाता है, ठीक माइकल जॉर्डन की तरह जो अमेरिकिन बास्केट बाल का नायक और माल तथा मनोरंजन के रूप में खेलों की बिक्री का एक केन्द्रीय व्यक्तित्व है। फिर इनको विज्ञापन की खास छवियों के वैश्वीकरण से जोड़ा जाता है। कल जब मैं इडेन गार्डन में क्रिकेट देखने के लिए चैनल लगा रहा था तो मुझे काले बालों का एक झरना दिखाई दिया, जो मानो एक अलग ही तरह का इडेन था और मैंने सोचा कि यह 'हेड्स एंड शोल्डर्स' का वही परिचित विज्ञापन है, जिसे मैं कई बार भारतीय टी.वी. पर देख चुका हूँ। यह तो बाद में पता चला कि उसी शेम्पू का विज्ञापन मैं पाकिस्तानी टी. वी. पर देख रहा था, जहाँ चमकदार काले बालों की चाक्षुष छवि ठीक वही थी और अब इसके साथ आने वाली आवाज, चेहरा और शब्द बदले हुए थे। इस सांस्कृतिक वैश्विकवाद के अभियान का एक उद्देश्य भारतीय मध्यवर्गों को अमेरिकी जीवन के प्रतिमानों से सम्बद्ध करके उनमें नयी रुचियाँ पैदा करना और इस प्रकार उनमें वैश्विक सांस्कृतिक परिदृश्य पर आ पहुँचने का भाव पैदा करना है। मसलन, खेल चैनलों को ही लें, जो लगातार गॉल्फ और बेसबाल जैसी चीजों को दिखाते रहते हैं, जिनकी कुछ ही साल पहले केबल टेलीविजन के आगमन के पूर्व भारत में कोई उपस्थिति

नहीं थी; उद्देश्य यही लगता है कि इन विदेशी खेलों के लिए दर्शक वर्ग का निर्माण किया जाए। हालाँकि व्यापार और मनोरंजन के इस मिलन बिन्दु पर, जिसे संस्कृति का नाम दिया जाता है, विश्वीकृत इलैक्ट्रानिक, सांस्कृतिक रूप की प्रमुख चाल यह है कि यह एक बार में ही विशिष्ट वर्ग की संस्कृति के साथ-साथ जन संस्कृति को भी रूपान्तरित करना चाहता है। औपनिवेशिक सांस्कृतिक प्रोजेक्ट भारतीय शक्तिशाली वर्ग के उच्च स्तरों के साथ गहराई तक सम्बद्ध था, क्योंकि वे अपने सपनों के ऑक्सब्रिज अंग्रेज के और ज्यादा करीब पहुँचना तथा बाकी भारतीय समाज से दूर हटना चाहते थे; इस प्रकार अंग्रेज बनाने वाली औपनिवेशिक संस्कृति भारतीय समाज में अमीर और गरीब के बीच सांस्कृतिक अन्तराल को और बड़ा करने के उद्देश्य से गहराई तक जुड़ी थी। दूसरी ओर वैश्वीकरण करने वाले पूँजीवाद के सांस्कृतिक प्रोजेक्ट का एक अजीब समताकारक प्रभाव है, जहाँ अमेरिका खुद एक बढ़ते हुए निजीकरण से गुजर रहा है, जिसका फिर उन्नत के साथ-साथ पिछड़े हुए पूँजीवादी क्षेत्रों में सभी वर्गों को निर्यात कर दिया जाता है ताकि जिनको टेलीविजन सुलभ है, वे लोग और उनके प्रभाव में रहने वाले लोग, सभी उससे 'सुशिक्षा' ग्रहण कर सकें।

इस पहुँच के बरक्स वैश्वीकरण करने वाली औद्योगिकियों के अन्य क्षेत्रों, खासतौर से तीखी धार वाली प्रौद्योगिकियों अर्थात 'इंटरनेट' और 'वर्ल्ड वाइड वैब' के विशेषाधिकार का संकेन्द्रण है जो अवश्य विचारणीय है, क्योंकि इनके जनवादीकरण के प्रभावों के विषय में, जो सूचना को विश्वव्यापी स्तर पर भरपूर मात्रा में मुहैया कराती हैं, आजकल बहुत कुछ कहा जा रहा है। जैसा कि बिल गेट्स ने बड़े शानदार ढंग से कहा है, 'आभासीय' वास्तविकता यह है कि धरती पर जी रही आधी आबादी को अब भी अपना पहला टेलीफोन काल करना है और न्यूयार्क के मैनहटनद्वीप से पूरे अफ्रीका महाद्वीप से ज्यादा टेलीफोन लाइनें है। फिर आप यथार्थ वास्तविकता से आभासीय वास्तविकता की ओर कैसे यात्रा करते हैं? दुनिया की कोई 70 फीसदी आमदनी का दुनिया की 15 फीसदी आबादी द्वारा उत्पादन और उपभोग किया जाता है, जिससे सूचना मालों तक पहुँच की उचित तरीके से व्याख्या हो जाती है। उत्तरी अमेरिका और उत्तर-पश्चिमी यूरोप में दुनिया की 20 फीसदी से कम आबादी है, लेकिन यह दुनिया की 70 फीसदी आमदनी खा जाती है, और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उनके पास दुनिया के दो तिहाई टी.वी. और रेडियो सेट हैं।

उन्नत औद्योगिक देशों में भी इंटरनेट तक यथेष्ट पहुँच का अधिकार एक सापेक्ष वर्गीय विशेषाधिकार रहा है। शुरुआती कीमतों में अधिकाधिक परिष्कृत और शक्तिशाली उपकरण शामिल हैं, जिनकी कीमत कम से कम 2000 डालर है, जिन्हें कुछ सालों में बदलना या पर्याप्त रूप से उन्नत करना पड़ता है। इसमें कोई ताज्जुब नहीं है कि सर्वेक्षण इंटरनेट के नियमित इस्तेमाल और ऊँची आमदनियों में एक सापेक्षिक सह-सम्बन्ध दिखाते हैं। ब्रिटेन में ऐसे एक-तिहाई उपभोक्ताओं की सालाना

आमदनी 25000 पाऊंड है, जबकि अमेरिका और कनाडा में एक-तिहाई उपभोक्ताओं की सालाना आमदनी 80000 डालर से ज्यादा है।

यह कहना ठीक ही है कि इंटरनेट की आयु एक दशक से भी कम है और यह अच्छी तरह फैल चुका है; अगले दो दशकों में यह सम्भवतः दुनिया के दूर-दराज कोने में पहुँच को व्यापक बनाने के काम को अंजाम देंगे। दीर्घावधि के साथ अल्पावधि में इंटरनेट का अत्यधिक विस्तार होगा। यह बात मुझे साफ दिखाई देती है कि निकट भविष्य में हर व्यक्ति या अधिकांश व्यक्ति इससे जुड़े पाएंगे। पहली टेलीग्राफ लाइनें 1830 के दशक में बिछाई गयी थीं और लंदन तथा बंबई के बीच टेलीग्राफ लाइन 1865 में बिछा ली गयी थी; पश्चिम में सबसे पास और तीसरी दुनिया में औद्योगिक क्षेत्रों में शहरी मध्यवर्ग के बीच टेलीफोन होना एक पक्की सी बात है; लेकिन अधिकांश लोगों को अब भी कोई टेलीग्राफ नहीं मिला है और जैसा कि मैंने अभी कहा, आधी आबादी अब भी पहला टेलीफोन काल करने की प्रतीक्षा कर रही है।

इसकी सम्भावना कम ही कि निकट भविष्य में इंटरनेट एक अल्पसंख्यकीय और विशेषाधिकारप्राप्त वर्गों के सांस्कृतिक औजार के अलावा कुछ और हो सकेगा। विशेषज्ञ संस्कृति—वे लोग जिनके पास इसका इस्तेमाल करने के व्यक्तिगत या संस्थागत साधन हैं—इससे भरपूर फायदा उठाएगी। अनुसन्धान और अनुसन्धान के लाभों का सम्प्रेषण ज्यादा तेज और ज्यादा व्यापक होगा और सम्प्रेषण की सुगमता किसी भी प्रदत्त समय में विशेषज्ञों के एक अधिक बड़े समुदाय को सीधे सम्पर्क में लाएगी। सम्भावना है कि विशेषज्ञों का यह समुदाय ही इस पूरी प्रक्रिया का सूचना और पहुँच के अधिकाधिक जनवादीकरण के रूप में अनुभव करेगा। असलियत में विशेषज्ञ संस्कृति उससे कहीं अधिक मजबूती और विस्तार पाएगी, जितना प्रिंट टेक्नोलौजी ने दिया था, लेकिन कम से कम निकट भविष्य में विशेषज्ञ संस्कृति और गैर-विशेष संस्कृति के बीच का अन्तर बहुत अधिक बढ़ चुका होगा। दुनिया नियमित रूप से ई-मेल भेजने और प्राप्त करने वालों तथा ऐसा न करने वालों के बीच तेजी से बँटती जा रही है; नेट का अधिक विस्तृत उपयोग विशेषाधिकार प्राप्त लोगों की संख्या को और भी कम कर देता है। असल में, यदि आपके पास नेट है तो आप शिकागों में रहनेवाले किसी व्यक्ति के ज्यादा निकट और नियमित सम्पर्क में रह सकते हैं बजाय दिल्ली के किसी दूसरे सिरे पर रहने वाले ऐसे किसी व्यक्ति के जिसके पास टेलीफोन नहीं है।

जिस बात पर मैं जोर देना चाहता हूँ, वह है हर नयी प्रौद्योगिकी का परस्पर-विरोधी असर, क्योंकि संस्कृति और सम्प्रेषण के क्षेत्र में हर नयी प्रौद्योगिकी में एक मुक्तिदायक क्षमता होती है; यह श्रम के समय को कम कर सकती है और श्रम की प्रक्रिया का युक्तिकरण कर सकती है; यह सांस्कृतिक सम्प्रेषण के समुदाय का विस्तार कर सकती है और अधिक लोगों को आधुनिक सांस्कृतिक उत्पादन की परिधि के अन्दर ला सकती है; यह अनुभव और नवाचार के नये कार्यक्षेत्रों को खोल

सकती है। यही वजह है कि किसी व्यक्ति को कभी आधुनिकता-विरोधी जाल में फँसना नहीं चाहिए और अपने-आप में प्रौद्योगिकी का विरोध नहीं करना चाहिए। इसके बजाय जिनका लगातार विरोध करना चाहिए, वे हैं उत्पादन के स्वामित्व के सामाजिक सम्बन्ध जो हर मुक्तिदायी क्षमता को प्रभुत्व के एक औजार में बदल देते हैं।

अभी तक मैंने स्वयं को वैश्वीकरण के युग में भारत में आने वाले सम्प्रेषण के प्रमुख साधनों तक ही सीमित रखा है, पर संस्कृति के विषय में प्रमुख बात यह है कि यह जीवन के हर पक्ष में मौजूद है और इसे आर्थिक, राजनीतिक, सैन्य आदि क्षेत्रों से अलग नहीं किया जा सकता है। भारत में नव-उदारवाद के आगमन के साथ ही हमने समूची राजनीतिक संस्कृति को तेजी से भ्रष्ट होते देखा है। कम से कम अंग्रेजी के राष्ट्रीय दैनिक अखबारों में शायद ही कोई ऐसा अखबार बचा हो जो खबर को विज्ञापन से ज्यादा वरीयता देता हो; 1980 के दशक के अन्त तक *टाइम्स ऑफ इंडिया* एक गम्भीर अखबार था, लेकिन फिर यह अधिकाधिक एक ऐसा अर्ध-पोर्नोग्राफिक अखबार होता चला गया, जो विज्ञापनों के बीच की खाली जगहों को भरने के लिए समाचारों का इस्तेमाल करता है। इसे फिर दूसरे किस्म की पोर्नोग्राफी ताकत की पोर्नोग्राफी से जोड़ दिया जाता हैं जब साम्राज्यवादी आक्रामकता के सर्वाधिक बर्ब साधनों द्वारा इराक में जन-समूहों का बेरहमी से सफाया किया जा रहा था, भारतीय अखबार 'स्वचालित युद्धभूमि' में तैनात अमेरिकन हथियारों में छुपे हुए महान प्रौद्योगिकीय चमत्कारों की प्रशंसापूर्वक खबरें दे रहे थे। साथ-ही-साथ इन्हीं अखबारों ने स्वयं को विस्तृत प्रसार वाले ऐसे अमेरिकन दैनिकों के नमूने पर पुनर्गठित कर लिया है, जो तुच्छ बातों में विशेषज्ञता रखते हैं; यदि एक दिन कोई भारतीय सौन्दर्य-साम्राज्ञी मुखपृष्ठ घेरती हैं तो अगले दिन किसी अमेरिकन फिल्मी सितारे का तलाक मुखपृष्ठ की खबर बनता है।

ऐसे बहुत से मुद्दे हैं, पर हमारे पास उन सबको सम्बोधित करने का समय नहीं है, पर अन्त में मुझे यह कहने की इजाजत दीजिए कि वैश्वीकरण की संस्कृति सिर्फ एक बाहरी घुसपैठ ही नहीं है, बल्कि भारत के अन्दर समृद्ध वर्गों की जीवन प्रक्रियाओं से मानो सहज रूप से ही उत्पन्न होती है। यही वजह है कि इससे हमले और बचाव की शब्दावली में पेश नहीं आना चाहिए। यह याद करना उपयोगी होगा कि आधुनिक भारतीय समाज और संस्कृति में जो भी प्रगतिशील और मूल्यवान हैं, उसका अधिकांश प्रारम्भ में यूरोप से ही आया था : मार्क्सवाद और साम्यवाद, उदारवादी जनवाद, धर्मनिरपेक्षता, ट्रेड यूनियनें, छपाई की प्रौद्योगिकी, स्वतंत्र प्रेस, आधुनिक नागरिक तथा अपराध संहिताएँ और एक स्वतंत्र न्यायपालिका, इन सबकी उत्पत्ति यूरोप में हुई और इन सबको हमने अपने उद्देश्यों के लिए उसी तरह उपयोग किया है, जिस तरह हम रेलवे और फैक्टरी-निर्मित वस्तुओं का करते हैं। भारत के पूँजीवादी सार्विकीकरण के साथ एकीकरण का सबसे बुरा पहलू यह है कि यह पश्चिमी सभ्यता

और संस्कृति की सबसे बेहतरीन नहीं, बल्कि बदतरीन चीजें हमारे लिए ला रहा है; उन्नत पूँजीवादी पश्चिम की संस्कृतियों के सबसे अच्छे हिस्सों में दरअसल ऐसा बहुत कुछ है, जिसे हमें अपने उद्देश्यों के लिए अपनाने की जरूरत है। इस बीच, जो तथाकथित 'पश्चिमी हमले' के खिलाफ समय-समय पर भड़काऊ विरोध आयोजित करते हैं—मेरा तात्पर्य शिव सैनिकों, स्वदेशी जागरण मंच आदि से है—वे उन पार्टियों तथा सरकारों के राजनीतिक एजेंट भी हैं, जो भारतीय बाजारों को पश्चिमी वित्त के लिए खोलने और भारतीय कानूनों की अमेरिकी निवेशकों के अनुकूल बनाने के प्रति गहराई तक प्रतिबद्ध हैं। असल में वे महज प्रतीकात्मक प्रदर्शनों से आगे नहीं जा सकते, क्योंकि न केवल उनकी सरकार, बल्कि उनका मुख्य सामाजिक आधार भी, जो उच्चवर्गों, उच्च जातियों, महानगरीय व्यापारिक बुर्जुआजी, भगवाधारियों में है—उदारीकरण के सबसे बड़े पक्षधरों से बना है।

जब हम मुड़कर अपने इतिहास के पिछले पचास बरसों को देखते हैं तो हम एक बहुत महत्त्वपूर्ण विषमता देखते हैं। राष्ट्रीय बुर्जुआजी के वे हिस्से ही, जो गणतंत्र के प्रारंभिक वर्षों में धर्मनिरपेक्षता, आधुनिकता और भारतीय अर्थव्यवस्था के 'समाजवादी एवं नियोजित विकास' के सिद्धान्तों का अनुसरण करते रहे, ऐसे हिस्से भी थे, जो गुटनिरपेक्षता तथा स्वतंत्र विदेश नीति और देश के अन्दर एक प्रकार के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद-विरोध के प्रति प्रतिबद्ध थे। इसके विपरीत चरम दक्षिणपन्थ के वे प्रचारक ही, जो अब सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, असली भारतीय धर्म और परम्परा आदि के प्रवक्ता होने का दावा करते हैं, वे लोग भी हैं, जिन्होंने साम्राज्यवादी पूँजी के समक्ष सर्वाधिक व्यापक रूप से और तेजी से समर्पण किया है। यह बात साम्प्रदायिकता को एक बहुत विलक्षण किस्म की आक्रामकता प्रदान करती है। कहीं और मैं यह तर्क दे चुका हूँ कि भारत जैसे एक देश में, जिसके अतीत में साम्राज्यवाद विरोध की जबर्दस्त परम्पराएँ रही हैं और जो वर्तमान में साम्राज्यवादी प्रभुत्व का लक्ष्य है, राष्ट्रीय विचारधारा एक वस्तुगत आवश्यकता है और यदि प्रगतिशील शक्तियाँ इस राष्ट्रव्यापी धारा को साम्राज्यवाद विरोधी दिशाओं में ले जाने में असमर्थ रहती हैं, तो एक अधोगामी और प्रतिक्रियावादी ताकत निश्चित रूप से इस शून्य को भरने का प्रयास करेगी। आज आर. एस. एस. और इसके दोस्त सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की एक साम्प्रदायिक व्याख्या को प्रचारित करना चाहते हैं, क्योंकि उनमें साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवाद का व्यवहार करने का साहस नहीं है। प्रतीकात्मक का व्यवहार करने का साहस नहीं है। प्रतीकात्मक लड़ाइयाँ इस उम्मीद में लड़ी जाती हैं कि इस तरह लोगों को असली लड़ाइयों की ओर गाफिल रखा जा सकेगा। चूँकि वे अमेरिकी वर्ल्ड ट्रेड आर्गेनाइजेशन की, जो वास्तविक उत्पीड़क हैं, अवज्ञा नहीं कर सकते, वे केंट की फ्राइड चिकिन की दुकानों के विरुद्ध प्रतीकात्मक विरोध आयोजित करते रहेंगे, लेकिन साम्राज्यवाद के सामने समर्पण कर चुकने के बाद उनमें प्रतीकात्मक लड़ाइयों में भी डटे रहने की हिम्मत नहीं है, क्योंकि अमेरिकी नैगम पूँजी के किसी भी पक्ष पर वास्तविक हमला दूसरे

नैगम निवेशकों को भी डरा कर भगा सकता है। यही कारण है कि विदेशी हमले को भी अविवेकवादी और संस्कृतिवादी शब्दावली में लगातार पुनर्परिभाषित किया जाता है। अब यह कहा जाता है कि जिस चीज से भारत को खतरा है, वह वर्तमान का साम्राज्यवादी हमला नहीं है, बल्कि मध्यकाल का तथाकथित 'मुस्लिम' हमला है, विदेशी नैगम पूँजी नहीं, बल्कि 'विदेशी धर्म' खासकर इस्लाम और ईसाइयत हैं, ताकि मस्जिदों और चर्चों के—जो विदेशी धर्मों के बहुत जीवन्त प्रतीक हैं—विध्वंस को ठीक उसी समय राष्ट्रीय गौरव के उद्धार के कार्यों के रूप में प्रस्तुत किया जा सके, जब राष्ट्र की सार्वजनिक स्वामित्व की परिसम्पत्तियों को विदेशी निवेशकों और घरेलू पूँजीपतियों को समान रूप से कौड़ियों के मोल बेचा जा रहा है, तो संक्षेप में, हिन्दू जागरण मंच इसीलिए इतना आक्रामक है और साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रवाद की वास्तविक समस्याओं से ध्यान हटा रहा है, क्योंकि स्वदेशी जागरण मंच सरासर एक धोखाधड़ी है, जो किसी भी राष्ट्रीय परिसम्पत्ति को बचाने में अक्षम है।

अंग्रेजी से अनुवाद : ओमप्रकाश

❑

इस्माइल सिराजिल्दिन



दुनिया की गरीबी और भूख

आज का कालखंड विज्ञान का है। वर्तमान में जीवित तथा शोधरत वैज्ञानिकों की संख्या इतिहास में आज के पहले तक की उनकी कुल संख्या से अधिक है। विभिन्न समुदायों के पोर-पोर में विज्ञान रचा-बसा है। इतिहास के इस दौर में अतीत के किसी भी कालखंड की तुलना में अधिक लोगों की समझ विज्ञान द्वारा निर्धारित हो रही है। विज्ञान ने मानव कल्याण के क्षेत्र में विराट योगदान किया है। विज्ञान की असंख्य उपलब्धियों के कारण हम आज तृतीय विश्वक्रान्ति की ओर बढ़ रहे हैं, एक नया संसार–जो कभी भी इतना आशाजनक नहीं था, न ही इतना संकटपूर्ण।

महान विश्वक्रान्तियों में प्रथम क्रान्ति थी कृषि-क्रान्ति। इसके फलस्वरूप लोग छोटे-छोटे समुदायों में बसे और सभ्यताओं की शुरुआत हुई। नील तथा संसार की अन्य महान नदियों के तटों पर हमारे पूर्वजों ने संगठित समाज की नींव रखी और उन सूक्तियों की रचना की, जो आदमी को आजाद करती हैं। प्राचीन विश्व के अजूबे निर्मित हुए। आज भी किसानों के उत्पादन की बचत से ही नगरीय जीवन सम्भव हो पाता है।

द्वितीय महान क्रान्ति थी–'औद्योगिक-क्रान्ति'। यह उत्पादन की विधियों तथा उत्पादन के अन्तिम परिणाम के साथ मजदूरों के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी परिवर्तन की अग्रदूत थी। इसके प्रभाव में कारीगर मजदूर बन गया। उत्पादन और विशिष्टिकरण की नयी विधियों की बदौलत उत्पाद में भीषण बढोत्तरी हुई। इसके फलस्वरूप अगली

दो सदियों में मानवता के बड़े भाग के लिए काफी अधिक प्रगति का होना सम्भव हुआ।

तृतीय भूमण्डलीय क्रान्ति–विश्व तृतीय रूपान्तरण के दौर से गुजर रहा है। यह रूपान्तरण इतना गूढ़ है कि इसकी रूपरेखा का आभास भर ही हो पा रहा है। इसके महत्त्वपूर्ण परिणामों की कल्पना कर पाना काफी कठिन है। अब तक के सर्वाधिक शक्तिशाली कम्प्यूटर्स और सर्वाधिक वेग द्वारा चालित बीट्स और बाइट्स (bits and bytes) की डिजिटल भाषा शब्दों, संगीत, विम्बों और आंकड़ों के क्षेत्रों को एक दूसरे में समा जाने की क्षमता इस तरह दे रही है कि जैसा पहले कभी नहीं था। नए उद्योगों की सृष्टि हो रही है, पुराने लुप्त हो रहे हैं। मूसक की एक 'खट्' और एक एलेक्ट्रॉन की उड़ान से करोड़ों डॉलर भूमंडल के एक ओर से दूसरे छोर तक चले जाते हैं। इंटरनेट ने दूरी के अर्थ ही को क्रान्तिकारी ढंग से बदल दिया है। वर्तमान में इंटरनेट पर करीब दो अरब पन्ने हैं, जो सन 2005 तक बढ़कर करीब आठ अरब पन्ने हो जाएँगे। ये एकरूपता लाने वाली ताकतें होंगी या कि विविधता बढ़ाने वाली? इनका उपयोग कमजोर लोगों को कुचलने में होगा या उन्हें नये अवसर प्रदान करने में?

सूचना-विज्ञान से जीव-विज्ञान तक–क्रान्ति जारी है। हमने जीवन के डी. एन. ए. सांकेतिक भाषा का कूटानुवाद कर लिया है, हम जिन्स के नियोजन और अभिव्यक्ति का प्रबन्धन सीख रहे हैं। हम बैक्टिरिया को अपने उपयोग के लिए बहाल करने में लगे हुए हैं। हम जीवन के साँचे को तोड़मरोड़ रहे हैं। हमारी नयी क्षमताओं ने नये तथा गम्भीर नीतिगत और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्न उठाये हैं। पहली बार विज्ञान के स्वामित्व का प्रश्न भी हमारे भविष्य को उलझाए हुए है।

हमारे काल-खण्ड की विडम्बना–अपने युग की विडम्बना पर विचार किया जाए। हम प्रचुरता, चौंधियाने वाली वैज्ञानिक उपलब्धियों और तकनीकी आविष्कारों के युग में वास कर रहे हैं, फिर भी हम द्वन्द्व, हिंसा और त्रासद दरिद्रता के शिकार हैं। असुरक्षा का एहसास सर्वाधिक सम्पन्न समुदायों को भी आक्रान्त किए हुए है। राष्ट्र अन्तर्मुखी हो गये हैं। सम्पन्नों ने गरीबों की ओर पीठ फेर ली है। यद्यपि हमने नाभिकीय विभीषिका के खतरे को पीछे ढकेल दिया है, फिर भी भूमण्डलीकरण, परिवेश प्रदूषण, गरीबी और भूख जैसी समान स्तर की डरावनी तथा गम्भीर समस्याएँ सामने ललकार रही हैं।

दुनिया को बेहतर जगह बनाने के लिए बहुत कुछ किया गया है। बीसवीं सदी मुक्ति की सदी थी। उपनिवेश मुक्त किए गये, अनेकों महिलाओं को मताधिकार मिला, मानवता के आधार पर धार्मिक अल्पसंख्यक तथा असहमत लोगों के राजनैतिक और नागरिक अधिकारों को स्वीकृति मिली।

पिछले चालीस वर्षों में अनेक आर्थिक-सामाजिक सुधार हुए हैं। विकासशील देशों में विद्यालयों में नामांकन दुगुना हुआ है। शिशु मृत्युदर तथा वयस्क निरक्षरता आधी हुई है। आयु बीस वर्ष अधिक बढ़ गयी है। इन उपलब्धियों के बावजूद बहुत

कुछ करना शेष है। भूमण्डलीय विकास परियोजना हमसे प्रयास और एकजुटता की माँग करती है।

आज—1.2 अरब लोग, एक डॉलर प्रति दिन से कम पर गुजारा करते हैं।

—1 अरब लोगों को स्वच्छ जल उपलब्ध नहीं है।

—2 अरब से अधिक लोगों को पर्याप्त सफाई उपलब्ध नहीं है।

—1.3 अरब लोग, अधिकतर विकासशील देशों के महानगरों में, ऐसी हवा में साँस लेते हैं, जिसका मानक विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानक से नीचे है।

—70 करोड़ लोग, जिनमें अधिकतर औरतें और बच्चे शामिल हैं, घरों के अन्दर वायु-प्रदूषणजन्य रोगों से ग्रस्त है, इस वायु-प्रदूषण का कारण हैं जैव-पदार्थ जलाने वाले चूल्हे तथा यह 3 डिब्बे सिगरेट प्रतिदिन पीने के सम-तुल्य है।

—सैकड़ों-हजारों किसानों के लिए उस मिट्टी की उर्वरता बनाए रखना कठिन होता जा रहा है, जिससे वे किसी तरह अपना गुजर कर पाते हैं।

—अब समस्याओं के इस भंडार में हम नयी चुनौतियों का एक और ढेर जोड़ दे सकते हैं। मानव जनसंख्या में प्रतिवर्ष 8 करोड़ की वृद्धि हो रही है। यह वृद्धि मुख्यतः गरीब देशों में होती है। सम्पन्न देशों में नाटकीय रूप से अत्यधिक उपभोग और अपव्यय तथा गरीब देशों में जनसंख्या वृद्धि का दबाव, उन पारितन्त्रों पर भयानक दबाव डाल रहे हैं, जिन पर हम सब निर्भरशील हैं।

संसार का सामुद्रिक मत्स्य-भंडार अत्यधिक शोषण का शिकार है। मिट्टी का क्षय हो रहा है। पानी दुर्लभ होता जा रहा है। जंगलों का कटना जारी है। मरुभूमि का तेजी से विस्तार हो रहा है। जलवायु परिवर्तन तथा जैव-विविधता की भूमण्डलीय चुनौती का सामना करने के लिए हमें अपने प्रयासों को दुगुना करना ही होगा। संसार के अरबों भूखे लोगों को टिकाऊ खाद्य-सुरक्षा देने के लिए कृषि को रूपान्तरित करना ही होगा। नगरीय गरीबी और परिवेश दूषण की समस्याएँ अभूतपूर्व हैं, इन्हें अगली दो पीढ़ियों में विकासशील देशों की जनसंख्या में तीन गुनी वृद्धि होने के कारण और बढ़ना ही है। दुनिया के 47 न्यूनतम विकसित देशों में, विश्व जनसंख्या का 10 प्रतिशत भाग विश्व की आय के 0.5 पर निर्भरशील है। प्रायः 40,000 व्यक्ति प्रतिदिन क्षुधाजनित रोगों से मरते हैं। मानव समाज का छठा या इससे अधिक भाग हाशिये पर की जिन्दगी जी रहा है। इस स्थिति में ही हमारे सामने की चुनौती है। क्या हम मनुष्य की इस तरह की विकृति को अवश्यम्भावी समझकर स्वीकार कर लेंगे या हम कम भाग्यवान लोगों की सहायता करने का प्रयत्न करेंगे? क्या भविष्य की पीढ़ियों के प्रति अब हम कोई दायित्व स्वीकार नहीं करेंगे या हम पृथ्वी के सही प्रबन्धक की हैसियत से काम करने की कोशिश करेंगे? संसाधनों की कमी नहीं है उनको उपयोगी रूप में बदलने की इच्छाशक्ति का अभाव है। हकीकत तो यह है कि विश्व आज से पहले कभी इतना समृद्ध नहीं था तथा भविष्य और भी अधिक समृद्धि का संकेत दे रहा है।

गरीब और धनी के बीच बढ़ता हुआ अन्तर

यह अकल्पनीय है कि जिस विश्व में आदमी की सारी बुनियादी जरूरतें पूरी करने के संसाधन मौजूद हों, वहाँ करीब 80 करोड़ लोग भूखे रहते हों। उन्नीसवीं सदी में गुलामी के हालात देखकर कुछ लोगों ने कहा था कि यह नितान्त असंगत तथा घोर अनैतिक है और यह कि इसका अवश्य ही उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए। उन्हें उन्मूलनवादी कहा जाने लगा था। वे आर्थिक स्वार्थ से बहस नहीं करते थे नैतिक नृशंसता का एहसास उनकी सक्रियता का कारण हुआ करता था। आज की प्रचुरता के मध्य भूख की स्थिति समान रूप से असंगत और घोर अनैतिक है। हमें समान उत्साह और नृशंसता के साथ अपने उस प्रमाद पर आक्रमण करना चाहिए, जिसको रोज-रोज दसियों, सैंकड़ों, हजारों आदमियों की मौत से कोई फर्क नहीं पड़ता है।

अमरीकी जनता को सम्बोधित करते हुए अब्राहम लिंकन ने एक बार कहा था, "बँटा हुआ घर खड़ा नहीं रह सकता, कोई राष्ट्र आधा गुलाम, आधा आजाद रहकर जीवित नहीं रह सकता। आज मैं कहता हूँ, बँटी हुई दुनिया खड़ी नहीं रह सकती। मानवता आंशिक रूप से सम्पन्न और अधिकांश दरिद्र रहते हुए जीवित नहीं रह सकती।

हमारी अत्यधिक उत्पादकता, भूमण्डलीकरण, व्यापार के इंकार नहीं किए जा सकने लायक लाभ और सामाजिक सूचकों पर अंकित चमत्कारिक उपलब्धियों के बावजूद देशों के मध्य तथा एक ही देश के अन्दर असमानताओं में ऐसी वृद्धि हुई है, जो भयभीत कर दे।

विश्व जनसंख्या का 20 प्रतिशत विश्व की आय का 80 प्रतिशत व्यय करता है शेष 80 प्रतिशत का गुजारा 20 प्रतिशत पर होता है। तल(इवजजवउ) की ओर के 20 प्रतिशत लोग विश्व की आय के 1.3 प्रतिशत पर बसर करते हैं। अधिक महत्त्व की बात है कि यह असमानता बढ़ती जा रही है। एक पीढ़ी पहले, शीर्ष पर के 20 प्रतिशत लोग तल पर के 20 प्रतिशत की तुलना में तीस गुणा अधिक सम्पन्न थे। आज वे सत्तर गुण से अधिक धनी हैं, फिर भी वे अपनी आय का 0.3 अंश मानवता के 80 प्रतिशत गरीब लोगों के लिए नहीं निकाल सकते। इस ग्रह के सर्वाधिक धनी मात्र तीन व्यक्तियों के पास 47 दरिद्र देशों के संयुक्त सकल घरेलू आय से अधिक धन है। सर्वाधिक धनी 15 व्यक्तियों के पास उप-सहारा अफ्रीका के 55 करोड़ लोगों की संयुक्त सकल घरेलू आय से अधिक धन है। अगर हम वास्तव में जानकारियों पर आधारित समाज की ओर बढ़ रहे हैं, तो तो संयोजकता, तथा मानवीय पूँजी और उसके परियोजन की प्रस्तुति ही कुंजी होगी, जिसके जरिए गरीब देशों को अपनी स्थिति में सुधार करने के योग्य बनाया जा सकेगा। सम्पन्न उत्तरी गोलादूर्ध और दरिद्र दक्षिणी गोलादूर्ध के बीच वैज्ञानिकों तथा इंजीनियरों के उत्पादन और उपलब्धता में बहुत बड़ा अन्तर है। संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान में प्रति

10,000 की जनसंख्या पर करीब 70 शोधकर्ता और अभियन्ता हैं। चीन में 10 तथा अफ्रीका के गरीब देशों में एक से कम। सन् 2000 में उच्च आय वाले देशों में प्रति हजार पर 567 टेलिफोन लाइन थी, जबकि मध्य तथा निम्न-आय वाले देशों में यह संख्या क्रमशः रु. 145 और 37 थी। सहस्राब्दी की समाप्ति पर परसनल कम्प्युटरों की संख्या प्रति 10, 000 व्यक्तियों पर उच्च, मध्यम और निम्न-आय वाले देशों में क्रमशः रु. 1,800, 230, और केवल एक थी। 88 इण्टरनेट संयोजन धनी देशों में सीमित हैं, हालाँकि विश्व जनसंख्या का मात्र 15% ही इन देशों में रहता है।

भविष्य आशा का आश्वासन देता प्रतीत नहीं होता। सन् 1980 में निम्न, मध्यम और उच्च आय वाले देशों में तृतीयक विद्यालयीय नामांकन के मान क्रमशः रु. 4, 11 और 34 थे, सन् 1996 तक ये आंकड़े 5, 15 और 58 हुए। कुछ अपवाद हैं। जैसे कि कोरिया गणराज्य तथा सिंगापुर उच्च आय सांख्यिकी में शामिल हो गये हैं। ध्यान देने की बात यह है कि ये परिमाणात्मक सूचक शिक्षा के गुणात्मक पक्ष में खास कर प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर मौजूद बड़े अन्तर को नहीं बता रहे हैं।

विज्ञान क्या कर सकता है?

यह पृष्ठभूमि है, जिसमें हमें विचार करना है कि दुनिया की गरीबी और भूख की चुनौती का विज्ञान किस तरह आमने-सामने मुकाबला कर सकता है।

सकारात्मक पक्ष में, विज्ञान भूखे को भोजन देने, बीमार को स्वस्थ करने, परिवेश की रक्षा करने तथा आत्माभिव्यक्ति के अवसर पैदा करने में सहायता कर सकता है। नकारात्मक पक्ष में, विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर स्वामित्व पाने के लिए आवश्यक अवसर की कमी धनी और गरीब के बीच के अन्तर को और भी तीखा कर देगी। औसतन प्रति व्यक्ति के आधार पर धनी देशों का आय-स्तर गरीब देशों की तुलना में करीब 40 गुणा है, पर वे शोध कार्यों में 220 गुणा अधिक निवेश करते हैं।

परेशान करने वाले इन रुझानों में हमें निजी क्षेत्र द्वारा चालित विज्ञान की विशिष्ट चुनौती का योग करना चाहिए। बौद्धिक-सम्पदा अधिकार शोध उपकरणों तक अबाध पहुँच में बाधा खड़ी करता है। इसके अलावा गरीब लोग शोध का व्यय-भार वहन नहीं कर सकते, उन्हें शोध में भागीदारी के अवसर से वंचित होने की नौबत आ जाती है। पेटेंट और बौद्धिक सम्पदा प्रतिष्ठानों में निजी क्षेत्र से पूँजी निवेश की अपार क्षमता होती है। सन् 1999 में, प्ठड नामक एक निगम के पास पेटेण्ट्स की संख्या 2756 थी, जो 154 देशों के पेटेण्ट्स की कुल संख्या 2643 से अधिक है। नये जीव विज्ञान के क्षेत्र में यह संख्या और भी अधिक है। पेटेण्ट्स मात्र तैयार उत्पाद पर ही नहीं लिये जाते, बल्कि विधियों और अन्तर्वर्ती निवेशों पर भी। यद्यपि शोध के लिए छूट दी गयी है, पर छूट का यह प्रावधान व्यापक उपयोग और विपणन किए जा सकने वाले उत्पादों पर लागू नहीं होता। वैज्ञानिक रंगभेद की स्थिति उत्पन्न होने का खतरा है, इसलिए आवश्यकता है कि हम कल्पनाशील तरीके से इस चुनौती

का सामना करें ताकि अभिनव परिवर्तन का गला न घुटे तथा साथ-साथ शोधकार्य में निजी पूँजी के निवेश में बाधा भी नहीं हो।

पर, बात पैसों से काफी आगे जाती है। विकासशील देशों में वैज्ञानिक उद्यम की इतनी अधिक आवश्यकता आज से पहले कभी भी नहीं थी। सफलता की सम्भाव्यता भी इतनी अधिक नहीं थी। फिर भी, चूँकि यह उद्यम जिन्स के चमत्कार और परमाणु के रहस्य को उद्घाटित करता है, विकासशील देशों में बहुत सारे लोग नूतन के आविर्भाव से भयभीत हैं, और वे प्राचीर खड़ी करने की कोशिश कर रहे हैं ताकि ज्ञान के विस्तार को रोक सकें।

विज्ञान के मूल्य

सार्वभौम मूल्यों का एक केन्द्रीय सार होता है। सच्चे आधुनिक समाज में अनिवार्यतः उपस्थित रहने वाला यह मूल्य-बोध विज्ञान द्वारा उन्नत किया जाता रहता है। ये मूल्य हैं युक्तिवादिता, सर्जनात्मकता, सत्यान्वेषण, आचारसंहिता का पालन तथा एक प्रकार का रचनात्मक विद्रोह।

भौतिक शास्त्री, जीव-विज्ञानी और लेखक जैकब ब्रोनोवस्की ने विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार दी है—''अपनी जानकारी का इस प्रकार का संगठन, ताकि वह प्रकृति में छिपी सम्भावनाओं के ऊपर और अधिक अधिकार विस्तार करे। विज्ञान जानकारियों के उपयोगितामूलक इस्तेमाल से काफी आगे जाता है। यह सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि को प्रभावित करता है—ब्रह्माण्ड-विज्ञान से उन सभी बातों तक, जो हमें मनुष्य बनाती हैं। मूल्य नियम नहीं हुआ करते। ब्रोनोवस्की के शब्दों में, मूल्य वह आन्तरिक ज्योति है, जिनके प्रकाश में न्याय और अन्याय, अच्छा और बुरा, साधन और साध्य रूपरेखा की भयभीत करने वाली स्पष्टता से देखे जाते हैं।

विज्ञान मौलिकता को महान उपलब्धि का निशान मानता है। किन्तु मौलिकता स्वाधीनता का उप-परिणाम होती है, पाए हुए ज्ञान (received knowledge) से असहमति है। इसे स्थापित व्यवस्था की चुनौती की आवश्यकता होती है इसका दावा कितना भी ऊटपटाँग क्यों न मालूम पड़ता हो, सुने जाने के अधिकार की मान्यता होनी ही चाहिए। शर्त केवल यह होगी कि कठोर पद्धति की जाँच पर यह खरा प्रमाणित हो। स्वाधीनता, मौलिकता और इसीलिए असहमति—ये ही समसामयिक सभ्यता के प्रमाण-चिह्न हैं। यह तो सर्वमान्य है कि विज्ञान के प्रभावकारी अनुसरण के लिए स्वाधीनता की रक्षा की आवश्यकता होती है। जिज्ञासा की स्वाधीनता के बिना सच्चा वैज्ञानिक शोध नहीं हो सकता। स्वाधीनता के लिए जिन पूर्वोपायों (preconditions) की आवश्यकता होती है, वे स्पष्ट हैं : मुक्त जिज्ञासा, मुक्त चिन्तन, मुक्त कथन, सहिष्णुता तथा विवादों के साक्ष्य के आधार पर विवाचन की प्रस्तुति। ये वे सामाजिक मूल्य हैं जिनकी रक्षा की ही जानी चाहिए, न केवल विज्ञान के अनुसन्धान को प्रोन्नत

करने के लिए, बल्कि अधिक सहिष्णु समाज गढ़ने के लिए भी, जो परिवर्तन के साथ अनुकूलन करता है तथा नये का वरण करता है।

क्या ऐसे विचार गरीबी और भूख से जूझते हुए, नागरिक द्वन्द्व से टूटते हुए और आर्थिक संकट से त्रस्त समाज में गूँज सकते हैं? नकारात्मक उत्तर की आवाजें अभी ही सुनाई पड़ रही हैं। व्यावहारिकता, वास्तविकता और प्राथमिकता—इस असहमति के आधार हैं, पर वे गलत हैं। विज्ञान में कल्पना के साथ चलने और भावनाओं को गतिशील करने की क्षमता है। हमें विज्ञान को अपनी संस्कृति के अविच्छिन्न अवयव के रूप में समझना चाहिए, जिससे हमारी विश्व-दृष्टि का निर्माण होता है और जो हमारे आचरण को प्रभावित करता है। इससे भी अधिक, विज्ञान स्वयं भूमण्डलीय आयामों की संस्कृति है अथवा, कम से कम, एक सांस्कृतिक धारा है, जो उस समाज को दृढ़ता से प्रभावित करती है जिसमें वह पनपती है। यह ठोस समस्याओं और सैद्धान्तिक चिन्तन में कल्पनाशीलता और दर्शन का योग करता है। कवि विलियम ब्लेक ने कहा था, "आज जो प्रमाणित हो गया है, कभी वह मात्र कल्पना ही था।" कल्पनाशीलता और दर्शन वैज्ञानिक उद्यम के मर्म होते हैं।

कार्य-सूची तय करना

विज्ञान को अपनी सम्भावनाएँ पूर्णतः प्रस्फुटित करने तथा विश्व में परिवर्तन की प्राथमिक शक्ति बनने के लिए जरूरत है कि वैज्ञानिक

—हमारे कालखंड की सर्वाधिक आवश्यक समस्या पर शोध करें।

—भूख का उन्मूलन करने तथा गरीबी घटाने,

—वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा मूल्य-बोध प्रोन्नत करने और

—दक्षिण के वैज्ञानिकों के साथ सच्ची भागीदारी कायम करने की दिशा में काम करें।

यह कल्पनातीत है कि गत दशक में अनुमोदित 1233 औषधियों में से उष्ण-कटिबंधीय बीमारियों की औषधियों की संख्या केवल 11 हैं। तुर्रा यह कि इनमें से आधे मवेशियों के रोगों के लिए हैं, आदमी के रोगों के लिए नहीं। यह अभावनीय है कि लम्बे समय से चली आ रही शिशु-पोषण की समस्याएँ, जिनका समाधान फसलों की पोषण-क्षमता में परिवर्तन लाकर किया जा सकता था, पर काफी कम ध्यान दिया जा रहा है। हमें गुणवत्तायुक्त प्रोटीन-मकई (QPM) तथा विटामिन-ए चावल (Golden Rice) की तरह के और उदाहरण चाहिए।

जरूरत है कि हम उत्तर और दक्षिण के मध्य सच्चे सहयोग में अपने को नियोजित करें। जरूरत है कि दक्षिण के वैज्ञानिकों को साझे शोध-प्रयासों में लगाया जाए। केवल संयुक्त प्रयासों के द्वारा ही विज्ञान के मूल्यों को शक्तिशाली बनाया जा सकता है। जिन समुदायों में रूढ़िवादिता तथा विदेश-नीति की तीव्र धाराएँ लोगों के मन और मस्तिष्क पर अधिकार पाने के लिए युक्तिवाद और सहिष्णुता के साथ संघर्षरत

हैं वहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण को उन्नत करने का यही जरिया होगा। इन प्रयासों में जनता को भी शामिल करना होगा, क्योंकि ऐसी भागीदारी से ही संस्थाएँ पनपती हैं। रॉबर्ट पटमैन के द्वारा सन् 1990 के दशक में इटली में किए गये पथ-प्रदर्शक प्रयासों से जाहिर होता है कि अधिकाधिक नागरिक भागीदारी से संस्थागत कार्यक्षमता में नाटकीय गति से उन्नति होती है।

ऐसे संयुक्त प्रयासों की जरूरत उन अनेकों मुद्दों पर ध्यान देने की है, जो विकासशील देशों में विज्ञान के इस्तेमाल को नियन्त्रित करती हैं, नीतिगत, संस्थागत, मानव संसाधन से सम्बन्धित तथा वित्तीय। उत्तर और दक्षिण के बीच सच्ची भागीदारी विकसित करने के लिए हमें अक्सर सरकारी प्रोटोकॉल से हटकर विचार करना होगा। सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में सरकारों तथा नागरिकों, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सामुदायिक संगठनों तथा न्यासों को एक साथ लाना होगा। सबों को एक वास्तविक और संवेदनशील गठबन्धन में सम्बद्ध करना होगा।

इस कार्यसूची को लागू करने का नतीजा होगा

—न केवल नया विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी, बल्कि प्रासंगिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी भी।

—मात्र सम्प्रेषण नहीं, साथ-साथ सार भी।

—न केवल प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण, बल्कि ऐसा सच्चा सहयोग भी, जो विज्ञान के मूल्य और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रोन्नत करता हो।

यह अन्तिम बिन्दु पद्धति को उतनी ही अहमियत देता है, जितना निष्कर्ष को, क्योंकि पद्धति स्वयं मौलिक नीति शास्त्रीय मूल्यों को प्रोन्नत करती है, अच्छा विज्ञान जो कुछ है, उसके मर्म में ये मूल्य ही होते हैं।

किन्तु लम्बी से लम्बी यात्रा एक अकेले कदम से प्रारम्भ होती है। तो श्रीगणेश किया जाए। अगर हम नहीं करेंगे, तो कौन करेगा? अगर अभी नहीं, तो कब? ब्रोनोव्स्की के शब्दों में, जो लोग सोचते हैं कि विज्ञान नीति- शास्त्रीय धरातल पर(उवतंससल) निरपेक्ष होता है, वे वैज्ञानिक आविष्कार के साथ विज्ञान का भेद नहीं कर पाते। वैज्ञानिक आविष्कार निरपेक्ष होते हैं, पर विज्ञान नहीं।

आगे की राह

औद्योगिक संसार के वैज्ञानिक समुदाय से मुझे कहना है आप मानवता के 80% की मेधा के पनपने के लिए ऐसी शर्त नहीं रख सकते कि उन्हें अपना देश छोड़ना पड़ेगा या कि अपने समाजों से विच्छिन्न होना होगा। आपको उन लोगों तक पहुँचने तथा दक्षिण में वैज्ञानिक उद्यम को दृढ़ता देने के लिए अतिरिक्त प्रयास अवश्य ही करने हैं।

विकासशील देशों के वैज्ञानिकों से मुझे कहना है—हम दोराहे पर खड़े हैं। हम या तो विज्ञान और वैज्ञानिक नजरिये के महत्त्व को पुनः प्रतिष्ठित करें या विश्व

के सूचना-युग में अपने समाजों को क्रमशः हाशिये पर जाते हुए देखने के लिए प्रस्तुत रहें।

विकासशील देशों के वैज्ञानिक समुदाय या तो अपने-अपने समाजों से अधिकाधिक दरकिनार होते जाएँगे या अपने बदलते हुए समाजों में आधुनिकीकरण के प्रयासों के साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मूल्य-बोध के नजदीकी रिश्ते की पुष्टि करेंगे। अपनी संलग्नता के द्वारा उन्हें उस मुक्ताँगन की सृष्टि करनी है, जो रचनात्मक संवाद के लिए अनिवार्य होता है तथा विज्ञान के कार्यान्वयन के लिए विकल्पहीन। विकासशील देशों में उत्कर्षता-केन्द्रों को कायम करने का यह एकमात्र रास्ता है। सारे गरीब और हाशिये पर जी रहे लोगों तक प्रगति के लाभ की पहुँच सुनिश्चित करने का भी यह एकमात्र रास्ता है। ये विज्ञान के मूल्य ही उनकी मेधा और अस्मिता को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर सकते हैं, किन्तु इन सारे प्रयासों को जरूरत होगी कि मस्तिष्क असहिष्णुता, पाखंड तथा भय के अत्याचार से मुक्त हो तथा अबाध जिज्ञासा, सहिष्णुता और कल्पनाशीलता के दरवाजे खुल जाएँ।

विकासशील देशों में श्रेष्ठता के केन्द्रों के कायम होने से उत्तर और दक्षिण के बीच सच्ची साझीदारी हो सकती है। नयी शताब्दी को भूख और चरम दरिद्रता से, जिसे सही तौर पर मानवीय मर्यादा की किसी भी परिभाषा से इतर अवस्था बताया गया है, मुक्त करने की विज्ञान की प्रतिश्रुति पूरी की जा सकती है, किन्तु, इसके लिए वैज्ञानिक के रूप में समस्त मानव परिवार के हित में काम करने की प्रतिबद्धता की जरूरत है न कि सर्वाधिक उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों में रहने का सौभाग्य प्राप्त सुविधाभोगी अल्पसंख्यक समुदाय मात्र के लिए। दायित्व विराट है, साफ बात है कि अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक समुदाय को अनिवार्यतः पूर्णरूपेण समन्वित किया जाना होगा। इसके बगैर विज्ञान की प्रभावकारी प्रक्रिया नहीं चल सकती, किन्तु जरूरत इस बात की भी है कि वैज्ञानिकों की आवाज उनके अपने समाजों में जोरों से और साफ-साफ अवश्य ही सुनी जाए। इसका न होना विज्ञान को न केवल समाजों के आधुनिकीकरण पर हितकारी प्रभाव से विच्छिन्न करता है, साथ-साथ इसके अनुधावन के लिए आवश्यक जनसमर्थन को भी क्षति पहुँचाता है।

अनुवाद : गंगानन्द झा

❑

पी. साईनाथ



गैर-बराबरी का वैश्वीकरण

'हमारा ग्रह असंतुलित है। यहाँ नियंत्रण बहुत थोड़ी चीजों पर है। यहाँ बहुत कुछ के होते हुए भी उम्मीद बहुत कम है। यहाँ बहुत ज्यादा अफरा-तफरी मची हुई है। बहुत ज्यादा युद्ध हैं।' यह सबकुछ इस बात पर निर्भर करता है कि आप कौन हैं। सम्भव है कि आप सोचते होंगे कि यह मदर टेरेसा या जेपेटिस्टास के सब-कमांडेंट मार्कोस के शब्द हैं। वास्तविकता में ये शब्द विश्व-बैंक के अध्यक्ष जेम्स वुल्फेन्सन ने वर्ष 2009 के सितम्बर माह में दुबई में आयोजित विश्व-बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की बैठक में कहे थे।

वुल्फेन्सन ने कुछ दिनों बाद अपना दिल खोलकर अपनी बातें दुनिया के सामने रखीं। इंटरनेशनल हेराल्ड ट्रिब्यून में यह रिपोर्ट प्रकाशित की गयी और उसमें कहा गया था कि पूर्वी एशिया में वित्तीय संकट के दौरान अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने मलेशिया के महातीर मोहम्मद पर तीखे ढंग से प्रहार किया और तब उन्होंने दोबारा सोचने की कोशिश की। वुल्फेन्सन ने परत-दर-परत हटाते हुए कहा कि हम लोगों ने कुछ गलतियाँ की, आप जानते हैं कि हमने कुछ गलतियाँ की। उन्होंने कहा, 'महातीर (पूँजी और मुद्रा नियंत्रण) का सिद्धान्त कारगर साबित हुआ और आईएमएफ ने भी इसे स्वीकार किया।'

ठीक इसी समय द वॉल स्ट्रीट जर्नल इस मौलिक विचार के साथ सामने आया। निश्चित तौर पर यह जर्नल के लिए मौलिक विचार थे। जर्नल ने लिखा, 'आर्थिक

गतिविधियों को संगठित करने के लिए बाजार से अच्छा रास्ता कोई दूसरा और नहीं हो सकता है, लेकिन इस पर परिपक्वता के साथ निगरानी रखने की जरूरत होगी, लेकिन क्या अब इस समय 20 साल पहले से आंकड़ा तैयार किया जा सकता है? क्या दो दशक के आँकड़ों पर अब निगरानी रखी जा सकती है? पिछले दो दशक में करोड़ों परिवार के लोगों के लिए एक वक्त की रोटी जुटा पाना भी बहुत मुश्किल हो रहा है। सच तो है कि यह समस्या इस विचार से कि मनुष्य की सभी समस्याओं का समाधान बाजार के पास मौजूद है, से पैदा हुआ है।' इस विचार को विश्व बैंक, आईएमएफ और वॉल स्ट्रीट जर्नल द्वारा बहुत जोरदार और निरंकुशता के साथ प्रचारित-प्रसारित किया गया।

पिछले दो दशक के दौरान बाजार की आलोचना करना भगवान की आलोचना करने जैसा हो गया है। पिछले दो दशकों के दौरान बाजार के पास सभी सवालों का जवाब था। बाजार अगर अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाया, तब इसमें कोई अनहोनी जैसी बात नहीं है। स्वामीनाथन अय्यर जैसे कुछ ऐसे लोग हैं, जो यह तर्क देते हैं कि अकेले बाजार ही पर्यावरण को बचा सकता है। दूसरा 'टाइम' पत्रिका यह बात दृढ़ता के साथ कहती है कि बाजार-विरोधी व्यवस्था के कारण भूख की समस्या बनी हुई थी। नौकरी चाहिए? बाजार पर छोड़ दीजिए। बाजार केवल प्रजातन्त्र के लिए अच्छा नहीं था। पिछले 15-20 सालों के दौरान यह सब बेतुकी बातें जोरदार तरीके से प्रचारित-प्रसारित की गयी हैं। इससे अलग बात भी हो सकती थी। ठीक वैसे ही जैसे बाजार-व्यवस्था की जरूरत महसूस की गयी। बाजार एक यन्त्र की तरह ठीक है, तानाशाही के तौर पर यह बहुत सारे औजारों की तरह एक है ना कि सभी विचारधाराओं की घेराबन्दी के लिए औजार की तरह है, लेकिन बाजार की आलोचना करना ईश्वर की निन्दा करने जैसा है।

क्या बैंक फंड और वॉल स्ट्रीट जर्नल के शीर्ष उपदेष्टा इन यथार्थ को लेकर चिन्तित हैं? दुर्भाग्य से ऐसा नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि करोड़ों और अरबों लोगों का यह अभिमत है कि बैंक और फंड। यहाँ जर्नल का नाम लेना उचित नहीं है, को अनिवार्य तौर पर परिपक्व निगरानी रखने की जरूरत है। बाजार के बुनियादी सिद्धान्तों में से एक यह है कि उपदेशक हमेशा अभ्यास से परे होते हैं। आज का इराक इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। अमेरिका द्वारा चालित इराकी गवर्निंग काउंसिल के हर सेक्टर का दरवाजा विदेशी कम्पनियों के लिए खोल दिया गया।

ठीक इसी समय, अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र से इराक की मिल्कियत को प्रभावशाली तरीके से समाप्त कर दिया गया। उदाहरण के लिए दो स्थानीय कारोबारियों ने युद्ध समाप्ति के बाद देश का पहला सेलफोन नेटवर्क लगाया। दोनों ही नेटवर्क कम्पनियाँ इसके बन्द कराए जाने से पहले तक जबरदस्त व्यापार करती रहीं। इन नेटवर्क कम्पनियों को बन्द कराकर अमेरिका की एमसीआई कम्पनी के हाथों सेलफोन नेटवर्क का काम सौंप दिया गया। इन कम्पनियों को इस क्षेत्र के बारे में कोई अनुभव नहीं

था और अभी एक महीने पहले ही इन कम्पनियों को इतिहास की सबसे बड़ी धोखाधड़ी में लिप्त पाया गया था।

यहाँ मुक्त बाजार को लेकर भी बहुत सारी बातें हैं। अमेरिकी कम्पनियाँ हेलीबर्टन से लेकर एमसीआई तक के लिए इराक के बाजार का दरवाजा मुनाफा कूटने के लिए खोल दिया गया।

दुनिया में दूसरे सबसे बड़े तेल भंडार वाले देश इराक में 1.70 डॉलर प्रति गैलन की दर से तेल आयात करती है। हकीकत यह है कि इस क्षेत्र में प्रति गैलन तेल की लागत 71 सेंट्स पड़ता है, लेकिन अमेरिका ने यहाँ 'मुक्त बाजार' के नाम पर पूरा दबदबा बना रखा है। यह 'उदारीकरण' की प्रक्रिया 19वीं सदी में अफीम युद्ध से साम्यता रखती है।

आइए, गैर-बराबरी के विकास पर गौर फरमाते हैं। आज की दुनिया में गैर-बराबरी का आलम द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर अब तक सबसे बदतर स्थिति को प्राप्त कर चुका है। गैर-बराबरी पिछले 50 साल की तुलना में गत 15 वर्षों में बेहिसाब दर से बढ़ती चली गयी है। 1990 के बाद से लेकर अब तक युनाइटेड नेशन ह्यूमैन डेवलपमेंट द्वारा जारी की गयी। रिपोर्ट से इस बात का खुलासा होता है। इसमें बहुत सारे पहलू में से कुछेक पर गौर फरमाते हैं। अमीर-गरीब के बीच की दरार, संसाधन के तौर पर गैर-बराबरी, आय और उपभोग, स्वास्थ्य तक पहुँच या केवल पीने योग्य पानी तक या नौकरी जैसे पहलू मात्र पर नजर फरमाते हैं। इस संकट से धरती के ज्यादातर लोग प्रभावित हैं।

वैश्वीकरण के इस दौर में बहुत सारी प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आयी हैं, आज उनमें सबसे बड़े संकट के तौर पर कॉरपोरेट ग्लोबलाइजेशन है। दुनिया कॉरपोरेट के नियंत्रण में है और उसके मुनाफे के लिए संचालित हो रही है। यह दुनिया मनुष्य की जरूरत पूरा करने की बजाय, कॉरपोरेट की लालच को पूरा करने की बात को प्रश्रय दे रही है। हरेक महादेश में इस बात को चिन्हित किया जा रहा है कि कॉरपोरेट की सत्ता को ढहने से बचाने के लिए सारा जोर लगाया जा रहा है।

दुनिया की समस्त आबादी की 20 फीसदी और निचले तबके की पाँच फीसदी आबादी के बीच आमदनी का फर्क दोगुने से भी ज्यादा है। वर्ष 1998 तक शीर्ष 20 फीसदी तबका पृथ्वी पर मौजूद कुल वस्तु एवं सेवा का 86 फीसदी उपभोग में लाता था, जबकि निचली 5 फीसदी आबादी कुल वस्तु व सेवा का मात्र 1.3% ही उपभोग में लाती थी। वर्ष 1999 की मानव विकास रिपोर्ट के अनुसार दुनिया के सर्वाधिक 200 अमीर लोग 'वर्ष 1998 तक मात्र चार साल के भीतर अपनी कुल संपत्ति को दोगुना से ज्यादा कर पाने में कामयाब रहे। उनकी कमाई 1 खरब डॉलर से ज्यादा की हुई।' दुनिया के शीर्ष तीन अरबपतियों की कुल सम्पत्ति सभी विकसित राष्ट्रों की जीएनपी को जोड़ दिए जाने की हालत के बाद भी ज्यादा थी। इन तीन अरब की कुल सम्पत्ति विकसित देश के 60 लाख लोगों की कुल सम्पत्ति से कहीं

बहुत ज्यादा है। वर्ष 2003 तक उनकी हालत बदतर होती चली गयी। यहाँ यह रेखांकित करना जरूरी है कि फंड और बैंक बहुत धीमे स्वर में चेतावनी दे रहे हैं।

अमेरिका में इकोनॉमिक रिकवरी शब्द का मतलब क्या लगाया जाता है, इसे प्रिंसटन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के बतौर काम कर रहे लेखक पॉल क्रुगमैन ने रेखांकित करते हुए कहा कि यहाँ आर्थिक संकट के दौरान 30 लाख लोगों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा है। इस आर्थिक संकट के दौरान ज्यादातर अमेरिकी बड़ी कम्पनियों के मुख्य कार्यकारी अधिकारी (सीईओ) की तनख्वाह अभी तक इतिहास में सर्वाधिक हो गयी। मिसाल के तौर पर जीई के सीईओ की जैक वेल्च की तनख्वाह 1.3 करोड़ डॉलर हो गयी और न्यूयॉर्क स्टॉक एक्सचेंज की सीईओ की तनख्वाह 14 करोड़ डॉलर तक पहुँच गयी। अमेरिकी गरीबी आबादी के ग्राफ में तेज गति से इजाफा दर्ज किया है। यह बढ़कर कुल आबादी का 12.4 फीसदी तक पहुँच गया। यह रेखांकित किए जाने योग्य उपलब्धि है। अश्वेत, हिस्पानिक के बीच गरीबी का आँकड़ा दोगुना से भी ज्यादा बढ़ गया।

रूस, जो कभी दुनिया की दूसरी महाशक्ति था, को वर्ष 1990 के दौरान बाजार के बुनियादी सिद्धान्त से तगड़ा झटका लगा और उसमें इससे बचने के उपयों पर काम करना शुरू कर दिया। पूर्व सोवियत संघ ने इस छोटी अवधि में ही सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में 42 फीसदी की गिरावट दर्ज की। यह उपलब्धि रेखांकित करने योग्य है। बगैर युद्ध या अकाल के आज तक के इतिहास में किसी भी देश की जीडीपी में इतनी गिरावट दर्ज नहीं की गयी। रूस ने यह सब जैफ्री सैस और आईएमएफ की सहायता से अंजाम दिया है। रूस में गरीबी अपने चरम पर पहुँच चुकी थी। वहाँ मृत्यु-दर में भी जबरदस्त इजाफा हुआ और परिणाम के तौर पर रूस की समस्त आबादी की कठिनाइयों में बेहिसाब मुनाफा दर्ज किया गया है। हरेक शरदऋतु में कड़ाके की ठंड की वजह से सैकड़ों लोगों की मौत हो जाती है। वर्ष 2000-01 में अकेले मास्को में 300 से ज्यादा लोग हाइपरथर्मिया के कारण मारे गये, लेकिन इसी अवधि में मर्सिडीज बेंज कार की बिक्री में एक-तिहाई इजाफा हुआ है और जॉर्जिया अरमानी ने मास्को सिटी में इसी समय में अपना नया सैलून स्टोर खोल दिया। वहाँ उसकी मित्र कम्पनी वर्सेक और बुल्गारी पहले ही अपना स्टोर खोल चुकी थीं, उन्होंने अरमानी का खुलकर स्वागत किया। (द हेराल्ड ट्रिब्यून ने अरमानी के मास्को में देरी से आगमन के लिए लिखा–'जॉर्जिया का बहुत देरी से आगमन')

चीन, जहाँ सबसे लम्बे समय से समतावादी समाज है, आज वहाँ अनगिनत करोड़पति पैदा हो गये हैं। जहाँ तक अमीर और गरीब का सवाल है, तटवर्तीय और आन्तरिक चीन में यह खाई बढ़ती ही जा रही है। निश्चित ही यहाँ दूसरी तरह के विकास का असर दिखाई पड़ रहा है। दो विशाल और तेज विकास वाले सेक्टर सबकी नजरों में चुभते हैं। दोनों ही दुखद तौर पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। पहला, चीन के लोगों के अनुसार दलाली और भ्रष्टाचार है। दूसरा वेश्यावृत्ति है।

क्या आप यह विश्वास कर पाएंगे कि इस साल अफगानिस्तान सबसे तेज विकास दर वाली अर्थव्यवस्था रही? इस तथ्य पर भरोसा कर पाना बिल्कुल कठिन नहीं होगा, क्योंकि इससे पूर्व के सालों में यहाँ की अर्थव्यवस्था की विकास दर शून्य रही। अफगानिस्तान की अर्थव्यवस्था की विकास दर 20 फीसदी रहा, लेकिन इस विकास दर में 50 फीसदी से ज्यादा का योगदान अफीम की खेती का रहा और अफ्रीका की विकास दर? नॉबेल पुरस्कार विजेता जोसेफ स्टिगलिज से इस बारे में पूछिए। उन्हें विश्वबैंक से बाहर का रास्ता दिखाया गया, क्योंकि इसकी वजह भी यह थी कि वह बाजार के बुनियादी सिद्धान्तों के खिलाफ थे। उन्होंने अफ्रीकी महादेश के बारे में चिन्हित किया था कि आईएमएफ की नीतियों की वजह से यहाँ की कुल आमदनी में एक चौथाई की कमी दर्ज की गयी है। यहाँ तक कि अफ्रीकी कपास किसान जो दुनिया में सबसे सस्ती फसल उगाते हैं, वे भी दिवालिया हो चुके हैं। दूसरी ओर अमेरिका में कपास की खेती करने वाले किसान को सालाना लगभग 10 लाख डॉलर की सब्सिडी मिलती है।

यह अच्छी बात है कि कुल मिलाकर अफ्रीका के इस संकट की वजह से इसके हुनरमन्द व्यक्तित्व के सामने असंख्य खतरे की घंटी लटक रही है। फाइनेंशियल टाइम्स के अनुसार वर्ष 2001 में पूरे महादेश में मात्र 20,000 हजार इंजीनियर और वैज्ञानिक 60 करोड़ की आबादी की सेवा कर रहे थे। परिणामतः अफ्रीका की तुलना में अमेरिका में कहीं ज्यादा अफ्रीकी इंजीनियर और वैज्ञानिक कार्यरत हैं। ऐसा जेनेवा स्थित इंटरनेशनल ऑर्गेनाइजेशन फॉर माइग्रेशन (ओआईएम) कौशल के इस सूखे की वजह से गरीबी के स्तर में कमी लाना बिल्कुल असम्भव सा हो रहा है। गरीबी के स्तर में बेरोकटोक इजाफा होता जा रहा है आज की तारीख में अगर 400 न्यूनतम भत्ता या पगार वाली नौकरियाँ अफ्रीका चली जाती हैं, तब अमेरिकी मीडिया इसकी जोरशोर से महीनों आलोचना करता रहता है।

लातिन अमेरिका, जो दुनिया में सबसे ज्यादा लम्बे समय से गैर बराबरी वाला इलाका बना हुआ है, वहाँ 90 के दशक में असमानता में बहुत तेज गति से मुनाफा दर्ज किया गया है। दुनिया के इस हिस्से में वर्ष 1980 के दौरान ही 10 करोड़ से ज्यादा लोग गरीबी रेखा के नीचे चले गये। 1990 में इसमें और ज्यादा हुए इजाफे के कारण इस क्षेत्र में गरीबी सबसे बड़ी समस्या के तौर पर उभर कर सामने आयी है। अकेले मैक्सिको में वर्ष 1990-96 के बीच 1 करोड़ 10 लाख लोग गरीबी रेखा के नीचे आ गये।

दुनिया के स्तर पर एफएओ के डायरेक्टर जनरल जैक्स डिसोफ ने यह चिन्हित किया कि (इसी बैठक में वुल्फेन्सेन को नयी रौशनी दिखी) पिछले 15 सालों के दौरान अमीर देशों ने अपने किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी की राशि में बढ़ोतरी की, जबकि गरीब मुल्क खाद्यान्न पदार्थ के शुद्ध निर्यातक से शुद्ध आयातक देश के तौर पर तब्दील होते चले गये। भारत गैर-बराबरी के निर्माण का सबसे बेहतरीन उदाहरण

है। द न्यूयार्क टाइम्स ने 20 अक्टूबर के अंक में पहले पन्ने पर भारत में जन्म ले रहे ऐसे वर्ग, जो अपना सप्ताहान्त मॉल में बिताते हैं की तस्वीर प्रकाशित की। संयुक्त राष्ट्र की मानव विकास रिपोर्ट में यह पाया गया कि भारत की बहुत बड़ी आबादी के रहन-सहन का स्तर बोत्सवाना से भी नीचे चला गया है। यह फिलीस्तीन क्षेत्र की आबादी की तुलना में बहुत नीचे चला गया, लेकिन इसके बावजूद भारत में दुनिया के कुछ अमीर लोग यहाँ रहते हैं और दुनिया के सबसे ज्यादा गरीब लोग भी यहीं रहते हैं।

एक अच्छे मानसून से चमत्कार हो जाएगा और भारतीय कृषि में क्या घट रहा है, पर सारी बहसें खत्म हो जाएंगी। वास्तविकता में पिछले 15 वर्षों में यही सब कुछ घट रहा है। छोटी खेती मर रही है। खेती में निवेश कम हो रहा है। ग्रामीण कर्ज में पूरे तौर पर कटौती हो रही है और किसानों पर कर्ज में बढ़ोतरी हो रही है। बहुत सारे किसान जमीन खोते जा रहे हैं और कुछ लोगों को ही मॉल में काम का मौका मिल पा रहा है। वर्ष 2009 के मई महीने में प्रोफेसर उत्स पटनायक ने यह रेखांकित करते हुए कहा कि वर्ष 1942-43 में बंगाल के भयंकर अकाल के दौरान प्रति व्यक्ति अनाज की उपलब्धता आज की तुलना में कहीं ज्यादा है।

वर्ष 1990 के उत्तरार्द्ध में हजारों किसानों ने आत्महत्याएँ कीं। आंध्रप्रदेश के एक अकेले जिले अनन्तपुर में वर्ष 1997 से वर्ष 2009 के दौरान 2400 से ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की। भारत में कहीं भी गुजरात या मुम्बई में इस बाजारवादी बुनियादी धार्मिक सिद्धान्त की वजह से अनगिनत लोगों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा है। वर्ष 2002 में गुजरात की हिंसा में 1500 से ज्यादा लोगों की मौत हुई। गुजरात दंगे में शामिल ज्यादातर दंगाई टेक्सटाइल मिल बन्द होने से बेरोजगार हुए लोग थे।

भीमकाय नयी गैर-बराबरी पहले से मौजूद असमानता को और बढ़ाने का काम कर रही है। उदाहरण के तौर पर जहाँ समाज में पहले से ही सुविधाविहीन लोग हैं, वहाँ भारत में भूख महिलाओं के जीवन को और कठिन बनाती है। लाखों परिवार में जरूरत से बहुत कम खाना खाया जाता है। भारतीय परिवार में महिलाओं के सबसे अन्त में खाने की परम्परा भी है। वे अपने पति और बच्चों को खिलाने के बाद ही खाती हैं। परिवार के सभी सदस्यों को खिलाने के बाद महिलाओं के खुद के लिए बहुत थोड़ा ही बच पाता है। पहले की तुलना में आज गरीब परिवारों की महिलाएँ कम खाने लगी हैं, जबकि उनके ऊपर काम का बोझ ज्यादा बढ़ा है और उनके स्वास्थ्य में गिरावट दर्ज की जा रही है। अब स्वास्थ्य की देखभाल करना पहले की तुलना में कहीं ज्यादा खर्चीला हो गया है।

सवाल है कि हम कैसा नया आत्मविश्वास से लबरेज भारत का निर्माण कर रहे हैं? हम छोटे स्वास्थ्य केन्द्रों पर ताला लगा रहे हैं और बड़े-बड़े पाँच सितारा अस्पतालों का निर्माण कर रहे हैं, जहाँ 90 फीसदी भारतीय आबादी के वश में इलाज

कराना मुमकिन नहीं है। प्राथमिक स्कूल बन्द कर रहे हैं और नामांकन के लिए बेहिसाब डोनेशन वाले कॉलेज खड़ा करने पर जरूरत से ज्यादा जोर दे रहे हैं। पुस्तकालय बन्द कर रहे हैं और मल्टीप्लेक्सेज खोल रहे हैं। बस डिपो बन्द कर रहे हैं और एयरपोर्ट व्यवस्था को आधुनिक बनाने के लिए बाजार में बढ़ोतरी करते जा रहे हैं।

ऐसे समय में जब प्रति व्यक्ति अनाज की उपलब्धता में बहुत तेजी से कमी आ रही है, तब हजारों अमीर भारतीय वजन कम करने के लिए क्लीनिक का रुख कर रहे हैं। सीईओ की तनख्वाह में दिन-ब-दिन बढोतरी की जा रही है जबकि दयनीय हालत में जीने को अभिशप्त भूमिहीन मजदूरों की दिक्कतों में इजाफा ही हो रहा है।

हम उचित मूल्य की अनाज वाली दुकान बन्द करते जा रहे हैं और उसकी जगह फूड बुटीक खोलते जा रहे हैं। हम हर साल पारम्परिक तौर पर 'शताब्दी का सबसे बड़ा अकाल वर्ष' घोषित कर रहे हैं और दूसरी ओर हर साल सैकड़ों वाटर पार्क और गोल्फ कोर्स का निर्माण कर रहे हैं।

यहाँ तक कि लोगों की बुनियादी जरूरत के मामले में विभाजन साफ दिखने लगता है। इस साल मुम्बई को पानी की भारी किल्लत का सामना करना पड़ा, लेकिन यदि आप अमीर या पॉश लोगों की कॉलोनियों में रहते हैं तो इसका पता भी शायद चल पाया होगा, लेकिन झुग्गी-झोपड़ियों में रहनेवाली महिलाओं को हर रोज सुबह से पानी के लिए लम्बी लाइन में इन्तजार के लिए खड़ा होना पड़ रहा था। उन्हें पानी हासिल करने के लिए मजबूत दावेदारी में सुबह 4 बजे से ही पंक्तिबद्ध होना पड़ रहा था। कभी-कभी तो लम्बे इन्तजार के बाद भी उन्हें पानी नहीं मिल पाता था। उनके रोजाना पानी की जरूरत 40-50 लीटर से ज्यादा नहीं है। ठीक इसी समय मुम्बई में 24 मनोरंजन पार्क में 50 अरब लीटर से भी ज्यादा पानी का इस्तेमाल हो रहा था। इतना सारा पानी अमीरों के मनोरंजन पर हर रोज खर्च हो रहा था। मरुस्थल प्रदेश राजस्थान में पिछले पाँच साल से पानी की महामारी मची हुई, लेकिन वहाँ और वॉटर पार्क और गोल्फ कोर्स बनाने की योजना बनाई गयी। एक अकेले गोल्फ कोर्स को 18-23 लाख लीटर तक पानी हर रोज के लिए चाहिए होता है। पानी की इतनी मात्रा से राज्य के 1 लाख से ज्यादा बड़ी ग्रामीण आबादी की पूरी गर्मी की पानी की जरूरत पूरी हो सकती है।

पूरे विश्व में पानी के इस्तेमाल का स्थानानन्तर अनाज उगाने के लिए जमीन की सिंचाई से स्वीमिंग पूल, मनोरंजन पार्क, पानी पर मनोरंजक खेल, गोल्फ कोर्स और बागवानी की तरफ होता चला जा रहा है। इस सर्दी में पानी को लेकर युद्ध लड़ा जाएगा, हम ऐसा जानते हुए भी यह सब करते जा रहे हैं।

स्वास्थ्य और रहन-सहन की परिस्थितियाँ–स्वास्थ्य का मसला पूरी तरह असन्तुलित हो चुका है। या तो ज्यादातर चीजें निजी हाथों मे चली गयी हैं और बेहद महँगी हो गयी हैं। इस क्षेत्र में सार्स ने बहुत धमाल किया हुआ है और बहुत सारे दूसरे

नाम उत्पात मचाने के लिए पंक्तिबद्ध हैं। सार्स की वजह से बहुत सारे लोगों की मौत हो चुकी है। वर्ष 2009 के मात्र 4 महीने के भीतर 800 से ज्यादा लोग इसकी वजह से मारे जा चुके हैं।

यह संख्या भारत में हर रोज टीबी से मरने वालों की तुलना में आधे से भी कम है, लेकिन सार्स पर ज्यादा ध्यान इसलिए दिया जा रहा है क्योंकि इससे हवाई-जहाज से यात्रा करने वाला वर्ग प्रभावित हो रहा है। ठीक ऐसा ही हमारे यहाँ वर्ष 1994-95 में 'प्लेग' के कारण हुआ था। इससे भारत में दूसरे रोगों से मरने वालों की तुलना में बहुत-थोड़े लोगों की मौत हुई थी, लेकिन इससे सुन्दर लोग बहुत बुरी तरह डर गए थे। प्लेग का कीड़ा बगैर वर्गभेद किए समान रूप से हमला करता है। उसे किसी पासपोर्ट और वीजा की जरूरत नहीं होती है। वह हवाई जहाज के क्लब क्लास में सवार होकर न्यूयॉर्क तक पहुँच जाता है।

सार्स से सबसे ज्यादा चीन क्यों प्रभावित हुआ? बीते दो दशक में आर्थिक दर्शन के साथ जो घटित हुआ है, उसके बारे में चिन्तन करना जरूरी होगा। चीन में कार्यस्थल पर स्वास्थ्य देखभाल की सारी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। कारखाना और स्कूल कैंपस में स्वास्थ्य सम्बन्धी सारी सुविधाएँ मुहैया कराई जाती हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आप कहीं भी स्वास्थ्य देखभाल सम्बन्धी सारी सुविधाएँ हासिल कर सकते हैं। चीन में नीचे से ऊपर तक हेल्थ केयर सुविधा की कड़ी बनी हुई है। वहाँ छोटे-छोटे मेडिकल पोस्ट और स्वास्थ्य केन्द्र बने हुए हैं। छोटी-छोटी स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्या का हल मेडिकल पोस्ट पर ही निकाल लिए जाते हैं। मेडिकल पोस्ट की अगली कड़ी लेबोरेटरी (जांच-घर) है। जब इन हजारों उद्यमों को बन्द कर दिया गया, तब हेल्थ केयर करोड़ों लोगों की पहुँच से बाहर हो गया। बहुत सारे इन छोटे स्वास्थ्य-केंद्रों को बन्द कर दिया गया। जब सार्स का खुलासा हुआ था, तब चीन की प्राथमिक चेतावनी व्यवस्था पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो गयी। यह चीन की आबादी के किसी आश्चर्य से कम नहीं था। सार्स की घटना से अर्थव्यवस्था को अरबों की चपत लगी। सार्स से हांगकांग, सिंगापुर और अन्य दूसरे देशों को बहुत बड़े पैमाने पर नुकसान झेलना पड़ा था।

लेकिन मात्र चीन ही क्यों? इस साल फ्रांस की सरकार ने आधिकारिक तौर पर यह घोषणा की कि अगस्त में गर्म हवा के थपेड़ों के चलने से लगभग 1500 लोगों की मौत हो गयी। निश्चित तौर पर यह सार्स की तुलना में ज्यादा विध्वंसकारी साबित हुआ। गर्म हवा के थेपेड़ों से उम्रदराज और बूढ़े लोग मारे गये, लेकिन फ्रांस के इतिहास में यह कोई पहली बार नहीं हुआ था। हाल के समय में फ्रांस में हेल्थ केयर बजट में कटौती कर ली गयी। बहुत सारे फ्रांसीसी सांसदों ने इस तथाकथित स्वास्थ्य सुधार पर विशेष बहस कराने की माँग भी की।

अमेरिका में हजारों उम्रदराज, बुजर्ग देश की सीमा पार करके कनाडा पहुँचते हैं ताकि दवा का खर्च उठा पाएँ। सीमा के दोनों पार एक दवा बिकती है, लेकिन

अमेरिका में दवा की कीमत तय करने का पूरा अधिकार कॉरपोरेशन मार्केटिंग के हाथ में है। फिलहाल अमेरिकी प्रशासन और पुलिस कीमत तय करने के मसले पर हस्तक्षेप करने लगे हैं, लेकिन उनका हस्तक्षेप बुजुर्ग और उम्रदराज लोगों के पक्ष में ना होकर निगम की तरफदारी के लिए होता है। मिशीगन में पुलिस औषधालय और दवा दुकानों पर छापेमारी कर रही है, वैधानिक तरीके से दवाएँ भी जब्त कर रही है, लेकिन ये बहुत ही सस्ती दवाएँ हैं।

अफ्रीका में डब्ल्यूटीओ की अध्यक्षता में बौद्धिक सम्पदा अधिकार की व्यवस्था की गयी है, लेकिन वहाँ लाखों लोग एड्स से इसलिए मर रहे हैं, क्योंकि उन्हें सस्ती दवाएँ भी उपलब्ध नहीं है। पेटेंट पर नियंत्रण रखने वाली अमेरिकी कंपनियाँ भारतीय कम्पनियों को दवाओं के सस्ते विकल्प के उत्पादन करने का दबाव डालती हैं। अमेरिकी कम्पनी भारतीय कम्पनियों द्वारा ऐसा नहीं करने पर उस पर कानूनी कार्रवाई करने की धमकी देती है और उसे बन्द करने तक की धमकी दे डालती है। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर हंगामा मचाने के बाद एक समझौता कर लिया गया, लेकिन दवाएँ उतनी सस्ती नहीं हुई जितनी सस्ती होनी चाहिए थीं। गरीब अफरीकियों के जीवन पर कॉरपोरेट कम्पनियों को मुनाफा हासिल करने की छूट मिल गयी।

सार्स की घटना से क्या सबक मिला? गरीब, निःसहाय और बुजुर्ग की देखभाल करने के बारे में दोबारा चिन्तन करने की जरूरत होगी। गरीब व ग्रामीण लोगों के लिए बने हुए हेल्थ केयर सेंटर को बन्द करने से सम्भव है कि चीन ने कुछ धन बचा लिए होंगे, लेकिन चीन ने पर्यटन के मोर्चे पर सार्स के खौफ की वजह से अरबों गंवा दिया। वर्तमान कटौती की वजह से रहन-सहन के स्तर में कमी आएगी और स्वास्थ्य के मोर्चे पर भविष्य में और दिक्कते बढ़ जाएँगी। यूएन हैबिटेट की हालिया एक रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2030 तक हर तीन में से एक व्यक्ति झुग्गी झोपड़ी में जीवन बसर करेगा। हम इसे क्या कहना चाहेंगे? विश्व ग्राम से विश्व झोपड़-पट्टी तक? गन्दगी का वैश्वीकरण? जब हर तीसरा व्यक्ति झोपड़-पट्टी में रहेगा, तब स्वास्थ्य की दिक्कत के बारे में कल्पना करना मुश्किल होगा।

सैन्य पहलू–वैश्विक गैर-बराबरी सैन्य क्षेत्र में भी आप ही अभिव्यक्त होती है। इतिहास के किसी भी कालखंड में सत्ता और शेष आबादी के बीच बहुत बड़ा अन्तर रहा है, लेकिन सैन्य तौर-तरीकों से कभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका है और ना ही किसी अन्तिम नतीजे पर पहुँचा जा सका है। इराक में अमेरिका सेना के भरोसे ही सफलता हासिल करने की कोशिश में जुटा है। भौतिक-राजनीतिक यथार्थ में दो दशकों में आ रहे बदलाव के साथ सैन्य बल के इस्तेमाल में बढ़ोतरी दर्ज की जा रही है। नये-नये सैन्य ठिकानों की स्थापना पर फिर नये सिरे से सवाल उठने लगा है। ओकीनावा सैन्य ठिकाना इसका एक उदाहरण है। फिलीपींस के आन्तरिक मतभेद का वैश्वीकरण कर दिया गया। ओकीनावा और गुआम सैन्य ठिकानों का इस्तेमाल इन उद्देश्यों को पूरा करने में किया जा रहा है। इराक में अमेरिकी

बैगेज़ के इस्तेमाल में कितनी लागत आ रही है, इसका हिसाब जापानी लगा रहे हैं। तब एक जापानी एंटी-बेस प्रोटेस्टेटर इसे चार शब्दों में बयान करता है–ठिकाने का मतलब युद्ध।

वैश्वीकरण के इस आकार का युद्ध हिस्सा है, युद्ध इस वैश्वीकरण की प्रक्रिया से बिल्कुल भी अलग नहीं है। यह अतीत में देखा जा चुका है कि किस तरह संसाधनों को लूटने के लिए पूरे देश को युद्ध की आग में झोंका जा चुका है। दुनिया करे दूसरे सबसे बड़े तेल भंडार अब बहुत थोड़े निगमों के लिए सुरक्षित हो गए हैं। 'बुरे की धुरी' के विचार ने कोरियाई प्रायद्वीप को अस्त-व्यस्त करके रख दिया। प्रायद्वीप इस बात का गवाह है कि किस तरह सैन्य ताकतें निर्णायक औजार के बतौर इस्तेमाल में पाई गयी। इस भ्रामक विचार से भारत और पाकिस्तान में खतरनाक तरीके से परमाणु अस्त्रों के भंडारण को बल मिल रहा है। इजरायल द्वारा अधिगृहीत क्षेत्र में क्रूरता को अंजाम दिए जाने की घटना को कम करके आंका जाता है। कॉरपोरेट द्वारा संचालित वैश्वीकरण असुरक्षा और मानसिक संघात को जन्म देता है। यह वैश्विकता का नाम लेता है, लेकिन यह स्थानीय तौर पर विद्वेष और अन्ध-राष्ट्रवाद को ही बढ़ावा देता हैं। सभी देश को इसे बहुत सावधानी के साथ अंजाम देना होगा।

सैन्य ताकतों के निर्माण और उसे बढ़ावा देने का काम हमारे समय की गैर-बराबरी पर ही आधारित है। हमारे समय में इस पहलू को बहुत ज्यादा बढ़ावा मिला है और इसे बढ़ावा देने में केवल अमेरिका ही शामिल नहीं है। इराक में मुक्त बाजार सहज तौर पर सैन्य ताकतों के ही बलबूते है। सैन्य शब्दावली में अफगानिस्तान को कुचल डालना आसान नहीं था। अब अमेरिका को यथार्थ का सामना करना पड़ रहा है। अफगानिस्तान में अफीम की खेती तालिबानियों के समय से कहीं ज्यादा है और हामिद करजई काबुल में राष्ट्रपति भवन के चन्द कमरों के महामहिम बनकर रह गये हैं। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं।

हमारे समय में बाजार के बुनियादी सिद्धान्तों की एक प्रमुख बात यह है कि हरेक चीज का निजीकरण किया जा रहा है। उद्योग से बौद्धिकता तक हरेक पहलू का निजीकरण किया जा रहा है। रूस में बहुत बड़े पैमाने पर और बहुत तेज गति के साथ निजीकरण किया जा रहा है। बहुत वाहयात तरीके से नीलामी को अंजाम दिया जा रहा है और धोखाधड़ी से चीजें बेची जा रही हैं, जिसे सरकार भी ''गैंगस्टर कैपिटलिज्म' कहकर बुलाना चाहती है। चुनी हुई सरकार और माफिया तन्त्र के बीच संघर्ष में बढ़ोतरी हो रही है। दिलचस्प यह है कि जब कॉरपोरेट प्रमुख को गिरफ्तार कर लिया जाता है और उसे समर्थन दिया जाता है, तब पश्चिमी मीडिया इस पर पर्दा डालने का काम करती है। वह इस भ्रष्टाचार का खुलासा नहीं करती है।

एक देश के बाद दूसरे देश में अकल्पनीय तरीके से जो तनाव का स्तर बढ़ रहा है, उसकी बुनियादी वजह सेवाओं का निजीकरण ही है। देश के भीतर जो गंभीर तरीके से गैर-बराबरी की शुरुआत हुई, उसे लम्बी अवधि तक बढ़ावा नहीं मिल सकता है।

उदाहरण के लिए जापान को देखा जा सकता है। जापान सापेक्षिक तौर पर किसी भी सन्दर्भ में निजीकरण के प्रभावों से दूर रहा है। अमेरिका का कहना है कि जापान का 20 फीसदी निचला तबका उसकी अपनी आबादी की तुलना में कहीं ज्यादा बेहतर है। दुनिया भर में गैर-बराबरी अप्रत्याशित तौर पर बढ़ रही है, तब क्या जापान इससे बचा रह सकता है। आसामान्य तौर पर जापान इससे अप्रभावित है।

जापान का राष्ट्रीय ऋण उसकी जीडीपी से तीन गुना ज्यादा है और यह कुल वैश्विक ऋण का 36 फीसदी है। दूसरा, नये आँकड़े के अनुसार घरेलू आय में उपजाऊ जमीन का 20 फीसदी योगदान होता है। असाही शिमबुन डेली के अनुसार–'कोई वित्तीय सम्पदा नहीं, कोई बचत नहीं, कोई बीमा नहीं और कोई निवेश नहीं। इस समय जापान में घरेलू आमदनी के लिए रियल इस्टेट की कीमत बचत के लिहाज से इतिहास में सर्वाधिक है। इसलिए वहाँ अमीर और गरीब वर्ग के बीच का फासला स्पष्ट तौर पर दिखाई दे रहा है। बैंक ऑफ जापान की किसी इकाई द्वारा वित्तीय सम्पत्ति और जिम्मेदारी के बारे में एक सर्वेक्षण आयोजित कराया गया, तब पता चला कि दोनों ही चरम में बहुत ज्यादा फासला है।

अमीर और गरीब वर्ग के बीच का यह फासला दिन-ब-दिन बड़ा होता जा रहा है। समस्याएँ और जटिल होती जा रही है। विशेष तौर पर जापान सभी चीजों का निजीकरण बहुत शान्तिपूर्ण तरीके से होते देख रहा है और अब उसने स्वयं भी इसे बढ़ावा देने की बात कहनी शुरू कर दी। वास्तविकता में यदि जापान 250 खरब येन की डाक बचत और 150 खरब येन की बीमा सुरक्षा बचत के निजीकरण का प्रबन्धन कर पाता है, तब उसे बड़ी समस्या से दो-चार होना पड़ सकता है। इस बचत पूँजी पर बहुत सारे फंड मैनेजर निगाह रखे हुए हैं। ये फंड मैनेजर पहले ही अमेरिका में अपना चमत्कार दिखा चुके है। निश्चित तौर पर यह समय बड़ी कंस्ट्रक्शन कम्पनियों का है।

अनुसलझा समय–एक बात यह अनुमान की जा रही है कि अभी से 30 साल बाद हर तीसरा व्यक्ति झुग्गी-झोपड़ी में रहेगा। इस आबादी का बड़ा हिस्सा अफ्रीका या लातिन अमेरिका में नहीं बल्कि एशिया में होगा। इस आर्थिक विनाश का सबसे खराब पहलू यह है कि बाजार के बुनियादी सिद्धान्तों के सहारे जितनी तरक्की मिलेगी, यह उतना ही नव-फासीवादी प्रवृत्तियों को अपनाता जाएगा। हम लोग इस व्यापक लूट और धोखाधड़ी के इतिहास के साक्षी हैं। यह किसी एक देश में नहीं बल्कि दुनिया के ज्यादातर हिस्सों में घट रहा है। विध्वंस की इस महान प्रक्रिया की शुरुआत हो चुकी है। इतिहास में एनटॉर और वर्ल्डकॉम की कंगाली सबसे बड़ी साबित हो चुकी है। अनगिनत सेवानिवृत्त लोगों की पेंशन राशि इन कम्पनियों में निवेश की गयी थी। वह तबाह हो चुके हैं। इतिहास में एमसीआई द्वारा अकाउंटिंग की धोखाधड़ी सबसे बड़ी साबित हो चुकी है, लेकिन अभी आपको और ऐसे नमूनों से दो-चार होना पड़ेगा। इन हालात में हम क्या कर सकते हैं? हम इस बाजार के बुनियादी

सिद्धान्तों पर रोक लगा सकते हैं। लोगों द्वारा इस बाजार के बुनियादी सिद्धान्तों के केन्द्र में मुनाफा के हावी रहने की बात का प्रतिकार किया जाना चाहिए।

लोगों की बुनियादी समस्याओं के हल के लिए पूँजी की अनिवार्यता बहुत छोटी बात है। समस्याओं के समाधान के लिए दूसरी बातें ज्यादा जरूरी हैं। धरती पर मौजूद हरेक बच्चे की दीक्षा, हरेक मनुष्य के लिए साफ पीने योग्य पानी और सुरक्षित सीवर सिस्टम और सभी के लिए स्वस्थ व पौष्टिक आहार को पूरा करने के लिए अतिरिक्त 28 अरब डॉलर राशि की जरूरत है। क्या 28 अरब डॉलर बहुत ज्यादा है? और तब जबकि हरेक साल यूरोप और अमेरिका की आबादी सौन्दर्य प्रसाधन आईस्क्रीम और पालतू जानवरों पर खर्च कर डालती है। दुनिया के सबसे अमीर 225 व्यक्तियों की कुल सम्पत्ति 1 अरब डॉलर है, जिसका 28 अरब डॉलर बहुत ही छोटा सा हिस्सा भर ही है।

दुनिया के तमाम बुद्धिजीवी और सार्वजनिक तौर पर मानव-सभ्यता की चिन्ता करने वाले लोग इस मसले पर क्यों नहीं कुछ कहते और करते हैं? वह इस पर कैसे प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं? बहुत सारे लोग तो इस नये किस्म की सम्पन्नता पर मोहित है। वे इसका जश्न मना रहे हैं। द इंडियन एक्सप्रेस समाचारपत्र अपने सम्पादकीय में यह दृढ़तापूर्वक टिप्पणी करता है—यह लालच अच्छा है। वह 'लोभ-लाभांश' की कीमत के बारे में लिखता है। बहुत सारे लोग निजी बौद्धिक में तब्दील हो चुके हैं। वे निगमों को स्वीकार चुके हैं। वे निजीकरण के एकाधिकार को स्वीकार चुके हैं। हम इसे बौद्धिकता और आत्मा का निजीकरण बता सकते हैं।

आप जब भी इस वैश्वीकरण के बारे में सोचते हैं, तब आपको इसे समेकित और सम्पूर्ण तौर पर सोचना होगा, लेकिन विचित्र बात यह है कि हम जब संसार के वैश्वीकरण होने की बात करते हैं, तब यह खुद समेकित पर नहीं, बल्कि असमेकित सिद्धान्तों पर आधारित होती है। यह व्यवस्था किस तरह बरकीना फासो के कपास उत्पादों को अपने भीतर शामिल कर सकती है? क्या कैरिबियाई शिल्पकारों, बाली के मछुआरों और नोवा स्कोशिया की आबादी को अपने भीतर शामिल कर सकता है? इस व्यवस्था में बंग्लादेश के किसानों, होंडूरास के खेतिहर, कंबोडिया के लकड़हारों भारतीय मछुआरा समुदायों, देशी घुमक्कड़ प्रजातियों, अफगानिस्तान के लड़की छात्र समुदायों, जांबिया के काष्ठ शिल्पकारों और चीन के बाँध विस्थापितों को अपनी व्यवस्था में जगह दे पाएगा?

कॉरपोरेट निर्देशित या चालित वैश्वीकरण में इन लोगों की जरूरत है या वे इस प्रक्रिया में शामिल हैं। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें सम्भव है कि दो अरब लोगों या कहीं उससे भी ज्यादा लोगों को जगह नहीं मिल सकती है, लेकिन यहाँ कुछ अच्छी खबर भी है। इस व्यवस्था या प्रक्रिया से बाहर किए गये लोग अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे हैं कि वर्ष 2009 में अक्टूबर में बोलिविया के देसी लोगों ने अमेरिका के साथ भ्रष्ट गैस डील को रद्द कर दिया। इसके बाद उन्होंने अपने

राष्ट्रपति को भी खारिज कर दिया। वेनेजुएला में लोगों ने अपने राष्ट्रपति को शासन में बनाए रखा, क्योंकि अमेरिका वहाँ सैन्य सरकार की स्थापना चाहता था। अमेरिकी अखबार द न्यूयॉर्क टाइम्स ने वेनेजुएला के लोगों के समर्थन में 'ध्वस्त होने से 24 घंटे पहले' शीर्षक से अपना संपादकीय लिखा। इन्हीं लोगों ने इराक में प्रजातन्त्र की स्थापना के नाम पर युद्ध की घटना को अंजाम दिया।

ब्रिटेन में प्रधानमन्त्री का अस्तित्व खतरे में पड़ गया था। अमेरिका का तत्कालीन राष्ट्रपति भी चुनावी वर्ष में अपनी पराजय को लेकर डर और आशंका के माहौल में था। युद्ध के बादलों के बीच भी वहाँ एक रजत रेखा (चमचमाती हुई उजली रेखा) मौजूद थी। सम्भवतः इतिहास में पहली बार इराक में युद्ध की शुरुआत से पहले युद्ध के खिलाफ इतना बड़ा जुलूस अभियान सड़कों पर देखने को मिला। इराक-युद्ध के खिलाफ इतना विशाल जुलूस का प्रत्यक्ष गवाह लंदन बना। युद्ध से पूर्व दुनियाभर में युद्ध के खिलाफ इतने बड़े मोर्चे के खिलाफ मीडिया का प्रोपेगंडा देखने को मिला।

सिएटल, कानकुन, दावोस और न्यूयॉर्क, वाशिंगटन, प्राग, जिनेवा और क्यूबेक में वैश्वीकरण की प्रक्रिया से गैर-बराबरी में हो रहे इजाफा के खिलाफ प्रतिरोधों की संख्या में दिन-ब-दिन बढ़ोतरी हो रही है। इसमें कमी नहीं आएगी। कॉरपोरेट नादिरशाही के खिलाफ पोर्ट अलेग्रे में वर्ल्ड सोशल फोरम के बैनर तले सैकड़ों जन-संगठन इकट्ठा हुए। यह अलग मसला है कि उन्हें अपने सभी सवालों के जवाब मिले या नहीं। सच तो यह है कि वे बहुत सारे सही सवाल लेकर इकट्ठा हुए थे।

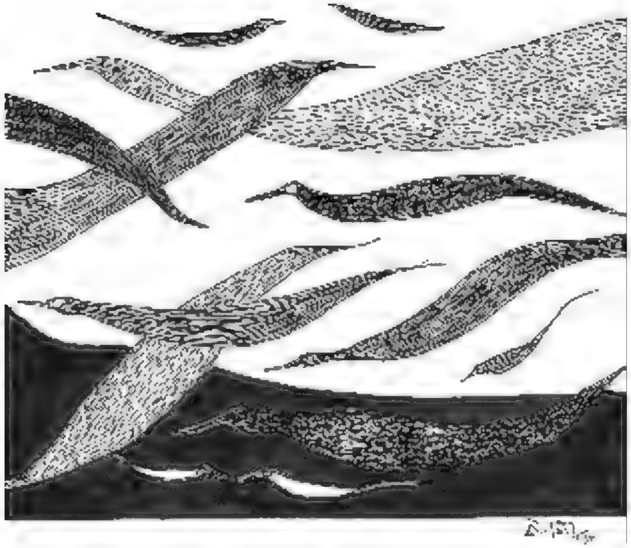
विश्व-परिदृश्य पर कॉरपोरेट की तानशाही के खिलाफ व्यापक तौर पर ऊर्जा खुलकर सामने मोर्चे पर आ रही है। ये युद्ध के खिलाफ से लेकर सामाजिक हक हासिल करने के अभियान को लेकर गोलबन्द हस्ती दिख रही है। सिएटल और कानकुन समझौतों के खिलाफ हो रहे विरोधों को वैश्विक स्तर पर महसूस किया जा सकता है।

ये ताकतें अपना ध्रुवीकरण किसी लालच के बतौर नहीं बल्कि सामाजिक हक के लिए चलाए जा रहे अभियानों के लिए कर रही हैं। लोगों का ध्रुवीकरण लोगों के हो रहे दमन के खिलाफ लड़ाई जारी रखने के लिए और उन्हें न्याय दिलाने के लिए हो रहा है। राजनीतिक सुधार आन्दोलन और अल्पसंख्यकों को अधिकार दिलाने के लिए बने मोर्चा तक सभी की आकाँक्षा प्रजातन्त्र और मानवाधिकार हासिल करने की है। यह सब घट रहा है। इन सभी मुद्दों पर अन्य लोगों को आपने मुझसे पहले सुना। अलग-अलग समाज में संसाधनों के मूलभूत तौर पर फिर से बँटवारे को लेकर बहुत व्यापक पैमाने पर लड़ाई चल रही है। यह सबकुछ विश्व के परिदृश्य पर घट रहा है। इन ताकतों को कैसे जीत मिलेगी, यह एक चुनौती है। दूसरी दुनिया सम्भव है। दूसरी दुनिया सम्भव है।

एक सेमिनार (2009) में दिये गये अंग्रेजी वक्तव्य का यह अनुवाद युवा लेखक और पत्रकार स्वतंत्र मिश्र ने किया है।

❑

गिरीश मिश्र



भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति

भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर ने बीस वर्ष से अधिक का समय पूरा कर लिया है। इसकी शुरुआत 1989 में हुई जब इसके वैचारिक आधार 'वाशिंटन आम राय' का प्रतिपादन जॉन विलियम्सन ने किया, वैसे उसकी पृष्ठभूमि थैचर और रीगन के सत्तारूढ़ होने, अर्थशास्त्रियों के शिकागो स्कूल का दबदबा बढ़ने, सोवियत संघ एवं समाजवादी खेमे के अवसान के कारण अमेरिका के एकमात्र महाशक्ति बन जाने तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के शक्तिहीन होने और आत्मनिर्भर स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था की बात नवस्वतन्त्र देशों में भुलाने के साथ तैयार हो गयी थी।

वाशिंगटन आम राय पर आधारित भूमण्डलीकरण में राज्य की आर्थिक भूमिका को न्यूनतम बनाने और निजीकरण पर विशेष जोर दिया गया था। इस धारणा को रेखांकित किया गया कि राज्य संरक्षणवाद, सब्सीडी और अपने स्वामित्व में उद्यमों की स्थापना द्वारा अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव डालता है। वाशिंगटन आम राय ने विदेशी प्रत्यक्ष एवं संस्थागत निवेश के बेरोक टोक आने-जाने, कम्पनियों को मजदूरों की भर्ती और सेवा शर्तों को बिना सरकारी हस्तक्षेप तय करने तथा मजदूर संगठनों पर अंकुश लगाने पर जोर दिया।

न्यूयॉर्क टाइम्स के स्तम्भकार टॉमस एल. फ्रीडमैन ने घोषणा की कि भूमण्डलीकरण के इस नये दौर में विश्व शान्ति मजबूत होगी क्योंकि कोक-पेप्सी और पिज्जा हट के पित्जा तथा मैकडोनल्ड के हैमबर्गर का उपभोग बढ़ेगा और इनको पीने-खाने वाले

आपस में नहीं लड़ेंगे। फ्रांसिस फुकुयामा के अनुसार लोकतन्त्र और पूँजीवाद का दबदबा बढ़ने से वर्ग संघर्ष समाप्त हो जाएगा और इस प्रकार कोई मूलभूत सामाजिक-आर्थिक संरचनात्मक बदलाव न होगा यानी इतिहास का अन्त हो जाएगा। पूँजीवादी व्यवस्था शाश्वत बन जाएगी। फ्रीडमैन ने अपनी पुस्तक 'द लेक्सस एण्ड दी ओलिव ट्री' और फुकुयामा ने अपनी कृति 'दी एण्ड ऑफ हिस्ट्री एण्ड द लास्ट मैन' अपने दावों को विस्तार से रखा। वाशिंगटन आम राय पर आधारित भूमण्डलीकरण द्वारा अपनाई गयी विश्व दृष्टि के अनुसार बाजार कुशल और स्वालित होंगे। उनमें कोई भारी उतार-चढ़ाव नहीं होंगे। दूसरे शब्दों में, मन्दी और तेजी के लम्बे काल नहीं आयेंगे। अब जरा पीछे मुड़कर देखें कि क्या वास्तविकता रही है। जहाँ तक आर्थिक संवृद्धि की रफ्तार का प्रश्न है भूमण्डलीकरण के वर्चस्व के पहले विश्व अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर 4.8 प्रतिशत थी जबकि उसके बाद 3.2 प्रतिशत रही है। इसके परिणामस्वरूप वाशिंगटन आम राय को अपनाए जाने के पहले प्रति व्यक्ति आय की बढ़ोत्तरी की ओसत दर फ्रांस, जर्मनी और जापान में क्रमशः 4 प्रतिशत 4.9 प्रतिशत और 8 प्रतिशत प्रति वर्ष रही जबकि इसके बाद क्रमशः 1.6 प्रतिशत, 1.8 प्रतिशत और 2 प्रतिशत हो गयी। ब्रिटेन क्रमशः 1.6 प्रतिशत, 1.8 प्रतिशत और 2 प्रतिशत से घटकर 2.1 प्रतिशत और अमेरिका में 2.2 प्रतिशत से गिरकर 1.9 प्रतिशत हो गयी। वाशिंगटन आम राय में रोजगार के अवसर बढ़ाने पर प्रत्यक्ष कोई जोर नहीं है जबकि उसके पहले उसको प्रमुखता दी गयी थी। वाशिंगटन आम राय के अपनाए जाने के पहले केंसवादी आर्थिक चिन्तन का काफी कुछ दबदबा था। इस कारण राज्य बेरोजगारी कम करने पर जोर देते हुए उपयुक्त नीतियाँ अपनाता और सक्रिय हस्तक्षेप करता था। याद रहे कि द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने से वाशिंगटन आम राय अपनाए जाने के पहले ब्रिटेन में औसतन 1.6 प्रतिशत श्रमशक्ति बेरोजगार था फ्रांस में बेरोजगारी की दर 1.2 प्रतिशत, जर्मनी में 3.1 प्रतिशत और अमेरिका में 4.8 प्रतिशत रही। वाशिंगटन आम राय पर आधारित भूमण्डलीकरण के जमाने में इन सब देशों में बेरोजगारी बढ़ी। ब्रिटेन में 7.4 प्रतिशत, जर्मनी में 7.5 प्रतिशत और अमेरिका में 6.1 प्रतिशत पर पहुँच गयी। तत्काल अमेरिका में वह 10 से लेकर 17 प्रतिशत के बीच विभिन्न परिकलन विधियों द्वारा अलग-अलग बतलाई गयी है। दो अमेरिकी अर्थशास्त्रियों ने विश्वबैंक के लिए एक शोध पर वर्ष 2004 में तैयार किया जिसके अनुसार अर्थव्यवस्था में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अस्थिरता आयी है। उन्होंने यह भी रेखांकित किया है कि इस अस्थिरता का आर्थिक संवृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

एक अन्य मार्के की बात यह है कि भमूण्डलीकरण के वर्तमान दौर में समाज के अन्तर्गत आर्थिक विषमता बढ़ी है और भारत जैसे देश में क्षेत्रीय असमानताओं में भी भारी इजाफा हुआ है। याद रहे कि वाशिंगटन आमराय से अनुप्राणित आर्थिक नीतियों एवं सुधार कार्यक्रमों के पहले मिश्रित अर्थव्यवस्था के युग में सामाजिक-आर्थिक

विषमताओं तथा क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने पर जोर रहता था। नेहरू-इन्दिरा गाँधी युग में योजनाएँ रोजगार के अवसरों को बढ़ाने तथा पिछड़े इलाकों में उद्योग धन्धे स्थापित करने पर जोर देती थी। आज स्थिति भिन्न है। बाजार की शक्तियों को सर्वोच्च मानकर चलने के कारण धनी-गरीब के बीच की खाई बढ़ रही है। फोर्ब्स पत्रिका द्वारा प्रकाशित अबरपतियों की सूची में भारतीयों की संख्या बढ़ रही है तो साथ ही अर्जुनसेन गुप्ता समिति के अनुसार दरिद्रों की जमात का भी विस्तार हो रहा है जहाँ 20 रुपए या उससे कम पर दैनिक गुजर-बसर करने की मजबूरी है। भारत के पश्चिमी तथा दक्षिणी राज्यों के मुकाबले अन्य राज्य पिछड़ते जा रहे हैं। इधर विश्व बैंक और भारत सरकार ने समावेशी आर्थिक संवृद्धि का नारा दिया है। इससे तात्पर्य है कि ट्रिकल डाउन प्रभाव का दायरा बढ़ाया जाए जिससे बढ़ती हुई आय का कुछ हिस्सा टपक कर निम्नवर्गीय लोगों को झोली में जाए जिससे असन्तोष न बढ़े। इसका यह कतई मतलब नहीं है कि विषमता को मिटाना एजेण्डे पर है। प्रख्यात अमेरिकी अर्थशास्त्री दिवंगत जॉन के नेथगाल ब्रेथ के पुत्र जेम्स गालब्रेथ द्वारा प्रकाशित अध्ययन के अनुसार विकसित देशों में डेनमार्क को छोड़ सर्वत्र आर्थिक विषमता बढ़ी है। विकासशील देशों में भी यही हाल है।

जहाँ तक पूरी दुनिया का प्रश्न है, वाशिंगटन आम राय के जमाने में दक्षिण अमेरिकी देशों को छोड़कर सभी जगह आर्थिक विषमता बढ़ रही है। जेम्स गालब्रेश के अनुसार दक्षिणी अमेरिकी देश अपवाद हैं क्योंकि उन्होंने नवउदारवादी वाशिंगटन आमराय को अलविदा कहा है। चिली, वेनेजुएला, ब्राजील, अर्जेंटिना आदि ने अपना अलग रास्ता चुना है। उनका मानना है कि आर्थिक विषमता आपराधिक प्रवृत्तियों और राजनीतिक अस्थिरता को जन्म देती और बढ़ाती है।

वर्तमान भूमण्डलीकरण के समर्थकों के इस दावे को वास्तविकता ने बड़ा गहरा झटका दिया है कि आर्थिक गतिविधियों में कोई विशेष उतार-चढ़ाव नहीं आएगा और वे सुचारू रूप से चलती रहेंगी। अमेरिका के एक बड़े अर्थशास्त्री रॉबर्ट लुकास ने अमेरिकन इकोनॉमिक एसोसिएशन के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए 10 जून 2003 को दावा किया कि वे दिन लद गये जब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था उतार-चढ़ाव या मन्दी-तेजी के संकट के त्रस्त होती थी। मन्दी से उसने निजात पा लिया है और अब निरन्तर ऊपर ही चढ़ती जाएगी। उन्होंने रियल बिजनेस साइकिल थ्योरी वास्तविक व्यापार चक्र का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें मन्दी से स्थायी मुक्ति को विस्तार से बतलाया गया था। इस दावे को वास्तविक घटनाओं ने जल्द ही झुठला दिया। वाशिंगटन आम राय पर आधारित भूमण्डलीकरण के दौर में एक नहीं, पाँच बार मन्दी आयी है। तत्काल विश्व जिस मन्दी की चपेट में है वह 1930 के दशक की महामन्दी के बाद सबसे भयानक है और वह कब जाएगी, कहना मुश्किल है। तमाम कर्णप्रिय समाचारों के बाद भी जिम्मेदार अर्थशास्त्री निश्चित रूप से कुछ भी कहने को तैयार नहीं हैं। केंस के जीवन और चिन्तन सम्बन्धी अधिकारिक विद्वान प्रो.

रॉबर्ट स्किडेलस्की ने अभी कुछ हफ्तों पहले प्रकाशित अपनी पुस्तक केस-द रिटर्न ऑफ द मास्टर में वाशिंगटन आमराय को मन्दी की बारम्बारता बढ़ने तथा तत्कालीन मन्दी के लम्बा खींचने के लिए जिम्मेदार माना है।

लॉर्ड स्किडेलस्की ने रेखांकित किया है कि अगर केंस जिन्दा होते तो वे कभी वर्तमान भूमण्डलीकरण को स्वीकार नहीं करते। केंस विदेशी पूँजी के निर्बाध प्रवाह के विरोधी थे। वे भारत जैसे देश में विदेशियों द्वारा हमारी राष्ट्रीय परिसम्पत्तियों पर कब्जा जमाने को ठीक नहीं मानते थे। हमारे द्वारा देशी निवेश और बचत पर निर्भरता कहीं अधिक श्रेयस्कर होती क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से कम जोखिम भरी होती। विश्वास न हो तो उपर्युक्त पुस्तक के पृष्ठ 185 को देख सकते हैं। आज जरूरत नेहरूवादी नीतियों को गाली देने वाले केंस के विचारों के आईने में अपना चेहरा देखने की है।

यह अनायास नहीं था कि अप्रैल में लन्दन में आयोजित जी-20 के देशों ने वाशिंगटन आम राय के चिन्तन को ठुकरा दिया और राज्य की सक्रिय आर्थिक भूमिका पर जोर दिया (देखे देशबन्धु 10 अप्रैल, 2009)। जहाँ तक फ्रीडमैन के इस दावे का सवाल है कि कोक पेप्सी पित्जा और हैमबर्गर का सेवन करने वाले आपस में नहीं लड़ेंगे, वह कब का कूड़ादान में चला गया है। इराक, कुवैत युद्ध, सर्विया और अमेरिका, बोसनिया की घटनाओं कारगिल की लड़ाई, अमेरिका में 9-11 हमलों, इराक और अफगानिस्तान पर अमेरिकी आक्रमण, आतंकवादी घटनाओं की बारम्बारता में वृद्धि, हर जगह बढ़ती असुरक्षा तथा ग्यारह महीने पूर्व मुम्बई पर आतंकवादी हमलों आदि ने साबित कर दिया है कि वह विवेकहीन, अति उत्साह में किया गया दावा है। फ्रिडमैन ने अपने गलत दावे के लिए माफी नहीं माँगी है मगर फ्रांसिस फुकुयामा ने अपने द्वारा रचित इतिहास के अन्त के दावे को भूल मान लिया है। आज जरूरत है कि हम भूमण्डलीकरण और उसके वैचारिक आधार की पुनर्समीक्षा करें और देखें कि क्या वे प्रासंगिक रह गये हैं। पश्चिमी देशों में गम्भीर चिन्तन हो रहा है मगर हमारे यहाँ सन्नाटा है। क्यों?

विनोद शाही



बहुराष्ट्रवादी वैश्वीकरण और हिन्दी का बाजार

खुले बाजार की माँग को दौहराता बहुराष्ट्रवाद पिछले तीन दशकों में वैश्वीकरण की मुख्य पहचान बनता चला गया है यानी समझने की बात यह है कि वैश्वीकरण का असल अर्थ अगर विश्व-बाजार है, तो उसका व्यावहारिक रूप या सीमा बहुराष्ट्रवाद के रूप में दिखाई देती है। मंजिल और यथार्थ के बीच अभी बहुत फासला है।

तथापि जिसे हम विश्व-बाजार की जमीन पर खड़े विश्ववाद के भव्य प्रसाद की तरह देखना चाहते हैं, वह कम-अज-कम मीडिया के भाषा-बाजार के रूप में जरूर एक हकीकत बन कर उभरा है।

मीडिया की भाषा में, दुनिया भर की हजार भाषाओं के बीच की अलहदगी को इतना तरल बना दिया है कि अब हम कम से कम सांस्कृतिक चेतना के तल पर जरूर एक विश्ववादी अर्थ-संरचना का हिस्सा होने लगे हैं। इस तरह विश्ववाद को पहली दफा एक ठोस जमीन मिली है। इस तरह वैश्वीकरण का अब तक जो इतिहास 'आरोपित' था, वह पहली दफा एक 'वास्तविक विश्ववाद' की शक्ल लेने लायक हो रहा है।

आधुनिक काल के वैश्वीकरण के पीछे एक वैज्ञानिक औद्योगिक क्रान्ति खड़ी थी, इसलिए वह मध्यकाल के वैश्वीकरण के मुकाबले में ज्यादा शहरी भी थी और व्यापक भी, परन्तु चूँकि वह जल्द ही साम्राज्यवादी मनसूबों की ताकत बन कर तीन चौथाई दुनिया को औपनिवेशिक गुलामी में ले जाने वाली हो गयी; इसलिए इस 'शेष

दुनिया' के लिए वैश्वीकरण एक 'आरोपित' वस्तु बन कर आया, इसे हम 'आधुनिक वैश्वीकरण' का मुख्य अन्तर्विरोध कह सकते हैं। यहाँ थोड़ा इसके इतिहास में जाने की जरूरत है। मध्यकाल में धर्म-संस्कृतिमलूक 'जेहाद' या 'कूखण्ड' जिस जमीन पर खड़े थे, वह व्यापारिक और सभ्यतामूलक सत्ता-वर्चस्व के संघर्ष की जमीन जैसा कुछ था। धर्म-संस्कृति वाला पहलू तो एक चेहरा या बहाना भर था, असल में पीछे खड़ी थीं—इस्लाम या ईसाइयत से ताल्लुक रखने वाली सभ्यताएँ और उनके बहुराष्ट्रीय व्यापारिक गठबन्धन, परन्तु चूँकि यह वैश्वीकरण, आधुनिक समय के वैश्वीकरण जितना गहरा नहीं था, इसलिए उस दौर में सभ्यताएँ, अलहदा शक्लोसूरत या शख्सियत के साथ बनी खड़ी रह पायी। 'अजनबी' या 'विजातीय' संस्कृति के लिए इन सभ्यताओं की दुनिया में कोई जगह न थी। उन्हें या तो मिटा दिया जाता था, या धर्मान्तरण के जरिये दबा कर हाशिये पर डाल दिया जाता था।

तथपि भारत में मध्ययुगीन वैश्वीकरण भी, गहरे सांस्कृतिक रूपान्तर की जरूरत से बास्ता हुआ था, जहाँ अजनबी और विजातीय तत्त्वों के लिए भी सह-समान्तर अन्तर्विकास मुमकिन हो पाया था। इसे भारत के सन्दर्भ में मौजूद, उसकी एक खासियत के रूप में समझा जा सकता है। भारत में सांस्कृतिक चिन्तन के वैश्विक रूप बहुत अर्से से मौजूद रहे हैं। ईसा में एक-डेढ़ सहसाब्दि से आर्य-संस्कृति में 'कृष्णन्तों' विश्वमार्यम्' के रूप में एक अलग तरह का वैश्वीकरण दिखाई देता है। चक्रवर्ती होने से ताल्लुक रखने वाला अश्वमेध भी एक अलग तरह की गणतान्त्रिकता और अन्य के 'आत्मसातन' के तत्त्वों से युक्त नजर आता है 'अजनबी' और विजातीय' के रूप में जो 'पर या अन्य' है, उसके पराभव या दमन में सामूहिक नरसंहरों वाली तबाही के इतिहास ज़्यादा नहीं मिलते। लगता है कि यह 'अन्य का पराभव', एक नैमित्तिक या 'नोशनल' वस्तु रही होगी। दूसरे, आत्मसातन में 'अन्य की संस्कृति' की मौजूदगी के लिए जगह छोड़ी जाती थी। जैसे इन्द्र के साथ वरुण की उपास्य के रूप में स्वीकृति मुमकिन हुई या विष्णु के साथ शिव, त्रिदेवो में एक हो सके। मध्ययुगीन वैश्वीकरण में, इसी तर्ज पर हम इस्लाम की पीरों या सूफियों को, अपने सन्तों और भक्तों के साथ समान्तर एवं समान श्रद्धा के लायक होने और जनमानस के द्वारा स्वीकृति पा सकने की स्थिति में देखते हैं। अजनबी और विजातीय के रूप में जो 'अन्य' है, उसका आत्मसातन बेशक भारत में एक लम्बे इतिहास में मौजूद रहा है, परन्तु दुनिया में अन्यत्र वह अब कहीं जा कर, मीडिया की भाषा की जमीन पकड़ने के बाद, जड़ें जमाने की कोशिश करता दिखाई देता है।

लग सकता है कि यह भारत के अतीत के गौरव की बेजा प्रशंसा जैसा कुछ है। भारत में नवजागरण के दौर में अतीत के औपनिवेशिक किस्म के-याको प्रतिक्रियावादी कोटि के पुनरुत्थान ने, तब से लेकर अब तक, हमारे अतीत के विधायक पक्ष को भी सन्देहस्पद बना कर रखा हुआ है। खुद को आधुनिक कहने, अपने पश्चिमीकृत होने या वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त होने का सुबूत दिया करते हैं। हालाँकि अचेतन

पर उनके ऐसा करने की वजह, प्राच्यवादी प्रचार का असर होता है। यों भारत के अतीत की बाबत प्राच्यवादी—नुक्तेनिगाह भी दो तरह की रही है। एक नजरिये से समस्त अतीत को अविकसित ज्ञान-परम्परा के खाते में डाल कर खारिज कर देने की बात की जाती रही है; परन्तु गम्भीर अध्ययन इस निष्कर्ष को खारिज करते रहे हैं, पर भारत के अतीत की श्रेष्ठता को इस नजरिये से स्वीकार कर लेने के बावजूद यह प्राच्यवादीयुक्त 'निगाह' यह कहती है कि भारत अतीत में बुलन्दियों तक गया था, पर उसका वर्तमान शोचनीय है। हालाँकि इस दूसरे विकास से एक हद तक सहमत होना मुमकिन है, परन्तु यहाँ एक और बात भी साथ ही उठानी जरूरी है—जिसे यह नज़रिया नजर-अन्दाज करता है। वह यह है कि वर्तमान के शोचनीय हो जाने के बावजूद, भारत में अतीत की श्रेष्ठता का विधायक पक्ष पूरी तरह नष्ट नहीं हो गया था और इसलिए प्रयासपूर्वक वर्तमान को सम्भालने-संजोने के लिए वैज्ञानिक या तर्क-विवेकपूर्ण पुनर्विचार अवश्य होना चाहिए। अपनी जमीन से जुड़ी और विरासत में पायी ज्ञान की परम्पराओं का वर्तमान के मुताबिक नवविकास ही हमारी मुक्ति का एकमात्र तरीका है। इस मामले में 'आयातित आधुनिकता' हमारी ज्यादा मदद नहीं कर सकती।

कबीलाई दौर से कृषिमूलक सभ्यता के दौर में प्रवेश करते हुए भारत ने कभी जिस अपनी तरह की वैश्विकता को पाया था, वह मनुष्यकेन्द्रित थी; बल्कि ठीक से कहें तो मनुष्य-देह-केन्द्रित और दूसरे वहाँ प्रकृति इस देह के साथ सीधे रिश्ते बनाती हुई मौजूद थी। यहाँ वैश्विक हो सकने के लिए विश्व-भर तक पहुँचना या उसे जीतना जरूरी नहीं था। बात वह एक सार्वभौम अभिव्यक्ति के आसपास घूम रही थी, इसलिए, परन्तु अर्थ-संकेतों में व्यापक, सर्वभौम और वैश्विक हो सकने का वह दौर बीत गया। अब हम मीडिया की भाषा के बाजार की वजह से पहली दफा ठोस और व्यावहारिक होती वैश्विकता को देख रहे हैं। यह जो वैश्वीकरण है, वह हमें एक नये विश्ववादी विमर्श में उतरने की चुनौती दे रहा है। इस चुनौती के बरअक्स, हम अपने अतीत के अनुभवों से कुछ सीखने का एक विनम्र दावा जरूर पेश कर सकते हैं। बेशक वह आज के मुकाबले में अमूर्त्त, प्रतीकात्मक या केवल आनुष्ठानिक तक लग सकता है।

वैश्वीकरण का बाजारवादी रूप, मुख्यतः और मूलतः बहुराष्ट्रीय है। बहुराष्ट्रीय गठबन्धन, आर्थिक और राजनैतिक हितों की साझीदारी का बाजार खड़ा करते हैं। यह साझेदारी पिछली सदी के सामरिक गठबन्धनों की ज़रूरत और उसकी सियासत के मुकाबले में, ज्यादा तरल, अनेक पर्तों वाली और परस्पर-परिवर्तनीय है। यों सामरिक गठबन्धनों की भूमिका, बदले हालत में, भिन्न तरीके से बनी हुई है। जहाँ खुलता हुआ बाजार इन सामरिक गठबन्धनों के हितों के विरोध में जाता है, वहाँ आर्थिक प्रतिबन्धों की सियासत का सहारा लिया जाता है। दूसरे, बाजार के जरिये, कमजोर देशों की आर्थिकता और राजनीति-दोनों को नियन्त्रित करने के लिए यह बाजार, एक

नव-औपनिवेशिक भूमिका भी अख्तियार करता है तथापि देशों और उनकी मुद्राओं की सरहदें अब 'राष्ट्रीय राजनीति' के अधिकार क्षेत्र से बाहर होती जा रही है। इस तरह राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय यथार्थ के बीच एक द्वन्द्वात्मक रिश्ता दिखाई देने लगा है। और वह जो 'मीडिया की भाषा का बाजार' है, वह इस रिश्ते के भी पार जाने और खुलके...हालाँकि मीडिया का तन्त्र और उसकी प्रचारमूलक अभिव्यक्ति वाला पहलू—ये दोनों, अभी तक बहुराष्ट्रीय गठबन्धनों से ही मुख्यतः बँधे हैं, परन्तु वह इसके जरिये होने वाले काम का एक छोटा हिस्सा भर है। जिसे हम 'भाषा-सामग्री' कहते हैं, उसका भण्डार इतना व्यापक या असीम है कि उसे कोई भी बाजार कभी भी पूरी तरह अपने उत्पादन में बदलने लायक नहीं हो सकता है

दरअसल जब हम 'मानव चेतना को एक उत्पादन' की तरह देखते हैं तो उसके लिए 'कच्चे माल' का काम करती है—'भाषा'। मीडिया भाषा के दृश्य और श्रव्य रूपों से होता हुआ, अन्य इन्द्रियों के भाषा-संसार में उतरने की तैयारी भी कर रहा है। मीडिया भाषा के उत्पादित रूपों के लिए एक 'माध्यम' की भूमिका निभाता है, परन्तु मार्शल मैक्लुहान माध्यम के सन्देश हो जाने की स्थिति को भी विचारणीय मानते हैं। मिशेल फूको इसी तर्ज पर भाषा के ज्ञान की शक्ल में हुए उत्पादन को सत्ता के साथ बँधी वस्तु मानते हैं। उनके लिए उत्पादित भाषा और चेतना, सत्ता के ज्ञान या ज्ञान की सत्ता से उपजने वाली और उन्हें स्थापित करके करने वाली वस्तुएँ हैं। इस तरह मीडिया में भाषा की बाबत हमारी समझ को, सम्प्रेषण पर केन्द्रित बहस से उठा कर, ज्ञान-केन्द्रित बना दिया है, परन्तु 'ज्ञान' की दुनिया जटिल है। वह भाषा के संस्कृति से जुड़े पहलू को केन्द्र में लाती है। समाजवादी चिन्तक मीडिया के संस्कृति-उद्योग हो जाने के पहलू पर केन्द्रित हो कर, भाषा और चेतना के नये रिश्तों की व्याख्या कर रहे हैं।

बेशक ये नयी व्याख्याएं काबिले-गौर हैं, परन्तु इनका इस्तेमाल हमें इस समझ के साथ करना चाहिए कि मीडिया के भाषा और संस्कृति के रूप में चेतना का जो बाजारवादी पुनरुत्पाद होता है, वह मनुष्य की भाषिक-सांस्कृतिक चेतना की महाकाया का एक हिस्सा भर है। इसलिए इसकी वजह से पूरी मानवजाति की चेतना के बाजारवादी-सत्तावादी नियन्त्रण की बातें, महत्त्वाकांक्षी और अतिरेक से भरी हुई बातें ज्यादा हैं। दरअसल, जहां परिवर्तन दिखाई दे रहा होता है, हमारी सोच और समझ उस पर हमेशा जरूरत से ज्यादा ध्यान दिया करती है। बेशक इस दिशा में बढ़ रही हमारी समझ, हमें नयी अन्तर्दृष्टियाँ प्रदान कर रही है; परन्तु इससे एक और बात है, जो नजरअन्दाज होती जाती है। वह बात यह है कि बाजार की जरूरतों के मुताबिक मीडिया द्वारा जिस भाषा और संस्कृति का चेतनामूलक पुनरुत्पादन होता है, वह इस्तेमाल में आयी भाषा और संस्कृति के एकांश को ही अपने साँचे में ढालता है और अधिकांश में भाषा-संस्कृति पहले ही से उपलब्ध चेतना रूपों के द्वारा अपना लोकधर्मी या जनधर्मी अन्तर्विकास करना जारी रखती है। ज्यादातर तो भाषा-संस्कृति

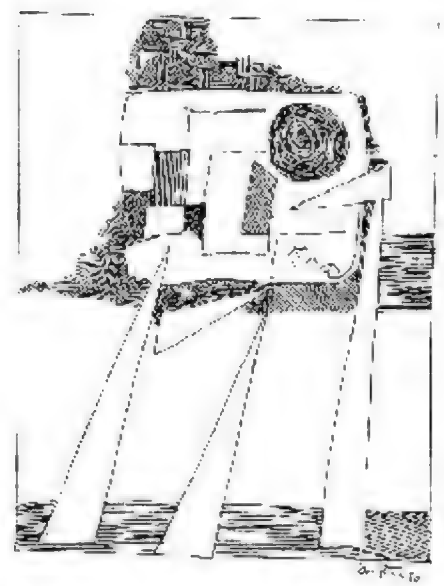
जीवन के यथार्थ रंगमंच पर अपनी महज रफ्तार से ही आगे बढ़ रही हाती है। मीडिया की भाषा के व्यापक प्रकार्य, इतना जरूर फर्क डालते हैं कि भाषा-संस्कृति के पूर्व उपलब्ध रूप, अपने सामुद्रिक वजूद में एक नयी विश्ववादी चेतना भी धारा का उतरना भी—ज्यादा बड़ी तादाद व रूप में देखा करता है।

इससे मीडिया की भाषा-संस्कृति का एक विश्व-जनवादी, अन्तःरूपान्तर भी सह और समान्तर रूप में—बाजारवादी रूपों के साथ ही दिखाई देना आरम्भ हो गया है यानी मीडिया की भाषा-संस्कृति पर बहुराष्ट्रीय-बाजारवाद और उसके सत्तातन्त्र का जितना नियन्त्रण बढ़ता-कसता नजर आता है; उसी अनुपात में उसका विश्वजनवादी अन्तः-आतिक्रमण भी प्रकट होता जाता है।

चूँकि अभी मीडिया में भाषा-बाजार की ही वर्चस्वी भूमिका है, इसलिए इसका सम्भावित विश्व-जनभाषा वाला व्यक्तित्व उभर कर सामने नहीं आ पा रहा है। इस भाषा बाजार की दो खासियतें हैं—एक है कि वह जनचेतना को नियन्त्रित करने वाले उपभोक्तकरण को जनसमाजों की 'अपनी इच्छा व जरूरत की तरह' लाता है। इस तरह वह लोगों को बहुराष्ट्रीय बाजार के उत्पदों का गुलाम बनाता है। इस गुलामी की सच्चाई को वह अपने ग्लैमर की लुभाने वाली चकाचौंध से ढाँपे-छिपाये रहता है। इसकी दूसरी खासियत है—सत्तावादी नजरिये को बनाये-टिकाये रखने के लिए प्रतिस्पर्द्धा को जीवन के बड़े से बड़े मूल्य की तरह पेश करके, इससे विकास और प्रगति के नाम पर लोगों को बड़े-छोटे, आगे-पीछे में विभाजित करने में मदद मिलती है और सत्ता शीर्ष पर खुद को बनाये रखने के लिए विश्वसनीय आधार पा लेती है। औपनिवेशिक मंडियों और पश्चिमी संस्कृति भी पिछले दौर की विश्वविजय का यह अगला चरण है। मीडिया का भाषाबाजार इस नये दौर की नवऔपनिवेशिकता को गहराने वाला कारगर माध्यम बन गया है।

परन्तु जैसा ऊपर इशारा किया गया, इसी भाषा-बाजार की सेंधों से भीतर दाखिल होकर जनभाषाएं अपनी नयी अभिव्यक्ति के लिए भी जगह पा रही हैं। नये मीडिया चैनल और इन्टरनैट इस मामले में लगातार खुल रहे है, परन्तु अभी विश्व जनभाषामूलक तब्दीली के संकेत बहुत ताकत नहीं पकड़ पा रहे। वह तब होगा, जब वैकल्पिक सत्ता-व्यवस्था के इरादों से लैस जनभाषाएँ उपभोक्ताकरण व पश्चिमी-मूल्यबोध के सतावादी रूपों से लड़ने की ठानेंगी। वह प्रतिरोध एक नयी मीडिया भाषा के विकास की वजह बनेगा। विविधताओं को आत्मसात करने वाला भारतीय संस्कृति का अतीत वाला प्रयोग, यहाँ हमारे लिए काम का साबित हो सकता है, जिसके तहत प्रतिरोधी-जनचेतना एक वैश्विक व्यक्तित्व वाली हो कर सामने आ सकेगी। ❑

जवरीमल्ल पारख



भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी सिनेमा

सिनेमा एक साथ कला भी है, सांस्कृतिक उत्पाद भी है, समाज परिवर्तन का एक माध्यम भी है, लेकिन उद्योग और व्यवसाय भी है। किसी फिल्म को बनाने के लिए सिर्फ कलाकारों की ही जरूरत नहीं होती, उसके लिए फिल्म से जुड़ी प्रौद्योगिकी का उपयोग करने की क्षमता रखने वाले तकनीशियनों की जरूरत भी होती है। इसी तरह फिल्म बनाने और उसका प्रदर्शन करने का प्रबन्धन करने वाले प्रबन्धकों की भी जरूरत होती है। फिल्म निर्माण में आवश्यक मशीनों, उपकरणों, कच्चे माल और निष्पादकों की व्यवस्था करने के लिए निवेश की जरूरत भी होती है। इस निवेश का प्रबन्धन करने वाले यानी कि फिल्म में पूंजी लगाने वाले व्यक्ति, समूह या कम्पनी के लिए यह जरूरी है कि लगायी गयी पूंजी न सिर्फ सुरक्षित रहे बल्कि उस पर उन्हें मुनाफा भी मिले। इस तरह फिल्म निर्माण और प्रदर्शन की पूरी प्रक्रिया किसी भी अन्य व्यवसाय की तरह एक व्यवसाय है और इसलिए बाज़ार की गतिविधियों और नियम-कायदों का असर पड़ना स्वाभाविक है।

इस सत्य को स्वीकार करने के बावजूद यह भी सच्चाई है कि फिल्म फ्रिज, कार या अन्य किसी भौतिक वस्तु की तरह का उत्पाद नहीं है। यह एक सांस्कृतिक उत्पाद है। रोटी, कपड़ा और मकान की तरह फिल्म के द्वारा हमारी किसी भौतिक जरूरत की पूर्ति नहीं होती। न ही वाशिंग मशीन, फ्रिज या माइक्रोवेव की तरह वह हमारे जीवन को आरामदेह बनाती है और न ही यह उन चीजों में शुमार होती है

जिनसे हमारा जीवन विलासपूर्ण बनता है। फिल्में हमारे जीवन में वही स्थान रखती हैं जो स्थान साहित्य, संगीत और अन्य कलारूपों को प्राप्त है। इनके द्वारा हमारी मानसिक जरूरतों की पूर्ति होती है। हमारा अच्छा-बुरा मनोरंजन होता है। हमें अच्छे विचार और अच्छे आदर्श मिल सकते हैं और हमें दुनिया को एक बेहतर दुनिया बनाने के लिए प्रेरित कर सकती हैं। साहित्य की तरह सिनेमा भी वैचारिक संघर्षों की अभिव्यक्ति का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। दुनिया में जो बदलाव हो रहा है, सिनेमा उनसे अछूता नहीं रहता और न रह सकता है। यदि पिछली एक शताब्दी में सिनेमा में निरन्तर बदलाव आया है, तो इसका कारण सिर्फ यह नहीं है कि सिनेमा से सम्बन्धित प्रौद्योगिकी का विकास हुआ है या सिनेमा के दर्शकों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है। इसका कारण यह भी है कि सिनेमा के माध्यम से जो सन्देश प्रसारित होते हैं, वे अपने समय और समाज से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रेरित और प्रभावित होते हैं। वे उनसे निरपेक्ष रहकर नहीं निर्मित हो सकते। इसलिए यदि पिछले दो दशकों में जिसे हम भूमंडलीकरण के दौर के रूप में जानते हैं, तो इस दौर का सिनेमा भी इस भूमंडलीकरण के प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। इसलिए इस दौर के सिनेमा को समझने और परखने का एक महत्त्वपूर्ण आधार स्वयं भूमंडलीकरण है।

भूमंडलीकरण की पहचान है पूंजी का भूमंडलीकरण और निगमीकरण। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी सिनेमा का बढ़ता अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार इसी का परिणाम है, लेकिन जिस तरह सूचना और संचार के दूसरे क्षेत्रों का निगमीकरण हुआ है, हिन्दी सिनेमा का उस तरह से अभी निगमीकरण नहीं हुआ है। यह अवश्य है कि कुछ बड़े राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय निगम भी हिन्दी फिल्मों के निर्माण और वितरण में दिलचस्पी लेने लगे हैं। वे फिल्म निर्माण, प्रदर्शन, दूसरी भाषाओं में डबिंग और वितरण आदि के कामों में सक्रिय नज़र आते हैं। यह कहा जा सकता है कि इस दौर में बनने वाली फिल्मों के पीछे भूमंडलीय बाज़ार की बढ़ती ताकत काम कर रही है। हिन्दी सिनेमा का व्यवसाय अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर काफी फैला है। ऑडियो, वीडियो कैसेटों, सीडी और डीवीडी का एक बिल्कुल नया बाज़ार निर्मित हुआ है। इसी तरह दो दशक पहले सिनेमाघरों में जाकर पांच-दस रुपये के टिकट खरीदकर कोई भी फिल्म देख सकता था। मल्टीप्लेक्स के आगमन ने उन्हीं फिल्मों की टिकटों को दस-बीस गुना बढ़ा दिया है। मल्टीप्लेक्स ने फिल्मों से होने वाली आय को बढाने में अहम भूमिका निभायी है। मल्टीप्लेक्स का अर्थशास्त्र कुछ इस तरह है--उतने ही क्षेत्रफल में पहले एक सिनेमाघर होता था, अब तीन-चार सिनेमाघर बनाये जाते हैं। इन सिनेमाघरों की क्षमता कुल मिलाकर पहले के एक सिनेमाघर से ज्यादा होती है, लेकिन प्रत्येक हॉल की दर्शक क्षमता काफी कम होती है। इस तरह इनमें प्रदर्शित होने वाली फिल्मों के दर्शक कम होने पर भी हॉल के खाली रहने की सम्भावना कम हो जाती है। यही नहीं पूरे हॉल की सभी सीटों के लिए टिकट दर एक ही होती है, लेकिन यह कीमत 100 रुपये से लेकर 500-700

रुपये तक होती है। टिकट दर सामान्य सिनेमाघरों से तीन-चार गुना ज्यादा होने के कारण प्रति हॉल होने वाली आय में भी काफी वृद्धि हो जाती है। मल्टीप्लेक्सों में विभिन्न तरह की उपभोक्ता वस्तुओं के विज्ञापन और छोटी-छोटी दुकानें भी इनकी आय का जरिया होती हैं। इस तरह पहले के सिनेमाघरों से कई गुना ज्यादा आय ही मल्टीप्लेक्सों की स्थापना का मकसद है। मल्टीप्लेक्स महज इमारत नहीं है, वरन वह उस मॉल संस्कृति का हिस्सा भी है जो महानगरों और शहरों में तेजी से उभरा है। मध्यवर्ग में पनपी उपभोक्ता संस्कृति में फिल्म देखना भी उपभोक्ता संस्कृति का एक हिस्सा है। यह मनोरंजन से कुछ ज्यादा है। यह शॉपिंग के आनन्द का विस्तार है। यहां फिल्म देखते हुए दर्शक अपने अभिजात होने या अभिजात वर्ग में शामिल होने का प्रदर्शन भी कर सकते हैं और उन साधारण फिल्म दर्शकों से दूर भी रह सकते हैं, जिनमें फिल्म देखने का 'अभिजात संस्कार' नहीं है। इस तरह इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने फिल्म देखने को भी उसी तरह उपभोग की वस्तु बना दिया है, जिस तरह वहां बैठकर कोला पीना या पॉपकॉर्न खाना। इस देखने में न तो रचनात्मक आस्वादन की सम्भावना बचती है और न ही जीवन के प्रति किसी विवेकपूर्ण समझ को विकसित करने की।

सिनेमा के दर्शकों का बड़ा हिस्सा शहरी मध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग से बना है। भूमंडलीकरण ने वैचारिक रूप से मध्यवर्ग को ही अपने प्रभाव में लिया है। पिछले दो दशकों से साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थाओं की प्रेरणा और प्रोत्साहन से चलायी जाने वाली आर्थिक उदारीकरण की नीतियों ने यदि एक ओर राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय पूंजीवादी निगमों को चहुँमुखी विस्तार के अवसर प्रदान किये, तो दूसरी ओर इसने मध्यवर्ग की महत्त्वाकांक्षाओं को भी निर्बाध रूप से फलने-फूलने के मौके दिये। देश-विदेश में ऊंची नौकरियों, शेयर बाज़ार में निर्बाध रूप से होने वाले उछालों ने मध्यवर्ग को इन नीतियों का ऐसा समर्थक बना दिया कि वह भी गाने लगा कि पूंजीवाद का कोई विकल्प नहीं। वह न तो यह देख पा रहा था कि इस विस्तार के मदमस्त हाथी के नीचे कौन कुचले जा रहे हैं और न ही यह देख पा रहा था कि शीतयुद्ध की समाप्ति के बावजूद दुनिया भर में हिंसा और युद्ध का पहले से भी अधिक फैलाव क्यों हो रहा है। यह महज संयोग नहीं है कि भूमंडलीय यथार्थ के पिछले दो दशक पूंजी के अनियन्त्रित विस्तार और वर्चस्व के ही दशक नहीं हैं, बल्कि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भयावह हिंसा और आतंक के भी दशक हैं। इन्हीं दो दशकों में पर्यावरण के सामने ऐसी चुनौतियां पैदा हो गयी हैं कि इस भूमंडल के नष्ट होने का वास्तविक खतरा पैदा हो गया है। इन दो दशकों ने उन सभी लोकतान्त्रिक और समतावादी मानव-मूल्यों के सामने प्रश्नचिह्न लगा दिया है, जिन्हें पिछले दो शताब्दियों में मानवजाति ने विकसित किया था। लोगों को समझाया जा रहा है कि बिना लोभ-लालच और स्वार्थ-भावना के मानव का विकास सम्भव ही नहीं है। जल्दी-से-जल्दी और किसी भी तरीके से अमीर बनने में कुछ भी बुराई नहीं है, क्योंकि

इसी से उन लाखों-करोड़ों लोगों को रोजगार मिल सकता है जो अब भी भुखमरी और बेरोजगारी का जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं। आंखों पर बंधी लोभ-लालच की पट्टी ने आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के समर्थकों को दुनिया के बहुसंख्यक लोगों की गरीबी और बदहाली को देखने से ही वंचित नहीं कर दिया था बल्कि अपने पैरों के नीचे से खिसकती जमीन को महसूस करने से भी वंचित कर दिया था। दरअसल, उनकी आंखों पर ही पट्टी नहीं बंधी थी, उनके कानों को भी वह पट्टी बांधे हुए थी कि वे अपने गुब्बारे में से निकलने वाली हवा की आवाज नहीं सुन सके। सितम्बर, 2008 में जब अमेरिका के विशाल बैंकों ने ताश के पत्ते की तरह एक-एक कर ढहना शुरू किया, तब ही यह सच्चाई एक बार फिर सामने आयी कि दरअसल पूंजीवाद तो कोई विकल्प है ही नहीं।

आर्थिक उदारीकरण के इन दो दशकों ने हिन्दी सिनेमा के परिदृश्य को भी तेजी से बदला है। हिन्दी सिनेमा ने इन दो दशकों में अपने व्यवसाय का बेतहाशा विस्तार किया है। पहले के किसी भी समय की तुलना में हिन्दी सिनेमा का व्यवसाय अधिक लाभकारी साबित हो रहा है। पहले यदि सौ में से दस फिल्में मुश्किल से कामयाब हो पाती थीं, तो सफल फिल्मों की संख्या पहले की तुलना में आज कई गुना ज्यादा बढ़ गयी है। इसने फिल्मों में पूंजी लगाना कम जोखिम भरा और ज्यादा आसान कर दिया है। यदि आज अपेक्षाकृत कम पूंजी में कामयाब फिल्में भी बनायी जा सकती हैं और उनका सफलतापूर्वक प्रदर्शन भी किया जा सकता है तो दूसरी ओर, पहले के किसी भी समय से ज्यादा बड़े बजट की फिल्में भी बनायी जा सकती हैं। इस दृश्टि से हिन्दी सिनेमा का तेजी से हॉलीवुडीकरण हो रहा है। हिन्दी सिनेमा के उद्योग के इस अनुकूल माहौल ने विदेशी पूंजी को भी अपनी ओर आकृष्ट किया है और कई विदेशी फिल्म और मीडिया कम्पनियां भी हिन्दी फिल्मों के निर्माण में भागीदारी करने के लिए उत्सुक हो रही हैं।

इस दौर की हिन्दी फिल्मों की मुख्य प्रवृत्तियों पर विचार करने पर भूमंडलीय यथार्थ के प्रति हिन्दी सिनेमा के रुख को काफी हद तक समझा जा सकता है। इस दौर में बनने वाली फिल्मों में दिखाई देने वाली मुख्य प्रवृत्ति का सम्बन्ध भारतीय पूंजीपति वर्ग की वैश्विक महत्त्वाकांक्षाओं से है। इस दौर में ऐसी बहुत-सी फिल्में बनी हैं, जिनमें भारतीय उद्योगपति का व्यापार अमेरिका, यूरोप, आस्ट्रेलिया, एशिया और अफ्रीका तक में फैला है। कुछ ऐसे हैं जिन्होंने भारत से लेकर अमेरिका तक में अपना व्यवसाय फैला रखा है तो कुछ ऐसे हैं जो पूरी तरह से अनिवासी भारतीय बन चुके हैं। 'दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे', 'परदेस', 'कभी खुशी कभी गम', से शुरू होने वाली विश्व विजय की यह कहानी 'नमस्ते लंदन', 'जानेमन', 'रेस', 'युवराज' तक अबाध रूप से चली आ रही है। इन सभी फिल्मों का भारत से रिश्ता यही है कि इन फिल्मों के नायक और नायिकाओं के लिए वर और वधू की खोज भारत में की जाती है ताकि विदेश में रहकर भी कथित भारतीय संस्कृति की रक्षा की जा

सके। इस दृष्टि से एक ओर इन उद्योगपतियों में यदि व्यावसायिक स्तर पर महत्त्वाकांक्षा वैश्विक नज़र आती है, तो दूसरी ओर, अपनी सांस्कृतिक पहचान के खो जाने का डर भी नज़र आता है। शायद इसी अंतर्द्वंद्व के जरिए ही वे देश-विदेश में रहने वाले भारतीय दर्शकों को फिल्म देखने के लिए प्रेरित कर पाते हैं। जाहिर है कि यदि भारतीय उद्योगपति महत्त्वाकांक्षाओं के घोड़े पर सवार होकर पूरी दुनिया में फैल रहे हैं, तो यह स्वाभाविक है कि शिक्षित मध्यवर्ग भी उससे पीछे नहीं है। यही कारण है कि इसी दौर में विदेशों में रहने वाले शिक्षित मध्यवर्ग को लेकर भी उतनी ही बड़ी संख्या में फिल्में बनी हैं। 'दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे', 'कल हो न हो', 'आ अब लौट चलें', 'हम-तुम', 'सलाम नमस्ते', 'तर-रम-पम', 'दोस्ताना', 'न्यूयार्क', 'माइ नेम इज खान', 'अनजाना अनजानी' आदि फिल्मों का उल्लेख किया जा सकता है। इन फिल्मों में सत्तर के दशक का वह ग्लानि भाव नहीं है जो 'पूरब और पश्चिम' जैसी फिल्मों में नज़र आता था। स्पष्ट ही इस दूसरी तरह की फिल्में मध्यवर्ग की महत्त्वाकांक्षा का ही प्रतिबिम्ब है जो विकसित विश्व में बसना चाहता है और विदेश जाने का कोई भी अवसर नहीं छोड़ना चाहता।

सफलता और समृद्धि हासिल करने की मध्यवर्गीय मनोवृत्ति सिर्फ विदेश जाने के रूप में ही व्यक्त नहीं हुई है। यह ऐसी फिल्मों के माध्यम से भी व्यक्त हुई है जहां कहानी तो भारत में ही चलती है, लेकिन जो सफलता के उन्मुक्त आकाश में उतने ही ऊँचे उड़ना चाहते हैं। 'फ़ैशन' फिल्म की नायिका मेघना माथुर प्रियंका चोपड़ा जब पहली बार मुम्बई आती है और उससे पूछा जाता है कि वह क्या बनना चाहती है तो वह अपने उत्तर में यह नहीं कहती कि वह मॉडल बनना चाहती है, बल्कि कहती है कि वह सुपर मॉडल बनना चाहती है। उत्तर भारत के एक छोटे से लेकिन आधुनिक शहर चंडीगढ़ के मध्यवित्तीय परिवार की इस लड़की की आकांक्षा दरअसल उस भूमंडलीकरण का परिणाम है जहां कामयाबी ही सबसे बड़ा मूल्य है, क्योंकि इस कामयाबी के साथ पैसा और प्रतिष्ठा दोनों जुड़े हैं। ग्लैमर की इस दुनिया में कामयाबी के जिस उच्च्व शिखर पर मेघना माथुर पहुँचना चाहती है, वहां पहुँचने के लिए मेघना के पास न कोई हुनर है और न ही प्रतिभा। यदि कुछ है तो स्त्री की युवा देह, जिसे फैशन की दुनिया ग्लैमराइज कर उन वस्त्रों और सौन्दर्य प्रसाधनों को बेचने के लिए प्रदर्शित करती है जो अभिजन समाज के लिए ही वरणीय हैं। फैशन की दुनिया में अपनी जगह बनाने के लिए, शीर्ष पर पहुंचने के लिए और लगातार शीर्ष पर बने रहने के लिए उन्हें वे सब समझौते करने पड़ते हैं, जिन्हें किसी भी रूप में सम्मानजनक नहीं कहा जा सकता लेकिन आगे बढ़ने की ललक में इन युवा देहों को इस बात का एहसास ही नहीं होता कि वे एक स्त्री के रूप में क्या खोती जा रही हैं। इन युवा देहों का इस्तेमाल करने वाले लोग महज व्यापारी हैं। उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं कि रैंप पर चलने वाली लड़कियां मानव-यन्त्र नहीं बल्कि सचमुच की मानव हैं। वे यह भी भूल जाती हैं कि उनकी जिस देह का

प्रदर्शन करके जो लोग अपना माल बेचना चाहते हैं, यदि उस माल को बेचने के लिए उन व्यापारियों को बेहतर युवा देह मिलेगी तो वे उन्हें उसी तरह ठुकरा देंगे जैसे उनसे पहले की लड़कियों को ठुकरा दिया गया था।

भूमंडलीकरण के इस पूरे दौर में सफलता एक बड़ा मूल्य है। कामयाबी को हासिल करने की दौड़ में मध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग के वे लोग जो छोटे शहरों, कस्बों आदि में रह रहे हैं, उनमें भी आगे बढ़ने और सफलता हासिल करने की जबर्दस्त होड़ लगी दिखाई देती है। निश्चय ही इसमें कुछ भी बुरा नहीं है, लेकिन सफलता को मानव-मूल्यों से भी बढ़कर मानने की प्रवृत्ति को इस दौर की फिल्मों में एक ऐसे लक्ष्य की तरह पेश किया गया है जिसमें कुछ भी अनैतिक नहीं है। लगभग एक दशक पहले बनी फिल्म 'ताल' 1999 में आर्थिक उदारीकरण और उपभोक्ता संस्कृति के गहरे प्रभाव को देखा जा सकता है। इस फिल्म के दो मुख्य पात्र उद्योगपति मेहता अमरीश पुरी और संगीतकार विक्रांत ऐसे चरित्र हैं जिनके लिए सफलता ही सबसे बड़ा मूल्य है। मेहता हिमाचल की वादियों में अपना उद्योग स्थापित करने के लिए संगीत के अध्यापक और लोक गायक तारा बाबू आलोकनाथ का इस्तेमाल करता है, क्योंकि इस संगीत अध्यापक की दोस्ती राज्य के उद्योगमंत्री से है, जिसकी अनुमति के बिना उद्योग स्थापित नहीं किया जा सकता। यही उद्योगपति मेहता और उसका परिवार काम निकल जाने के बाद इस संगीत अध्यापक को और उसके परिवार को आसानी से भूल ही नहीं जाता बल्कि उसे अपने घर से अपमानित कर निकालने में भी संकोच नहीं करता। इसी तरह युवा संगीतकार विक्रांत अनिल कपूर जो तारा बाबू के ही गाये-बजाय गीतों को रिमिक्स करके बेचता है, उसे अपने इस कृत्य पर बिल्कुल भी शर्मिन्दगी नहीं है, क्योंकि सफलता के लिए दूसरों को सीढ़ियों की तरह इस्तेमाल करना इस दौर की पहचान है और हिन्दी फिल्में इसी सच्चाई को सामने लाती है, लेकिन उद्योगपति मेहता और संगीतकार विक्रांत को इस बात का एहसास है कि वह जो कर रहे हैं, वह सही नहीं है। कहीं-न-कहीं उनमें ग्लानि का भाव भी है।

'गुरु' 2007 में इस तरह का ग्लानि का भाव भी नहीं है। स्वतन्त्र भारत में जो नया धनाढ्य वर्ग उभरा है और जिसकी आकांक्षा विश्व विजय से कम नहीं है, सफलता और समृद्धि उसका मूलमन्त्र है। सफलता हासिल करने के लिए किसी भी तरह की तिकड़म, धोखाधड़ी और कानूनों को पैरों तले रौंदने को जरूरी और जायज दोनों माना जाता है। इसे अमेरिका से लेकर इंडिया तक आसानी से देखा जा सकता है। भारत में धीरुभाई अम्बानी इस सफलता के सर्वोत्तम आदर्श प्रतीक हैं और हिन्दी सिनेमा इन्हें हमारे समय का महानायक बनाकर पेश कर रहा है। मणि रत्नम की फिल्म 'गुरु' इन्हीं धीरुभाई अम्बानी की जीवनगाथा कहती है। 'गुरु' का नायक गुरुकांत देसाई उर्फ गुरुभाई तुर्की से जायज-नाजायज तरीकों से इकट्ठा किए गये पैसों से हिंदुस्तान लौटकर व्यवसाय शुरू करता है। व्यवसाय के लिए कम पड़ने वाले पैसे वह ऐसी लड़की से विवाह कर हासिल करता है, जो एक बार घर से भाग चुकी

है। गुरुकांत देसाई के लिए कुछ भी अनैतिक नहीं है, बस अधिक से अधिक पैसा और अधिक से अधिक कामयाबी ही उसका लक्ष्य है। कामयाबी के लिए किए जाने वाले उसके कार्यों को ही फिल्म में उसके संघर्षों के रूप में पेश किया गया है। प्रतिद्वंद्वी उद्योगपतियों को बदनाम करना, राजनेताओं और सरकारी अधिकारियों को रिश्वत से या ब्लेकमेलिंग के जरिए अपने अनुकूल बनाना, फर्जी आंकड़ों और झूठी सूचनाओं के द्वारा अपने पक्ष में माहौल बनाना, यहां तक कि प्रतिकूल पत्रकारों पर हमले करवाना भी अनैतिकता में शामिल नहीं है। यही गुरुकांत देसाई जनता के पैसे के बल पर एक दिन हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा उद्योगपति बन जाता है। वह बिना शर्म और संकोच के कहता है कि "सफलता के बन्द दरवाजों को खोलने के लिए चांदी के जूते मारने पड़ते हैं और वही मैंने किया है।" वह अपनी तुलना महात्मा गांधी से करता है। महात्मा गांधी ने देश की आजादी के लिए कानून तोड़ा था और गुरुभाई ने देश के विकास के लिए कानून तोड़ा। इस तरह वह अपनी सफलता को देश की सफलता बनाकर पेश करता है।

इस दौर ने पैसा और पॉवर को ही प्रतिष्ठा का पर्याय बना दिया है। 'कॉरपोरेट' भी इसी तरह की फिल्म है, जहां सफलता के लिए कुछ भी किया जा सकता है और किसी भी हद तक जाया जा सकता है। शीतल पेय बनाने वाली दो कम्पनियों की प्रतिद्वन्द्विता न केवल प्रदूषित पेय को बाजार में बेचने को प्रेरित करती है बल्कि पकड़े जाने पर अपना अपराध अपने यहां काम करने वाले मातहत पर डालने में भी किसी तरह का संकोच नहीं किया जाता। यहां तक कि जब अपने ही परिवार के एक सदस्य के द्वारा अपराध का भंडाफोड़ होने का भय पैदा होता है तो उसको जान से मरवाने में भी संकोच नहीं किया जाता। उद्देश्य चाहे जो रहा हो, लेकिन 'गुरु' हो या 'कॉरपोरेट' वे इस सच्चाई को बहुत तीखे तौर पर सामने लाती है कि निगम पूंजीवाद का चरित्र दरअसल आपराधिक है, जिस पर 'विकास' का सुनहरा पर्दा डाल दिया गया है। इस अपराध में ये पूंजीपति अकेले नहीं है। पूरी व्यवस्था इनके साथ है। गुरुकांत देसाई हो या विनय सहगल, इनकी सफलता का कारण इनकी प्रतिभा नहीं बल्कि वह भ्रष्ट व्यवस्था है जहां राजनीतिज्ञ और नौकरशाह बिकने के लिए तैयार रहते हैं। फिल्मों में व्यक्त यह यथार्थ वही है जिसे हम टु जी स्पेक्ट्रम, आदर्श हाउसिंग घोटाला, कॉमनवेल्थ गेम्स घोटाला आदि उन दसियों घोटालों में देख सकते हैं जहां देशी-विदेशी उद्योगपतियों, राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों का नापाक गठजोड़ देश की सम्पदा को लूटने में लगे दिखाई देते हैं।

एक ऐसे समय में जब समृद्धि सफलता का पर्याय हो, वहां मध्यवर्ग के युवाओं के लिए इस सफलता को हासिल करना ही लक्ष्य बन जाता है। उनके लिए इस बात का कोई खास अर्थ नहीं रह जाता कि उन्होंने यह या वह रास्ता क्यों अपनाया है। 'फैशन' की मेघना माथुर हो या 'कॉरपोरेट' की निशिगंधा, दोनों के लिए कामयाबी के रास्ते पूंजी की उस दुनिया में खुलते हैं जिसकी सेवा कर वे भी उस शिखर पर

पहुंचने का स्वप्न देखने लगते हैं जिस शिखर पर 'गुरु' का गुरुकांत देसाई, 'कॉरपोरेट' का विनय सहगल और 'फैशन' का अभिजीत सरीन अरबाज़ खान जैसे व्यापारी बैठे हैं, जिनके लिए आदमी की कीमत यही है कि मुनाफा बढ़ाने में वे किस तरह और कब तक मददगार हो सकते हैं। इस बात को नहीं समझ पाने के कारण ही मध्यवर्गीय युवा पद, पैसा और प्रशंसा के उस झांसे में आ जाते हैं, जो ये व्यापारी अपना काम निकालने के लिए उन्हें देते हैं। मेघना माथुर को बड़ी गाड़ी मिलती है, फ्लैट मिलता है और इतना पैसा कि जिसके बारे में उसने सपने में भी नहीं सोचा था। कमोबेश निशिगंधा को भी यही सबकुछ हासिल होता है, लेकिन एक दिन आंखों के नीचे बढ़ती कालिमा के साथ मेघना अपने शहर लौट आती है और निशिगंधा जेल पहुंच जाती है।

इस दौर की एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति अपराध फिल्मों की है। इस दौर की फिल्मों में अपराध अन्य व्यवसायों की तरह एक व्यवसाय है, जिसके अपने जोखिम और अपने लाभ हैं। 'सत्या', 'कम्पनी' से लेकर 'ओंकारा', 'बंटी और बबली' और 'ओए लक्की ओए' तक ऐसी बहुत-सी फिल्मों के उदाहरण पेश किए जा सकते हैं, जहां अपराध एक व्यवसाय है और अपराधी एक व्यवसायी। 'कम्पनी' में माफिया डॉन मल्लिक अजय देवगन से रानी बाई सीमा विश्वास नाम की निम्नमध्यवर्गीय स्त्री अपने बेटे चन्द्रकान्त उर्फ चन्दू विवेक ओबराय की चिरौरी लगभग उसी तरह करती है जिस तरह कोई मां अपने बेटे की नौकरी के लिए उसके मालिक से करती होगी। इस दौर में महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार युवा वर्ग भी हो रहा है। ऐसे युवाओं की संख्या उन युवाओं से बहुत ज्यादा है, जिनको शिक्षा, पारिवारिक सम्पत्ति और किसी तरह के कौशल के अभाव में समाज और कानून द्वारा मान्य रास्तों पर आगे बढ़ने के अवसर नहीं दिये हैं। उनके लिए महत्त्वाकांक्षाओं को पूरे करने के आपराधिक रास्ते ही बचे हैं और हिन्दी सिनेमा में ऐसे युवाओं को केन्द्र में रखकर भी बहुत-सी फिल्में बनी हैं। ऐसे युवाओं का बाहुबल ठीक उसी तरह इस्तेमाल किया जा सकता है जिस तरह स्त्री की युवा देह।

'ओंकारा' के ओमी अजय देवगन, ईश्वर उर्फ लंगड़ा त्यागी सैफ अली खान और केशव उर्फ केसु फिरंगी उपाध्याय विवेक ओबराय के इसी बाहुबल का इस्तेमाल वे राजनीतिज्ञ करते हैं जिनके लिए सत्ता हासिल करने का रास्ता अपराध की दुनिया से होकर गुजरता है। 'ओंकारा' के तिवारी उर्फ भाईसाहब नसीरुद्दीन शाह इसी तरह के राजनीतिज्ञ हैं। वे चुनाव जीतने के लिए ओंकारा, लंगड़ा त्यागी और केसु फिरंगी जैसे युवाओं के बाहुबल का इस्तेमाल करते हैं। जाति और धर्म के नाम पर वे ऐसे युवाओं को अपने साथ लाने में कामयाब हो जाते हैं जिनके सामने भविष्य का ऐसा कोई सपना नहीं है जिसे स्वस्थ और सार्थक कहा जा सके। एक ऐसी दुनिया में जहां गुरुकान्त देसाई की तुलना गाँधी से की जाती हो, वहां युवाओं का अपराध और आतंक की दुनिया की तरफ बढ़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यह महज संयोग नहीं है कि 'रेस' जैसी फिल्में कामयाब होती हैं, जिसमें कोई भी पात्र सद्‌चरित्र नहीं है। सम्पत्ति को हड़पने के लिए भाइयों के बीच एक-दूसरे को मारने की कोशिशों पर आधारित इस फिल्म में स्त्री चरित्र भी कमोबेश वैसे ही हैं। रामगोपाल वर्मा, संजय गुप्ता और इन्हीं की तरह के ऐसे कई निर्माता-निर्देशक हैं, जो अपराध को ग्लोरिफाई करने वाली फिल्मों के द्वारा ही सफलता की सीढ़ियां चढ़ते रहे हैं। माफिया डॉन, आतंकवादी और एनकाउंटर विशेषज्ञ पुलिस वालों को नायकत्व प्रदान करने वाली फिल्मों ने खास लोकप्रियता हासिल की है। हालांकि इस तरह की फिल्में प्रायः हॉलीवुड की कामयाब फिल्मों की नकल पर बनायी गयी हैं, लेकिन इससे यह तो जाहिर होता ही है कि हमारे फिल्मकारों पर हॉलीवुड किस तरह हावी होता जा रहा है।

भूमंडलीकरण की उपज आतंकवाद भी है। आतंकवाद को विश्वव्यापी और खतरनाक बनाने में यदि अमरीका की नवसाम्राज्यवादी नीतियां जिम्मेदार हैं, तो उस प्रौद्योगिकी का भी हाथ है जो नवीनतम हथियारों और संचार प्रौद्योगिकी के रूप में सामने आये हैं। इस दौर में आतंकवाद को केन्द्र में रखकर लगातार फिल्में बनती रही हैं। भारत में आतंकवाद कई रूपों में सक्रिय है, लेकिन हिन्दी सिनेमा आमतौर पर कथित रूप से जिहादी या इस्लामी आतंकवाद को ही विषय बनाता रहा है। आतंकवाद यदि एक ओर देशभक्ति की भावनाओं को भुनाने का जरिया बनता है, तो दूसरी ओर, यह फिल्मों के लिए एक बहुत ही उत्तेजनापूर्ण और रोमांचकारी विषयवस्तु भी प्रदान करता है। इस तरह की अधिकांश फिल्में हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करते हुए भी दर्शकों के इस राजनीतिक दुराग्रह को मजबूत करती हैं कि "सभी मुसलमान आतंकवादी नहीं होते, लेकिन सभी आतंकवादी मुसलमान होते हैं।" जबकि अब हिन्दूत्वपरस्त आतंकवाद भी अपने खुंखार रूप में सामने आ चुका है। यहां यह नहीं भूला जाना चाहिए कि गुजरात में मुसलमानों का नरसंहार और बाबरी मस्जिद का विध्वंस, उड़ीसा, कर्नाटक आदि में ईसाइयों पर हमले भी आतंकवाद ही है। आतंकवाद पर बनने वाली फिल्में किस तरह का खतरनाक राष्ट्रवाद पैदा कर रही हैं, इसे 'ए वेडनेस्डे' फिल्म के माध्यम से समझा जा सकता है। 'ए वेडनेस्डे' जैसी फिल्में आतंकवाद से लड़ने के नाम पर आम आदमी की आड़ में हिन्दुत्वपरस्त फासिस्ट विचारधारा के प्रभाव में बनायी गयी फिल्म है, जो न सिर्फ उग्र राष्ट्रवाद को बढ़ावा देती है बल्कि सवर्ण मानसिकता को भी पुष्ट करती है। आतंकवाद से लड़ने के नाम पर यह हिन्दुत्व की ताकतों के 'प्रतिशोधी आतंकवाद' के पक्ष में जनसमर्थन जुटाने का काम भी करती है। मध्यवर्ग इस विचारधारा की गिरफ्त में आ चुका है इसे 26/11 को मुम्बई में हुए आतंकवादी हमले के सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

इस दौर के सिनेमा में मेहनतकश वर्ग का प्रतिनिधित्व लगभग खत्म हो गया है। किसान और मजदूर इन दो वर्गों को केन्द्र में रखकर बहुत कम फिल्में बनी हैं।

लगान, स्वदेस, स्वराज, पिपली (लाइव) आदि कुछ फिल्में अपवादस्वरूप गिनायी जा सकती हैं, लेकिन अधिकतर फिल्में मध्यवर्ग के विभिन्न स्तरों या अभिजात वर्ग पर ही केन्द्रित हैं। इस दौर की राजनीति और अर्थव्यवस्था के हाशिए पर भी किसान और मजदूर नहीं है, उसी का स्वाभाविक प्रतिबिम्बि हमें हिन्दी फिल्मों में भी दिखाई देता है। इस दृष्टि से जिन फिल्मों का उल्लेख किया गया है, वे महत्त्वपूर्ण हैं। 'स्वदेस' में एक युवक के इर्दगिर्द कहानी को बुना गया है, जो अमरीकी अंतरिक्ष संस्था नासा में वैज्ञानिक है और जो अपनी दाई मां को साथ ले जाने के लिए भारत आता है। वह दाई मां एक गांव में रहती है। इस तरह उसे भारत के एक गांव के यथार्थ को जानने का अवसर मिलता है। उसे वह गांव बहुत पिछड़ा हुआ लगता है। गांव में जरूरत के अनुसार बिजली की आपूर्ति नहीं है, सड़कें अच्छी नहीं हैं, शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं हैं। इसके अलावा गांव जाति और धर्म में भी बंटा हुआ है। प्रगति की दौड़ में गांव पिछड़ता जा रहा है। उनके पिछड़ेपन का समाधान फिल्मकार विदेशों में जा बसे भारतीयों के लौट आने में ढूंढता है, लेकिन इसी फिल्म में एक गरीब परिवार का प्रसंग आता है जो कर्ज के बोझ तले दबा हुआ है। वह परिवार इस गरीबी से मुक्ति के लिए जो प्रयत्न करता है, उसे गांव वाले इसलिए स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वह छोटी जाति का है। 'स्वराज : ए लिटिल रिपब्लिक' (2002) फिल्म में गांव में पानी पहुंचाने के लिए संघर्ष करने वाली चार दलित औरतों में से एक का पति बेरोजगार मजदूर है। वह जिस फैक्टरी में काम करता था, वह बन्द हो चुकी है। 'पीपली लाइव' किसानों द्वारा की जा रही आत्महत्याओं के माध्यम से वर्तमान व्यवस्था विशेष रूप से कॉरपोरेट मीडिया को व्यंग्य का निशाना बनाती है। किस तरह अपने हालात से तंग आकर एक किसान इस उम्मीद में आत्महत्या करने की सोचता है कि उसके बदले में उसके परिवार को एक लाख रुपये सरकारी अनुदान के रूप में मिलेंगे और यह रुपया उनके परिवार को कर्ज से मुक्ति दिलायेगा। यह इतिहास की विडम्बना ही कहा जायेगा कि जब देश औपनिवेशिक दासता से आक्रांत था, तब भी किसान कर्ज के बोझ तले दबा हुआ था और आज आजादी के बाद भी वह कर्ज के बोझ से मुक्त नहीं हुआ है। हां, यह जरूर है कि कर्ज के बावजूद तब किसान आत्महत्या नहीं करते थे, लेकिन आज किसान आत्महत्या करने के लिए मजबूर हैं।

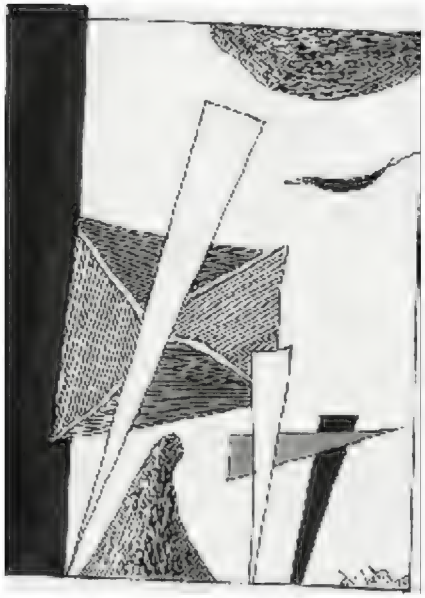
इस फिल्म में प्रेमचन्द के 'गोदान' का सन्दर्भ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'गोदान' का होरी भी कर्ज के बोझ से लदा है और मजबूर होकर उसे किसानी छोड़कर मजूरी करनी पड़ती है। मजूरी करते हुए ही एक दिन वह मर जाता है। यहां भी होरी महतो नामक एक किसान पात्र है, जो पूरी फिल्म में गड्ढा खोदता और उसमें से मिट्टी निकालता दिखाई देता है। एक दिन यह होरी महतो उसी गड्ढे में मरा पाया जाता है। 'पीपली लाइव' का होरी भी एक किसान ही है, जिसकी कर्ज की वजह से जमीन नीलाम हो जाती है और जो मिट्टी बेचकर जीवनयापन करता है। इस फिल्म का

नायक नत्था भी गांव से भागकर शहर में मजदूरी करने लगता है। यदि आजादी के साठ साल बाद भी किसानों की वही दशा है, जो आजादी से पहले थी, तो विकास और समृद्धि की लम्बी-चौड़ी बातें करने का कोई अर्थ नहीं है। 'पीपली लाइव' सिर्फ किसानों के यथार्थ को ही नहीं दिखाती, उससे कहीं भयावह उस नापाक गठजोड़ को दिखाती है, जिसके कारण होरी जैसे किसानों को बेमौत मरने के लिए मजबूर होना पड़ता है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में होरी के शोषकों के एक गिरोह को पेश किया था, 'पीपली लाइव' में भी ऐसा ही एक गिरोह है। उनके नाम और काम भले ही बदल गये हों, लेकिन एक मामूली किसान उनके लिए आज भी दुधारू गाय की तरह है।

इस दौर में उभरने वाले हिन्दी सिनेमा की इन मुख्य प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट है कि हिन्दी के सिनेमा ने जाने या अनजाने भूमंडलीकरण के दौर की सच्चाइयों को और उनसे जुड़ी चुनौतियों को व्यक्त किया है। इस पर विवाद हो सकता है कि हिन्दी सिनेमा ने भूमंडलीकरण के बारे में फैलाये जा रहे भ्रमों को दूर करने में कोई भूमिका निभायी है या नहीं। साहित्य और सिनेमा का काम अपने समय की सच्चाइयों को रचनात्मक और कल्पनाशील रूप में पेश करना है। लोकप्रिय मनोरंजन का माध्यम होते हुए भी हिन्दी सिनेमा ने इस काम को कुछ हद तक करने का प्रयत्न किया है। इस दौर की सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौतियों को आलोचनात्मक रूप में पेश करने वाली ऐसी कई फिल्मों के नाम गिनाये जा सकते हैं, जिनमें कोई मूलगामी दृष्टिकोण भले ही व्यक्त न हुआ हो, लेकिन भूमंडलीकरण का आंख मूंदकर समर्थन भी नहीं है। रंग दे बसन्ती, मुन्नाभाई एमबीबीएस, लगे रहो मुन्नाभाई, इकबाल, तारे ज़मीन पर, 3 इडियट्स, चक दे इंडिया, फ़िराक़, पीपली (लाइव), माइ नेम इज़ खान जैसी कई फिल्मों का उल्लेख यहां किया जा सकता है।

❑

वैभव सिंह



वैश्वीकरण के दौर में धर्म-संस्कृति

वैश्वीकरण के दौर में धार्मिक कूपमंडूकता ऐसा विषय है जिस पर हमें सबसे ज्यादा सोचना चाहिए, पर हम इस पर सबसे कम सोचते हैं। वैसे सोचना हम बहुत अच्छा समझते भी नहीं हैं। केवल उतनी ही सोच व चिन्तन को ठीक मानते हैं जो मौजूदा व्यवस्था, धर्म आस्था आदि को बरकरार रखने में सहायता करे। मनोवैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों, दोनों का मानना है कि ज्ञान केवल सत्य प्राप्त करने की इच्छा से नहीं बल्कि गलतियां करने के प्रति निडरता तथा बार-बार स्वयं को सुधारने के प्रति सहजता से प्रेरित होता है। यानी त्रुटियां करने, भूल-गलतियां करने की सम्भावना के प्रति सहज-स्वीकारी भाव पर ही ज्ञान का विकास आधारित होता है। लेकिन धर्म हो या ईश्वर, सभी मनुष्य को गलती, पतन या भटकाव से इतना भयभीत करते हैं कि मनुष्य ज्ञान के नये बीहड़ चुनौती भरे रास्तों को छोड़कर देव-मार्ग, प्रभु-मार्ग तथा धर्म-मार्ग पर चलने में विश्वास रखने लगता है। ज्ञान-प्राप्ति की पूर्व शर्त के रूप में 'अनलर्निंग' का पाठ भी हमने काफी आधे-अधूरे ढंग से पढ़ा है। ज्ञान के क्षेत्र में जिस प्रकार औपनिवेशीकरण हुआ है, उसने भी नये ज्ञान-सिद्धान्तों के विकास के मामले में हमें आत्मसंकोचों का शिकार बनाया है। यहां तक कि हम औपनिवेशिक प्रभुवर्ग पर अपनी निर्भरता को समाप्त करने को ही आधुनिकता विरोधी मानने लगे हैं।

धर्म तथा वैश्वीकरण के इस विषय पर भी अगर सबसे कम सोचा जा रहा

है तो इसका एक कारण तो दिमागी आलस है तो दूसरा कारण यह भी है कि हम धर्म और वैश्वीकरण के बीच सम्बन्धों को बहुत अधिक संजीदगी से समझना नहीं चाह रहे हैं। धर्म हमें कोई प्राचीन, पारम्परिक व निजी घटना लगती है जबकि वैश्वीकरण कोई आर्थिक परिघटना जिसका कोई बड़ा सांस्कृतिक पक्ष नहीं है। धर्म हमें घरेलू आस्था का मामला लगता है, जबकि वैश्वीकरण सोच समझकर अपनाया गया सार्वजनिक तर्कपूर्ण फैसला। धर्म हमें ज्यादा पास की, घर-परिवार की और पास-पड़ोस की चीज लगती है जबकि वैश्वीकरण कहीं दूर की घटना जिसका स्रोत भी हमसे दूर ही है फिर भले ही हम उससे कितना ही प्रभावित क्यों न हों। जबकि सच यह है कि वैश्वीकरण के अपने बड़े स्पष्ट सांस्कृतिक निहितार्थ हैं और उन निहितार्थों के लिए धर्म भी उसके लिए हथियार है और माध्यम भी। वैश्वीकरण ने धर्म सम्बन्धी आन्दोलनों तथा धर्म सम्बन्धी पहचानों के सवाल को और उग्र व तीखा बना दिया है। इसी दौर में फ्रांस में मुस्लिम आबादी के लोग बुर्का पहनने की आजादी के लिए ज्यादा जोर-शोर से लड़ रहे हैं। सिख अपनी पगड़ी को खालसा पहचान का प्रतीक बताकर उसके लिए अपने संगठन बना रहे हैं। इंग्लैंड की राजधानी लंदन के साउथहाल इलाके की भारतीय बस्तियों में धर्म का सवाल बड़े तीखेपन से उठाया जा रहा है। खुद भारत में संघ परिवार ने समाज के बड़े हिस्से पर अपना नियंत्रण कर रखा है और संघ से बड़ा देशद्रोही कोई संगठन नहीं है क्योंकि वह हिन्दुत्व के नाम पर भारत को कट्टरता, हिंसा तथा नफरत के जुनून की ओर ढकेल रहा है। यानी धार्मिक आस्था व अस्मिता पर वैश्वीकरण का असर बड़ा गहरा है और जिस तरह से धर्म के सवाल बाजार के दौर में उठाए जा रहे हैं, वे खतरे की घंटी की तरह भी हैं।

यह सही है कि धार्मिक कूपमंडूकता, संकीर्णता और मजहबी कट्टरता केवल वैश्वीकरण से नहीं पैदा हुई हैं बल्कि इससे पहले भी इनका अस्तित्व रहा है, बल्कि ज्यादा खतरनाक रूप में भी रहा है। 'अनल-हक' यानी मैं ही सत्य हूं कहने पर सूफी सन्त मंसूर को सूली पर चढ़ा दिया गया था। बाद में धर्म के नुमाइंदों से बगावत के खिलाफ अनलहक तो जैसे एक नारा सा बन गया और फैज ने अपनी एक शायरी में इसी से प्रेरित होकर कहा—'उठेगा अनलहक का नारा, जो मैं भी हूं और तुम भी हो, और राज करेगी खल्के खुद, जो मैं भी हूं और तुम भी हो।' भारत को धर्मप्रधान देश बताकर भी नये चिन्तन व तर्क जो धर्म का उल्लंघन करते हैं, उन्हें विकसित होने से रोका जाता है। मनुष्य की राह में ऐसा ईश्वर आकर खड़ा हो जाता है जो लाख समदर्शी, त्यागी और परदुःखकातर हो पर उसे पसन्द आते हैं सेवक और उनकी सेवा भावना। जहां सेवा-भाव पर इतना बल रहेगा वहां सच्चे विवेक, आलोचना तथा चिन्तनशीलता को विदा होना पड़ेगा। किष्किंधा कांड भी भगवान राम की जब ऋष्यमूक पर्वत पर हनुमान से पहली मुलाकात होती है, जिसमें हनुमान ब्राह्मण का वेश धारण कर उनसे मिलने आते हैं तब राम भी यही कहते हैं- 'समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।' यानी राम कहते हैं कि सब कोई मुझे समदर्शी; जिसे

कोई प्रिय या अप्रिय न होद्ध कहते हैं पर मुझको सेवक प्रिय हैं, क्योंकि वह अनन्यगति होता है। अनन्यगति का तात्पर्य है कि राम के अलावा उसका कोई और सहारा नहीं होता है। इस प्रकार श्रेष्ठ वह हुआ जो अनन्यगति के भाव से सेवा करना जानता है और इसके अतिरिक्त कुछ न सोचता है, न करता है। उसी को सबकुछ वांछित प्राप्त हो जाता है। अब इन धार्मिक मूल्यों का समानता, विवेकवाद तथा वैज्ञानिकता के सार्वभौमिक मूल्यों से कितना गहरा द्वन्द्व है इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। न केवल इन सार्वभौमिक मूल्यों से इसका विरोध है बल्कि प्रश्नाकुलता तथा सन्देह के माध्यम से सत्य तक पहुंचने की सामान्य मानवीय जिज्ञासा से भी इनका वैर है। धार्मिक मूल्य ईश्वर तक सीमित नहीं रहते हैं बल्कि सामाजिक आचरण व समाज-व्यवस्था तक को प्रभावित करते हैं। इसलिए उपरोक्त सेवा व सेवकत्व पर इतना बल अगर केवल राम-हनुमान के सम्बन्धों तक सीमित रहता तो चिन्ता की बात न होती। ये उनका निजी मामला होकर रह जाता। पर यह भाव तथा सम्बन्ध बाद में शक्तिशाली तथा निर्बल के सम्बन्धों को गढ़ने लगता है। शक्तिशाली अगर बुद्धिविरोधी है तो वह कमजोर परन्तु बुद्धिमान व्यक्ति से भी अनन्य भाव से सेवा की आकांक्षा करेगा और इस प्रकार समाज के पूरे बौद्धिक विकास को बाधित कर देगा।

धर्म प्रधानता की इस अवधारणा में प्रायः धर्म, धार्मिक अनाचार, अन्धविश्वास, पाखंड व धार्मिक उत्पीड़न सभी समानार्थक रूप ग्रहण कर लेते हैं और देश का मुख्य चरित्र धर्म के रूप में चिह्नित होने के बाद धर्म के आलोचक राष्ट्र के निन्दक के रूप में देखे जाने लगते हैं और राष्ट्र की समस्त आधुनिक सैन्य, पुलिस व कानूनी शक्तियों का प्रयोग कर इन धर्म-निन्दकों को रास्ते पर लाने की चेष्टा की जाती है। चिन्तकों के साथ ये समाज सबसे अधिक उपेक्षा के साथ पेश आता है और अक्सर तो उनका उत्पीड़न व बहिष्कार तक करता है क्योंकि प्रभुत्व को हिंसा के जोर पर स्थापित करना न अपराध माना जाता था और न अनैतिक। इसलिए धार्मिक हिंसा की चपेट में चिन्तक-विचारक भी ठीक उसी तरह आते थे जैसे हिन्दू धर्मशास्त्रों का हवाला देकर विधवाओं को भी जिन्दा जलाया जाता था या उन्हें जिन्दगी भर विधवा रखा जाता था। बताते हैं कि यूरोप में ईसाइयत के नाम पर सबसे बड़े युद्ध हुए जिनमें लाखों की जानें गयीं। धर्म से जुड़ी भावना और पहचान के प्रश्न पर ही भारतीय उपमहाद्वीप का विभाजन हुआ था, हिन्दुस्तान से पाकिस्तान को काटकर अलग करना पड़ा था। इस विभाजन ने 10 लाख लोगों की जान ले ली थी, 80 हजार औरतों के साथ बलात्कार हुआ था और करीब 2 करोड़ की आबादी का विस्थापन हो गया था। यह सब ईश्वर के नाम पर हुआ जो पूरी दुनिया का रचयिता और अभिभावक माना जाता है। शमशेर बहादुर सिंह जिनकी जन्मशती आरम्भ हो गयी है उन्होंने अपनी कुछ कविताओं में ईश्वर को कठघरे में खड़ा किया है और तरह-तरह के निरीह ईश्वरों की भक्ति करने के लिए मजबूर करने पर समाज के खिलाफ शिकायत

भी दर्ज करायी है। शमशेर के लिए ईश्वर हो या अध्यात्म सभी सन्दिग्ध हैं और मनुष्य की सारी आस्तिकता के बावजूद उन्होंने ईश्वर को मनुष्य के समक्ष निरीह पाया है। 'ओ मेरे घर' कविता में शिकायती स्वर में समाज से कहते हैं–

तूने ही युद्ध मुझे दिया
प्रेम ही मुझे दिया क्रूरतम कटुतम
और क्या दिया
मुझे भगवान दिये कई-कई
मुझसे भी निरीह मुझसे भी निरीह

यानी मनुष्य से भी निरीह था उसका भगवान पर मनुष्य की कल्पनाओं ने उसे सर्वशक्तिमान बना दिया। अगर हिन्दी साहित्य की ही बात करें तो एक पूरी परम्परा है लेखकों की जिन्होंने धर्म से जुड़े अन्धविश्वासों, संकीर्णता तथा रूढ़ियों से लड़ाई की है। हिन्दी उपन्यासों व कहानियों के नायक भी प्रायः वही रहे हैं जिन्होंने धर्म से टकराने का साहस दिखाया है। यशपाल के उपन्यास नायक धर्म की बर्बरता देखकर मार्क्सवादी हो जाते हैं और अज्ञेय का शेखर भी अपना जब हास्टल में रहने जाता है तो जनेऊ तोड़कर फेंक देता है। दलितों के बीच उठने-बैठने लगता है। रवीन्द्रनाथ के अमर उपन्यास 'गोरा' का नायक गोरा भी अन्त में धर्म की नकली सीमाओं को तोड़कर बाहर आ जाता है और ऐसे देवता का मंत्र मांगता है जो केवल हिन्दुओं का नहीं सारे भारत वर्ष का देवता हो। इन नायक-नायिकाओं के अलावा धर्म-अन्धविश्वास के बल पर छल-कपट करने के आधार पर लगभग सभी भारतीय भाषाओं में सशक्त कृतियों की रचना हुई है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण कृति कई बार में मुझे फकीर मोहन सेनापति की 'छह माण आठ गुंठ' लगती है जिसमें जुलाहे का काम करने वाले पति-पत्नी सरिया व भागिया की छह बीघा जमीन गांव का जमींदार सन्तान के लिए मन्दिर बनाने की रकम उधार देकर गिरवी रखवा लेता है और बाद में उसे हड़प कर जाता है। धार्मिक अन्धविश्वास से भरे लोग समझ नहीं पाते हैं कि सेठ-साहूकार किस तरह से उनकी जमीन पर आंख गड़ाए हुए हैं। कहने का अर्थ यह है कि हमारा पूरा इतिहास व साहित्य इन उदाहरणों से भरा हुआ है कि किस तरह समाज के सबसे कमजोर लोग धर्म के धोखे के शिकार होते हैं और बड़े व ताकतवर लोग धर्म का इस्तेमाल अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए करते हैं। कई बार तो मुझे लगता है कि धर्मों के भीतर से जो सम्प्रदाय, मत व शाखाएं फूटती हैं वे भी धर्म की जकड़बन्दी के खिलाफ, उसकी कूपमंडूकता से मुक्ति की प्रतीक होती हैं, भले ही आगे चलकर उनमें कई और विकृतियां प्रवेश कर जाएं। पर कुल मिलाकर उनकी भूमिका बन्द घर में खिड़की व रोशनदान बनाने जैसी होती है।

पहले के समाजों में धर्म ही शोषण करता था, और धर्म से ही मानवीय मुक्ति का स्वप्न भी निर्मित होता था। सभी कलाएं व दर्शन धर्म से नियंत्रित होते थे। आधुनिक

युग में धर्म व दर्शन-कलाओं का सम्बन्ध टूटता है और ईश्वर के स्थान सृष्टि के केन्द्र में मनुष्य के होने का विचार सामने आता है। यूरोप में चर्च से संघर्ष और राजा से संघर्ष एक ही जैसा था। पर धर्म की सत्ता से मनुष्यता का संघर्ष कभी सहज नहीं रहा है। वह कई तरह की बाधाओं से भरा हुआ रहा है क्योंकि धर्म का भावनात्मक आधार बड़ा प्रबल रहा है। आज के दौर में भी यह संघर्ष अधिक चुनौती भरा है क्योंकि नयी तकनीक, दौलत व संचार माध्यमों से लैस वैश्वीकरण की प्रक्रिया धर्म के साथ सांठगांठ रखती है। पूरा देश जैसे एक आर्थिक व सांस्कृतिक ब्लैक मेलिंग से ग्रस्त है जिसमें कहा जा रहा है कि उदारीकरण को बिना सवाल-जवाब के चुपचाप अपना लो, वरना हमेशा ही पिछड़े रहोगे। आर्थिक उदारीकरण एक खास सांस्कृतिक ब्लैकमेलिंग को प्रोत्साहित कर रहा है जिसमें नयी अर्थव्यवस्था के लिए नयी संस्कृति को अपनाने का दबाव बढ़ा है। दरअसल उदारीकरण चारों ओर एक 'फीलगुड' माहौल पैदा करता है और इस 'फीलगुडनेस' को बनाए रखने के लिए धर्म को अपना सहयोगी बना लेता है। जिस तेजी से सेंसेक्स बढ़ता है उसी तेजी से धर्म-अंधविश्वास भी। शेयर के दाम अच्छे पाने के लिए काली मां को मक्खन का प्रसाद चढ़ाने या ब्राह्मण-ब्राह्मणी को दान करने का नुस्खा सुझाने वाले ज्योतिषियों व बाबाओं ने भी अपना बाजार कायम कर लिया है। यह ऐसा वैश्वीकरण है जिसने धर्म को तो सशक्त किया है, पर संस्कृति का दमन किया है।

इस प्रक्रिया को ठीक से समझने के लिए धर्म व संस्कृति के बीच अन्तर करना भी आवश्यक है। धर्म पारलौकिक सत्ता में आस्था, कर्मकांड, पूजा-उपासना प्रणाली, धार्मिक सिद्धान्त आदि है तो संस्कृति लगभग पूरे जीवन को समेटती है जिसमें कला, संगीत, अभियनय, वास्तुकला, शिल्प, मूर्तिकला आदि सभी कुछ होता है। अब आप आसपास नजर दौड़ाएंगे तो पाएंगे कि मन्दिर, मस्जिद तो बहुत बन रहे हैं। नये-नये प्राचीन शिवमन्दिर बन रहे हैं और नवों ग्रहों को शान्त करने वाली अंगूठियां बांटी जाती हैं। पर हमारी चित्रकलाएं, वास्तुकला, शिल्प, संगीत आदि सभी कुछ हाशिए पर जा रहा है। कव्वाली जैसी विधा तो पहले फिल्मों में खूब इस्तेमाल होती थी, अब वह विदेशी धुनों व संगीत की भेंट चढ़ गयी है। भाषा भी संस्कृति का ही हिस्सा है और अच्छी भाषा बोलना अपने में सांस्कृतिक कर्म में भागीदारी का रूप है। पर भाषा के स्तर पर भी भयंकर खिलवाड़ हो रहा है। सत्ता पर काबिज लोगों को हिन्दी में बात करने पर हीनता-बोध होता है। इसी तरह लगभग सभी भारतीय भाषाएं हाशिए पर जा रही हैं और उनमें पहले जो ज्ञान की पुस्तकें छपती थीं, अब उनकी संख्या घट रही है। केवल मीडिया, साहित्य या मनोरंजन की भाषाएं बनकर वे कितने दिन तक अपना महत्त्व बरकरार रख सकेंगी, इस पर सन्देह होता है। हिन्दी को भी तरह-तरह से अंग्रेजी की जूनियर पार्टनर बनाने की कोशिश चल रही है और इस पार्टनरशिप में ही उसके भविष्य की सबसे अच्छे ढंग से सुरक्षा देखी जा रही है। इसमें हिन्दी के अंग्रेजीकरण की परियोजना सक्रिय है और इसी को चित्रकार व रंगकर्मी प्रभुजोशी

ने 'क्रियोलाइजेशन' कहकर इससे सचेत रहने की सलाह दी है। वह बताते हैं कि भाषा का 'क्रियोलाइजेशन' वह होता है जिसमें पहले उसका व्याकरण छीन लिया जाता है, फिर उसमें अनाप-शनाप ढंग से अंग्रेजी शब्द घुसाए जाते हैं और फिर कहा जाता है कि अपनी लिपि छोड़कर भाषा को रोमन में लिखना चाहिए। इस तरह धीमी गति से पूरी भाषा को पराई भाषा का अंग बना दिया जाता है और फिर उसे समाप्त करने का आधार पैदा कर दिया जाता है। संस्कृति के इन सभी पक्षों जिसमें भाषा भी शामिल है, के बारे में चिन्ता किसी को नहीं है। अगर चिन्ता है तो बस धर्म व धार्मिक विश्वासों की जो 'सीज मेंटेलिटी' यानी अपने उत्पीड़न के बोध तथा रक्षात्मक रवैये वाली मानसिकता का निर्माण कर सकता है। ये ऐसे समाज-रचना की शुरुआत है जो सांस्कृतिक रूप से दरिद्र व नकलची होता है पर धार्मिक रूप से अति कट्टर हो सकता है। यह ऐसा समाज भी हो सकता है जिसके पास अपनी भाषा, वैज्ञानिक व संगीत-कलाएं नहीं होती हैं पर अपना धर्म व उससे जुड़े सैकड़ों अंधविश्वास जरूर होते हैं। खतरा इतना बढ़ जाता है कि धर्म ही संस्कृति व सांस्कृतिक पहचान का खतरनाक ढंग से पर्याय बन जाता है और संस्कृति के धर्मनिरपेक्ष रूप समाप्त होते जाते हैं। मनुष्य के जीवन की जो अन्य रचनात्मक अभिव्यक्तियां हैं उनपर वैश्वीकरण का प्रभाव बढ़ता जाता है, यानी उन पर सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रभाव पड़ता है जबकि धर्म की संकीर्णता ही सबसे प्रिय, स्वाभाविक तथा व्यवहारिक लगने लगती है। इस तरह धार्मिक कट्टरता तथा संकीर्णता का अधिक बढ़ना समाज की एक बड़ी बीमारी की ओर संकेत करता है और वह बीमारी है सांस्कृतिक पिछड़ापन। सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा समाज ही प्रायः धार्मिक रूप से अधिक सक्रिय दिखाई देता है। इस सांस्कृतिक पिछड़ेपन को बाजार संचालित मीडिया ने और अधिक बढ़ावा दिया है जिसने मनोरंजन व जानकारी के नाम पर कचरा परोसने में सक्रियता जतायी है।

इस प्रक्रिया में एक ओर जैसा कि इतिहासकार के. एन. पणिक्कर कहते हैं कि संस्कृति का 'जीवाश्मीकरण' हो रहा है, यानी जीवित, स्पन्दनशील तथा परम्परा से जुड़ी संस्कृति के ढेरों रूप रसातल में जा रहे हैं, लोगों का उनसे सम्बन्ध विच्छेद हो रहा है। दूसरी ओर संस्कृति का 'स्टूडियोकरण' हो रहा है। धारावाहिक, नृत्य, बहस, समाचार, गीत-संगीत आदि के कार्यक्रमों का टीवी स्टूडियो से जो प्रसार हो रहा है, उसमें संस्कृति को नये रूप-रंग तथा रोचक अदाओं के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। पणिक्कर लिखते हैं- आज इलेक्ट्रानिक मीडिया जिस कदर फैला है उससे प्रतीत होता है कि जल्द ही संस्कृति का कृत्रिम उत्पादन उसकी जैविक प्रस्तुति का स्थान ले लेगा।[1] संस्कृति के जीवाश्मीकरण तथा स्टूडियोकरण दोनों से ही घातक रूप से धर्म व उससे जुड़ी फूहड़ प्रस्तुतियों का बाजार तेजी से फैला है। यह माना जाता था कि सभ्यता के विकास के साथ अन्धविश्वासों की मृत्यु हो जाएगी, पर अंधविश्वासों के मूर्छित दैत्य को वर्तमान प्रसार-माध्यमों ने संजीवनी सुंघाकर फिर खड़ा कर दिया है।

एक समय था जब साहित्यकार और विचारक अपनी कृतियों और लेखों में 'नयी रोशनी', 'नयी बहने वाली प्रचंड हवा' और 'नये जमाने' की बातें करते थे क्योंकि इस नयेपन में उन्हें मानवता के बड़े स्वप्न पूरे होने की आशा थी। पुरानी व्यवस्थाओं के अन्त की नाटकीय उम्मीदें हर तरफ थीं। प्रेमचन्द जब 1934 में जागरण पत्र का सम्पादन कर रहे थे तो पत्र के सम्पादकीय में ऐसे जमींदारों का बड़ा उपहास उड़ाते थे जो आने वाले समय की करवट को न भांपकर पहले की तरह रियाया से मार-पीटकर उनसे लगान वसूलने, नजराने और बेगार प्रथा तथा ऐयूयाशी से भरी जीवनशैली को बरकरार रखना चाहते थे। साथ ही वह तरह-तरह के धार्मिक अनाचारों को फैलाने वाले साधु-सन्तों की भी निर्मम आलोचना करते थे। अपने 1934 के जागरण पत्र के सम्पादकीय में वह लिखते हैं- 'हिन्दू समाज में पूजने के लिए केवल लंगोट बांध लेने और देह में राख मल लेने की जरूरत है। अगर गांजा और चरस उड़ाने का अभ्यास भी हो जाए तो और भी उत्तम।'[2] प्रेमचन्द ये तब लिख रहे थे जब उस सूचना क्रांति और वैश्वीकरण की कहीं आहट न थी जिसे ज्ञान के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से बेहद उपयोगी बताया जा रहा है। अब इसी वैश्वीकरण के दौर में प्रेमचन्द की तरह धार्मिक पराधीनता पर इस साफ ढंग से अपनी बात कहने वाले नजर नहीं आते हैं। धार्मिक मूर्खता और अन्धविश्वास-ज्योतिष के उजड्डपन पर तीव्र प्रहार करने वाले लोग विरले होते जा रहे हैं। प्रेमचन्द तो रूस के साथ भी खड़े थे जहां क्रांति के बाद गिरजाघरों में फैले पादरियों के तंत्र को समाप्त किया जा रहा था और जागरण के ही सम्पादकीय में लिख रहे थे- 'धर्म के नाम पर जो हरेक धर्म में स्वांग हो रहा है, उसकी जड़ें खोदना ईश्वर की सबसे बड़ी सेवा है और सोवियत सरकार इसी पाखंड का अन्त करना चाहती है।'[3] यानी वैश्वीकरण के पहले लेखक-विचारक धार्मिक कठमुल्लेपन और धर्म की तानाशाही के विरोध में अधिक मुखर थे पर वैश्वीकरण ने लाभ-लोभ की संस्कृति का प्रसार कर विचार तथा निर्मम आत्मालोचन को एक तरह से समाप्त कर दिया है। विवेकवाद के विकास को वैश्वीकरण ने कई स्तरों पर या तो बाधित कर दिया है या विवेकवादी स्वरों को बाजार की भयंकर चिल्लपों में दबा दिया है। विचारशीलता तथा आत्मालोचन की पूरी बौद्धिक संस्कृति के क्षरण का लाभ धर्म के ठेकेदारों ने उठाया है और अब वे बिना आलोचना या बहस की चुनौती का सामना किए बेधड़क अपना कारोबार चला रहे हैं। आलोचना, बौद्धिक पर्यवेक्षण तथा विचार के बगैर सूचनाएं परोसने की विश्वव्यापी प्रक्रिया ने धर्म को भी निरापद वातावरण प्रदान कर दिया है। ये अखंड धर्म-ध्वजा ऐसे देश में फहरा रही है जहां भौतिकवादी दर्शन काफी समृद्ध था। लोकायत जैसा दर्शन-सम्प्रदाय था जिसने कहा था कि शरीर का निर्माण पांच नहीं चार तत्त्वों जल, वायु, अग्नि तथा पृथ्वी से हुआ है और उन्होंने आकाश को इससे बाहर कर दिया था जो एक प्रकार से मानव जीवन पर दैवीय प्रभाव का अस्वीकार था। उनकी यह भी मान्यता

थी कि कोई अन्य संसार नहीं होता है, न तो स्वर्ग और न नर्क। शिव लोक या स्वर्ग-नर्क की बातें धूर्तों ने गढ़ी हैं।[4]

धर्म पहले इसलिए भी प्रभावशाली भूमिका में रहा है क्योंकि भय, जीवन के विनाश तथा असुरक्षा ने मनुष्य को हमेशा ही घेर रखा था। पुरानी कृषि प्रधान सामन्ती व्यवस्था में धर्म आम जनों को दिलासा व सान्त्वना देता था कि एक दिन सब ठीक हो जाएगा क्योंकि जो शक्तियां उसे वर्तमान में पीड़ित कर रही हैं, उनसे ऊपर भी कोई शक्ति है। पर वर्तमान समाज व्यवस्था जो एक प्रकार की पूंजीवादी समाज व्यवस्था है, उसमें तथा पुरानी सामन्ती व्यवस्था में समानता यह है कि आज भी भय, असुरक्षा व जीवन अकारण नष्ट होने के खतरे का अहसास मनुष्य के साथ है। पूंजीवाद ने मनुष्य को अपने ढंग से असुरक्षित बनाया है और मनुष्य को असुरक्षित बनाने में वह खास लाभ भी देखता है। यानी मनुष्य पहले भी असुरक्षित था और विज्ञान-तकनीक के इतने विकास के बावजूद वह उतना ही असुरक्षित है। इसमें आजीविका, जीवन, स्थिरता आदि सभी तरह की असुरक्षाएं शामिल हैं। मैं अपने ऐसे कई मित्रों को जानता हूं जो पहले ईश्वर व धर्म पर सन्देह जगाने वाले तर्कों व दर्शनशास्त्र पर बातें करते थे पर अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में 10-12 घंटे काम करने के बाद उन्हें लगता है कि धर्म ही उन्हें छंटनी, मानसिक अवसाद व खालीपन से पैदा खीज से बचा सकता है और अब वे कई कर्मकांड करने लगे हैं और साल में दो चार बार तीर्थस्थलों पर जाने लगे हैं। वैष्णो देवी मन्दिर जाना और फिर लौटकर उसका प्रसाद बांटना तो सामाजिक हैसियत का प्रतीक बन गया है। यानी जो लगभग धर्मनिरपेक्ष थे और नास्तिक भी वे अब उदारीकरण के माहौल में अधिक धार्मिक व आस्तिक होते जा रहे हैं क्योंकि उदारीकरण ने आजीविका, जीवन व स्वतंत्रता के नष्ट होने के भय को नये सिरे से रचा और आम मनुष्यों पर थोपा है। अत्यधिक धनी लोग अस्थिर अर्थव्यवस्था में निरन्तर धन खो देने की चिन्ता में डूबे हैं और निर्धन लोग पहले की तरह लाचारी की मनोदशा में ईश्वर को पुकार रहे हैं। अमीरों की जीवनशैली में भारतीयता विलुप्त हो रही है पर धार्मिकता हावी हो रही है। नये 'स्टेटस सिम्बल' पैदा होने के कारण भारतीयता को खो देने में उन्हें विकृत किस्म का आनन्द प्राप्त होता है और धर्म व ईश्वर के ढकोसलों में पड़ने से उन्हें मनोवैज्ञानिक सुरक्षा का अनुभव होता है। लोक में वे मनुष्य विरोधी हो जाते हैं या मनुष्यता से निरपेक्ष हो जाते हैं और ईश्वर के नाम पर परलोक सुधारते हैं। पश्चिमीकरण में डूबे ऐसे लोग पारम्परिक भारतीयों से ज्यादा पारम्परिक होते जा रहे हैं। वेद-पुराण लिखने वाले ऋषियों से अधिक धार्मिक होने की कोशिश कर रहे हैं। दूसरी ओर, मनुष्य का डर व गुस्सा कहीं फटकर व्यवस्था को ध्वस्त न कर दे इसके लिए 'सुरक्षित माध्यम' के रूप में पहले की तरह ही धर्म का सहारा लिया जा रहा है। जिस तरह सामंत व राजा को लगता था कि उसके अत्याचारों से पीड़ित लोग विद्रोह न करें, इसलिए उनका ईश्वर पर विश्वास पैदा करना व बनाए रखना आवश्यक है उसी तरह आज के पूंजीपतियों को लगता है

कि वे जिस तरह से नये जमाने के महाराजा हैं और लोगों का उत्पीड़न करते हैं उसका लोग विद्रोह से जवाब न दें इसलिए जरूरी है कि समाज में धर्म को बढ़ावा दो ताकि लोग कर्मकांड व पूजा-पाठ में अपना दुख भूलने व दुख दूर करने की कोशिश करें।

एक चीज और है जो वैश्वीकरण व धार्मिक मूढ़मतता दोनों की समानता की ओर इशारा करती है। वह यह कि दोनों ही गैर-आलोचनात्मक प्रक्रिया का अंग हैं। यानी बगैर आलोचना के दोनों को स्वीकार करने का दबाव है। पूंजी की ताकत की आप आलोचना नहीं कर सकते और न उसका विकल्प ढूंढने की बात कर सकते हैं। पूंजीवाद के खिलाफ कई जगहों पर प्रतिरोध हो रहा है, छात्र फीसें बढ़ाने, बुजुर्ग लोग पेंशन छीने जाने तथा मजदूर फैक्ट्रियों से निकाले जाने का विरोध कर रहे हैं पर पूंजीवाद को ऐसे प्रस्तुत किया जा रहा है कि उसकी आलोचना करना जैसे कोई राष्ट्रद्रोह है या समाज विरोधी आचरण है। इसी तरह धर्म तथा धार्मिक कूपमंडूकता को भी आलोचना से ऊपर बताया जा रहा है जबकि स्वयं धर्म के भीतर आलोचना की कई परम्पराएं रही हैं। यानी दोनों ही आलोचना के योग्य हैं पर दोनो ही फिलहाल बगैर किसी आलोचना का सामना किए अपना विस्तार कर रहे हैं।

समाज में धर्म की बढ़ते जकड़ का एक राजनीतिक पक्ष भी है जिसकी ओर कम ध्यान जाता है। वह यह कि वैश्वीकरण के दौर में दुनिया के कई मुल्कों में दक्षिणपंथी राजनीतिक दलों का उभार हुआ है। जिन देशों में पहले वामपंथ मुख्य विपक्ष की भूमिका निभाता था, वहां भी विपक्ष का स्थान दक्षिणपंथी दलों के हाथ चला गया है। भारत समेत इंग्लैंड, जर्मनी, इटली व फ्रांस के उदाहरण आपके सामने हैं। पास-पड़ोस के देशों में बांग्लादेश, पाकिस्तान और श्रीलंका में धर्म को भुनाने वाले दलों के पास बड़ा राजनीतिक स्पेस है। अमेरिका की दो दलीय व्यवस्था में रिपब्लिक पार्टी दक्षिणपंथी पार्टी मानी जाती है। उसे चर्च के पादरियों तथा समाज के प्रतिक्रियावादियों का समर्थन हासिल है। भारत में तो कांग्रेस भले ही मध्यमार्गी मानी जाती हो पर वह अक्सर दक्षिणपंथी पार्टी के रूप में कार्यरत रही है। अब भाजपा ने जब से राजनीति में अधिक व्यवस्थित, घोषित रूप में दक्षिणपंथ को स्थापित किया है। कई लोगों को कांग्रेस वामपंथी रुझान वाली पार्टी लगने लगी है जो कि वह न तो कल थी और न कल होगी। साम्प्रदायिक हिंसाओं से लाभ लेने के लिए वह साम्प्रदायिकता का उसी प्रकार समर्थन कर सकती है जिस तरह भाजपा करती है। यानी मुख्यधारा की राजनीति का बड़ा हिस्सा इस समय या तो दक्षिणपंथी दलों के कब्जे में है या मध्यमार्गी प्रतीत होने वाली पर वास्तव में दक्षिणपंथी रुझान रखने वाले दलों के कब्जे में। कई बार तो मुझे लगता है कि विपक्ष में दक्षिणपंथ की मौजूदगी सत्ता में दक्षिणपंथ की ही तरह खतरनाक होती है। पुलिस में रिजर्व पुलिस बल होता है जिसे आपात काल में लगाया जाता है। उसी तरह विपक्ष में दक्षिणपंथ को कई बार इसलिए बनाए रखा जाता है ताकि जब मध्यमार्गी दल नाकाम होने लगें तो समाज के उच्च वर्ग के हितों की रक्षा के लिए रिजर्व बल के रूप में फासीवाद की

ओर उन्मुख दक्षिणपंथी दलों को सत्ता की चाबी सौंपी जा सके। यहां तक कि मध्यमार्गी दल ही दक्षिणपंथ को स्वाभाविक विपक्ष मानते हैं और अपनी आलोचनाओं, प्रहारों तथा संवादों से ऐसा आभास पैदा करते हैं कि उनकी टक्कर केवल दक्षिणपंथियों से है क्योंकि वही ज्यादा बड़ी राजनीतिक ताकत हैं। मेरे कुछ मित्र इसे 'कान्सिपिरेसी थ्योरी' कहकर खारिज करते हैं पर कई देशों के इतिहास में यह होते देखा गया है कि जब मध्यमार्गी दल उभरते जनज्वार और विद्रोह के कारण अलोकप्रिय होने लगे तो धर्म-मजहब की बुनियाद पर खड़े फासिस्ट दक्षिणपंथी दलों ने लोगों के गुस्से का पहले तो फायदा उठाया और फिर लोगों का ही दमन किया। धर्म इस राजनीति के हाथ का खिलौना बनता है और ईश्वर की मर्जी, आदेश तथा शक्ति के प्रतीकों से भावनाओं को विशेष तौर पर उकसाया जा सकता है। धर्म के इसी राजनीतिक पक्ष का कमाल है कि रामलला जमीन-जायदाद का मुकदमा जीत गये हैं और उनके लिए अदालत ने जमीन का टुकड़ा निर्धारित कर दिया है। जिस संस्कृति में घट-घट में राम होने की मान्यता हो और कबीर जैसे सन्त कहते रहे हों- मोको कहां ढूंढे रे बन्दे, मैं तो तेरे पास में- वहां आधुनिक अदालतों ने पौराणिक राम के जन्मस्थल के पक्ष में निर्णय दे दिया है। न इसमें विज्ञान आड़े आता है और न धर्म।

विज्ञान के साथ सभी धर्मों के एक जैसे सम्बन्ध हैं भी नहीं। कुछ धर्म हैं जैसे ईसाइयत और यहूदी धर्म जिन्हें विज्ञान की चुनौती का सीधा सामना करना पड़ा है जब कि हिन्दू तथा इस्लाम आदि धर्मों की विज्ञान से सीधी टकराहट नहीं हुई। भारत में आज जो भी विज्ञान है, वह यहां की प्रयोगशालाओं तथा वैज्ञानिकों के मस्तिष्क से नहीं निकला है, बल्कि विदेश से आयातित है, इसलिए हिन्दू धर्म की विज्ञान से सीधी मुठभेड़ हुई भी नहीं। किसी हिन्दू वैज्ञानिक को शंकराचार्य के मठ, महंतों तथा पुजारियों ने ललकारा नहीं। हिन्दू धर्म से अगर किसी की मुठभेड़ हुई तो वे वैज्ञानिक नहीं बल्कि समाजशास्त्री, साहित्यकार तथा इतिहासकार जैसे लोग रहे हैं। इस बारे में समाजशास्त्री दीपांकर गुप्ता लिखते हैं- 'हिन्दू धर्म मूर्तिपूजा पर आधारित है, इसलिए इसके मूल सिद्धान्त विज्ञान के लिए कोई मायने नहीं रखते हैं। जबकि ईसाई धर्म संसार की रचना पर आधारित धर्म है, इसलिए उसने आधुनिक विज्ञान का विरोध किया जो खुद संसार की उत्पत्ति के विषय में अपनी मान्यताएं देता है। भारत में हमारे ईश्वरों को विज्ञान से कभी चुनौती नहीं मिली है। इसलिए क्योंकि इन ईश्वरों को संसार की उत्पत्ति से जुड़े मसलों से कोई वास्ता नहीं रहा है।'[5]

मुख्यधारा में दक्षिणपन्थ का यह प्रभाव वास्तव में धर्म से जुड़ी कूपमंडूकता व विश्वासों के प्रसार के लिए काफी अनुकूल समझी जाती है। इन दलों के बड़े नेता पूजा स्थलों में चढ़ावा चढ़ाते, कीर्तन गाते और पुरोहितों से प्रसाद ग्रहण करते दिखते हैं और अक्सर इन मुद्राओं में उनके फोटो अखबारों में छपते हैं। इससे जनमानस में यह सन्देश जाता है कि धर्म व उसके अन्धविश्वासों के आगे घुटने टेकना, अनपढ़ पुरोहितों की बातें मानना व सारे भ्रष्टाचार करने के बाद धार्मिक दिखने में खास

बुराई नहीं है। परम्परागत समाजों में धर्म शक्ति प्राप्त करने का माध्यम भी रहा है। जो लोग मन्दिर बनवाते थे, आगे बढ़कर दान-चढ़ावा करते थे और पुरोहितों का समर्थन हासिल करते थे, वही लोग सही मायने में शक्तिशाली तथा नेतृत्व प्रदान करने वाले वर्ग के समझे जाते थे। इस पुरानी प्रवृत्ति का नया रूप समाज में दिखता है जहां अव्वल दर्जे के भ्रष्ट, मतलबपरस्त तथा खुदगर्ज लोग सबसे ज्यादा धर्म की चादर ओढ़े हुए दिखते हैं और अपने को दूसरों से आगे रखने की कोशिश करते हैं।

भूलना नहीं चाहिए कि राजनीतिक विपक्ष ने मन्दिर आन्दोलन भी चलाये हैं जिसने धर्म को राजनीति के केन्द्र में स्थापित किया है और बुद्धिवाद तथा तर्क-विवेकवाद के स्थान पर खास तरह का पोंगापंथ अधिक फैला है। भारत का धर्मनिरपेक्ष ढांचा बनाए रखते हुए किस तरह धर्मनिरपेक्षता को खत्म किया जा सकता है, इसे दक्षिणपंथी विपक्ष ने सबसे अच्छे ढंग से समझा है। आज मूर्तिपूजा की बढ़ती प्रवृत्ति तथा नवजागरण के दौर के मूर्तिपूजा विरोधी आन्दोलन के बीच रोचक तुलना भी की जा सकती है। पणिक्कर बताते हैं कि किस तरह ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा आर्य समाज सभी सुधारवादी आन्दोलन मूर्तिपूजा के विरोध में थे क्योंकि पुरोहित-पंडितों से आम मनुष्य की मुक्ति चाहते थे। खुद राममोहन के शब्दों में इस पुरोहित वर्ग ने पूरे धर्म को 'सिस्टम ऑफ डिसेप्शन' यानी धोखाधड़ी की प्रणाली में परिवर्तित कर दिया था। हालांकि यह भी सही है कि नवजागरण ने ही पहली बार हिन्दू धर्म को 'सिमेटाइज' किया यानी उसे आस्था-विश्वास के किसी केन्द्रीय स्रोत तथा प्रणाली से जोड़ने का काम किया। वेदों को बार-बार सर्वोत्कृष्ट बताया गया और उन्हीं के आधार पर हिन्दू धर्म की व्याख्या की चेष्टा की जिससे हिन्दू धर्म की अपनी बहुलता को क्षति पहुंची। लेकिन मूर्तिपूजा व कर्मकांड की आलोचना कर नवजागरण के आन्दोलनों ने पुरोहितों की संस्था पर जो बड़ा प्रहार किया उसका हमेशा महत्त्व रहेगा। बाद में नवजागरण की मूर्तिपूजा विरोध की विरासत कमजोर पड़ती गयी और राम मन्दिर आन्दोलन के दौरान तो खुद आर्य समाज ने जिसने मूर्तिपूजा का सबसे प्रचंड विरोध किया था उसने प्रस्ताव पारित किया कि अयोध्या में राम लला का मन्दिर बनना चाहिए।[6] राष्ट्रीय स्वयंसेवकों से जुड़ा इतिहासकारों का बड़ा वर्ग सभी मध्ययुगीन स्मारकों को हिन्दू इमारत घोषित करने का प्रयास करता रहा है। पी.एन. ओक नामक स्वयंभू इतिहासकार ने ताजमहल को हिन्दू स्मारक घोषित करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था जहां न्यायालय ने यह कहकर मामला खारिज कर दिया था कि लगता है कि श्री ओक का दिमाग फिर गया है।[7] इस तरह देखें तो समाज में धार्मिक कट्टरता व धर्म को लेकर जो आन्दोलन हुए उन्होंने हमारे पूरे समाज को पीछे ले जाने का काम किया। उन्होंने मनुष्य के आगे बढ़ते विवेक, तर्कशीलता तथा मानवीयता पर ब्रेक लगाने का काम किया है और मनुष्य की चेतना को वापस आस्था तथा कट्टरता की ओर मोड़ने का काम किया है।

कहा जाता है कि क्रान्तिपूर्व लेनिन से जो भी मिलने आता था और बोल्शेविक दल की रणनीति के बारे में पूछता था तो वे यही कहते थे–'उनके पास यानी जार और उसके पिछलग्गुओं के पास ऐसी कोई चतुराई नहीं है जिसे हम विकसित न कर सकें।' नवम्बर क्रान्ति के बाद जब दुनिया के पूंजीवादी देशों ने रूस को चारों ओर से घेर रखा था तब भी लेनिन का प्रिय वाक्य यही था... 'उनके पास ऐसी कोई चतुराई नहीं जिसे हम विकसित न कर सकें।' आज जब हम धर्म और उसे बल प्रदान करने वाले निर्मम पूंजीवाद से घिरे हुए हैं तब भी हमें यही सोचना होगा कि कैसे इसका प्रत्युत्तर दिया जाए और तब साझे शत्रु के खिलाफ हम सभी तर्क-बुद्धिवादी आपस में एक-दूसरे से कह सकते हैं- उनके पास ऐसी कोई चतुराई नहीं है जिसे हम विकसित नहीं कर सकते। यहां चतुराई केवल अपने स्वार्थों और इच्छाओं की पूर्ति के पतित अर्थ से जुड़ी हुई नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध मानवीय करुणा तथा संघर्ष वाले समाज के निर्माण से है। अगर बुराई के पक्ष में चतुर लोग एकजुट हो रहे हैं तो मानवता के पक्ष में चतुराई का इस्तेमाल अनिवार्य हो जाता है। सकारात्मक उद्देश्यों से भरी यह चतुराई धर्म व कूढ़मगज अन्धविश्वासों से लड़ाई में उच्चतम मानवीय विवेक के सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक प्रतिफलन में व्यक्त होनी चाहिए। वे सभी लोग जो केवल पूंजीवाद के भविष्य में नहीं बल्कि मनुष्यता के भविष्य में आस्था रखते हैं, जो धर्म की तानाशाही से लड़ाई को जरूरी समझकर जीवन को अधिक मानवीय बनाना चाहते हैं उनके लिए जरूरी है कि वे नये रिनेसां की शुरुआत करें। ऐसे रिनेसां की जो आर्थिक विकास के समानान्तर जन्म ले रहे सांस्कृतिक शून्य तथा सांस्कृतिक पिछड़ेपन को चुनौती देगा।

सन्दर्भ–

1. के.एन. पणिक्कर–वैश्वीकरण, संस्कृति और साम्प्रदायिकता, लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली, 2006, पृ.17
2. प्रेमचन्द, सम्पादकीय जागरण, 24 मार्च 1934, प्रेमचन्द रचनावली खंड 8
3. वही, सम्पादकीय जागरण, 19 मार्च 1934
4. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, 1982, पृ- 110
5. दीपांकर गुप्ता, फिलहाल-दिसम्बर 2010
6. के.एन.पणिक्कर, कोलोनियलिज्म, कल्चर एंड रेजिस्टेंस, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 2009, पृ.137
7. पणिक्कर...वैश्वीकरण, संस्कृति और साम्प्रदायिकता, पृ- 26

❑

जगदीश्वर चतुर्वेदी



फेसबुक और मीडिया का सांस्कृतिक परिवेश

फेसबुक संचार की दुनिया में लम्बी छलांग है। यह एक ऐसा सामाजिक मंच है जिस पर आप व्यापार, संवाद, संचार, विचार-विमर्श, राजनैतिक प्रचार, सामाजिक गोलबन्दी आदि कर सकते हैं। यह ऐसा मंच है जो व्यक्तिगत और सामाजिक एक ही साथ है। यह ऐसा मंच भी है जो संचार के साथ-साथ आपके ऊपर नजरदारी भी करता है। यह सूचनाओं का साझा सामाजिक मंच है।

फेसबुक के यूजरों की संख्या 60 करोड़ से ऊपर है। आज फेसबुक पर गतिविधियां ज्यादा चल रही हैं। इसने गूगल की गतिविधियों को काफी पीछे छोड़ दिया है। इंटरनेट पर इस समय 40 हजार से ज्यादा सर्वर हैं, जो सोशल नेटवर्क का इस्तेमाल कर रहे हैं। फेसबुक पर प्रतिमाह 4 बिलियन से ज्यादा सूचनाएं यूजरों के द्वारा साझा इस्तेमाल की जाती हैं। 850 मिलियन से ज्यादा फोटोग्राफ हैं और 8 बिलियन वीडियो हैं। ये सब गूगल के पास नहीं हैं।

कुछ अर्सा पहले तक यह माना जा रहा था कि गूगल सारे विश्व का सूचना कुबेर है, लेकिन फेसबुक के आने और तेजी से विस्तार करने के साथ ही गूगल की जगह सूचना कुबेर का पद फेसबुक ने हथिया लिया है। आज फेसबुक सारी दुनिया में सूचनाओं का सबसे बड़ा खजाना है। गूगल से ज्यादा फेसबुक पर हलचल हो रही है।

क्लारा शिन ने फेसबुक एरा : टेपिंग ऑनलाइन सोशल नेटवर्क्स टु बिल्ड बेटर

प्रोडक्ट्स, रीच न्यू ऑडिएंशेज एंड सेल मोर स्ट' नामक किताब में लिखा है ऑनलाइन सोशल नेटवर्क के तेजी से विस्तार ने हमारी जीवनशैली, काम और सम्पर्क की प्रकृति को बुनियादी तौर पर बदल दिया है। इसने व्यापार के विस्तार की अनन्त सम्भावनाओं को जन्म दिया है।

फेसबुक विस्तार के तीन प्रधान कारण हैं। पहला, विश्वसनीय पहचान। दूसरा, विशिष्टता और तीसरा है समाचार प्रवाह। फेसबुक द्वारा डाटा और सूचनाओं के सार्वजनिक कर देने के बाद से इंटरनेट पर्दादारी का अन्त हो गया है। सूचना की निजता की विदाई हुई है और वर्चुअल सामाजिकता और पारदर्शिता का उदय हुआ है। डाटा के सार्वजनिक होने से यूजर आसानी से पहचान सकता है कि वह किसके साथ संवाद और सम्पर्क कर रहा है।

ब्लॉगिंग के साथ निजी सूचनाओं के सार्वजनिक करने की परम्परा आरम्भ हुई थी जिसे फेसबुक ने नयी बुलन्दियों पर पहुँचा दिया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सामाजिक जीवन से निजता का अन्त हो गया है। इसका अर्थ सिर्फ इतना है कि इंटरनेट पहले की तुलना में और भी ज्यादा पारदर्शी बना है। साथ ही सामान्य लोगों में निजी बातों को सार्वजनिक करने की आदत बढ़ी है। निजी और सार्वजनिक बातों के वर्गीकरण के सभी पुराने मानक दरक गये हैं।

फेसबुक ने प्राइवेसी का अर्थ भी बदला है। पहले प्राइवेसी का अर्थ था छिपाना। लेकिन इंटरनेट युग में अब कुछ भी छिपाना सम्भव नहीं है। आज प्राइवेसी का अर्थ है संचार के सन्दर्भ का सम्मान करना। लोगों को संचार के सन्दर्भ के बाहर ठेलना इसका मकसद नहीं है। अनेक लोग सोचते हैं कि फेसबुक उनकी प्राइवेसी का हनन कर रहा है। ऐसा सोचना सही नहीं है। फेसबुक में एक विकल्प है सिर्फ मित्र के लिए यानी आप अपनी सूचना मित्र को ही शेयर करना चाहते हैं, लेकिन यह भी नहीं चाहते तो उसका भी विकल्प है।

फेसबुक के बारे में यह कहा जा रहा है कि यह संचार का सर्वोत्तम रूप है और इसकी सफलताओं को परवर्ती पूंजीवाद की सफलताओं के रूप में देखा जा रहा है। इसे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का परम रूप तक कहा जा रहा है। सच इसके एकदम उलट है। फेसबुक या अन्य ग्लोबल मीडिया के हमारे घरों तक चले आने का अर्थ अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का विस्तार नहीं है, बल्कि यह नियन्त्रण का विस्तार है। यह स्वतन्त्र का विस्तार और नियंत्रण दोनों है। इससे सूचना दरिद्र और सूचना समृद्ध की खाई और भी चौड़ी हुई है।

उल्लेखनीय है इंटरनेट आने के बाद दरिद्रता और असमानता के खिलाफ राजनीतिक जंग कमजोर हुई है। वर्चस्वशाली ताकतों को बल मिला है। सामाजिक और राजनीतिक निष्क्रियता बढ़ी है। शाब्दिक गतिविधियां बढ़ी हैं, कायिक शिरकत घटी है। अब हम वर्चुअल में मिलते हैं और वर्चुअल में ही गायब हो जाते हैं। वर्चुअल की तथाकथित स्वतंत्रता का मजा लेते हैं।

माध्यम की भाषा में वर्चुअल का अर्थ है यथार्थ का विलोम। वर्चुअल के संचार ने समाज में वर्चस्वशाली ताकतों को और भी ज्यादा ताकतवर बनाया है और सामान्यजन को अधिकारहीन, नियन्त्रित और पैसिव बनाया है।

आज लोकतान्त्रिक विमर्श, बहस, विवाद, संघर्ष की जगह समाज में नहीं, टीवी स्क्रीन और इंटरनेट में है। लोकतन्त्र का मंच समाज नहीं, टीवी चौनल हो गए हैं। पक्षधर कहते हैं टीवी चैनल मुक्तसमाज का दर्पण हैं। मानवाधिकारों के सरोकारों का मंच हैं। टीवी पर आई खबर स्वतःप्रमाण है।

असल में टीवी में जो है, वही हमारा कॉमनसेंस भी है। जीवन और मन पर हमने टीवी के बताए मार्ग, लालच, झूठ और सच, विचार आदि को धारण कर लिया है। टीवी हमारे जीवन का माई-बाप हो गया है। इसके कारण हम कम से कम तथ्यों में जीने लगे हैं। अब हमें ज्यादा तथ्यों की नहीं, कम तथ्यों में जीने की आदत पड़ गयी है। टीवी के तथ्य ऐसे हैं जिनके लिए किसी सामाजिक एक्शन की दरकार नहीं है।

टीवी पर बढ़ती निर्भरता ने व्यक्ति के मेनीपुलेशन की अनन्त सम्भावनाओं को जन्म दिया है। आज सामान्यजन की आस्था और विश्वास की दुनिया पूरी तरह टीवी पर टिकी है अतः अपनी नियत धारणाओं के परे जाकर तथ्यों को खोजना दूभर हो गया है।

टीवी जिन्हें विशेषज्ञ के रूप में पेश करता है, उन्हें ही हम सम्बन्धित विषय का विशेषज्ञ मानते हैं। हम सीमित तथ्यों में बन्धे रहते हैं और उनके आधार पर ही सोचते हैं, टीवी जैसा समझा रहा है, हम वैसी ही जीवनशैली अपनाते चले जा रहे हैं। वह जैसा मनोरंजन देता है वैसे ही मनोरंजन के आदी हो गए हैं। हमारे चारों ओर नकली चीजों ने नाकेबंदी कर ली है। हमें कोई नहीं बताता कि नकली दुनिया के बाहर कैसे निकलें। साहित्य से लेकर संस्कृति तक कॉमनसेंस की सत्ता को प्रतिष्ठित करने की मुहिम चल रही है। कॉमनसेंस की बातों के आधार पर सत्य को परखने की कोशिश की जा रही है। टीवी के माध्यम से बृहत्तर समाज को सुझाव दिए जा रहे हैं। इन सुझावों के आधार पर ही आम सहमति बनाने की कोशिशें हो रही हैं। आज वातावरण ऐसा बना दिया गया है कि जो बात तत्काल समझ में नहीं आती, उसे तुरन्त ही बकवास कहकर खारिज कर देते हैं। जो अप्रिय सत्य है, उसे हम देखने और सुनने को तैयार नहीं होते। जो तर्क हमारे कॉमनसेंस के खिलाफ होते हैं, उन्हें हँसी-मजाक में उड़ा देते हैं। जो जगत हमारी तयशुदा समझ के परे होता है, उसे एकसिरे से खारिज कर देते हैं अथवा जो बात हमारे हितों के खिलाफ होती है, उसे खारिज कर देते हैं।

परवर्ती पूंजीवादी समाज के मनुष्य की विशेषता है विवेक और दृढ़ता का अभाव। यह ऐसा मनुष्य है जो सवाल नहीं करता। इसके पास सामाजिक हितों का बोध नहीं है।

मीडिया हमारे मन में यह विश्वास भी पैदा करता है कि हम चीजों को नियन्त्रित नहीं करते। चूंकि हम नियन्त्रित नहीं करते, फलतः हमें बार-बार यही बोध होता है कि जो कुछ गलत हो रहा है, उसके लिए हम निजी तौर पर जिम्मेदार हैं। मीडिया ने ऐसा वातावरण बनाया है, जिसके कारण अधिकांश लोग अब अपनी राय व्यक्त ही नहीं करते। मीडिया लोगों को मुँह खोलने की बजाय मुँह बन्द रखने की आदत पैदा कर रहा है। संशय, अर्द्धसत्य, भ्रम और नाटकीयता ये चार तत्त्व हैं, जिन्हें मीडिया पैदा कर रहा है।

अमेरिका नियन्त्रित माध्यमों में वर्चस्वशाली ताकतों के खिलाफ प्रतिवाद के लिए कोई जगह नहीं होती। धीरे-धीरे भारत का कारपोरेट मीडिया भी उसी दिशा में जा रहा है। यहां पर प्रतिवाद के लिए स्थान कम होता जा रहा है।

यह उपभोक्ता समाज है। इसमें व्यक्ति की निजी अनुभूति का हिस्सा है यथार्थ। यथार्थ के नये रूपों ने पुराने रूपों को अपदस्थ कर दिया है। आज यथार्थ संकेतों और फीलिंग में व्यक्त होता है। वस्तु की अनुभूति में व्यक्त होता है। एक अवस्था के बाद यह अनुभूति गायब हो जाती है और यही वह अवस्था है जब हम हाइपर रियलिटी से दो-चार होते हैं। दो सौ साल पहले जिस यथार्थ का उदय हुआ था, उसे अब हम खो चुके हैं। वह अपना परा-भौतिक मर्म खो चुका है। अब सामयिक समाज वर्चुअल रियलिटी में दाखिल हो चुका है। यथार्थ को अब तक अवधारणा के रूप में देखते रहे हैं। सामान्यतया यह वस्तु की अमूर्त मानसिक धारणा है। यह ऐसी धारणा है जिसे सामुदायिक चेतना के रूप में प्राप्त करते हैं। आज यह अपनी चारित्रिक विशेषताएं खो चुकी है अथवा व्यक्तिगत अनुभूति के रूप में संकुचित होकर रह गयी है।

सामूहिक प्रस्तुति के युग से निकलकर व्यक्तिगत अनुभूति के युग में दाखिल हो गयी है। परिणामतः यथार्थ सामूहिक नियमन से निकलकर व्यक्तिगत नियमन की अवस्था में दाखिल हो गया है। इससे यथार्थ विकृत हुआ है। देखने पर लगेगा कि समाज अपने को आधुनिक मानता है, लेकिन जिसे हम आधुनिक समाज कहते हैं, वह आधुनिक समाज नहीं है बल्कि अनुकरण समाज है। इस समाज को अनुकरणमूलक परिवेश मिला है। यह ऐसा समाज है, जिसमें हर चीज वस्तु है। यह ऐसा जगत है जो हमारे बारे में सोच रहा है, हम उसके बारे में सोच रहे हैं। आज किताब आपको पढ़ रही है, टीवी आपको देख रहा है। वस्तुएं हमारे बारे में सोच रही हैं। लेंस हमें देख रहे हैं। इनका भाव हमें प्रभावित कर रहा है। भाषा हमसे बोल रही है। समय हमारे पास खाली पड़ा है। पैसा हमें कमा रहा है। मौत हमारा इन्तजार कर रही है।

आज हम घर बैठे टीवी देखते हैं, जिसमें 5 सौ से ज्यादा चैनल उपलब्ध हैं, चैनलों में जो दिखाया जा रहा है, क्या वह हमारा यथार्थ है? क्या उस यथार्थ के साथ वास्तविक यथार्थ की तुलना कर सकते हैं? क्या यह यथार्थ है? यह टीवी इमेज

है? यदि टीवी इमेज है तो यथार्थ और इमेज के बीच क्या सम्बन्ध है? क्या इमेज को यथार्थ मान लें ? क्या टीवी इमेजों को अ-यथार्थ मानकर खारिज किया जा सकता है? हम टीवी में जो देख रहे हैं यदि वह यथार्थ नहीं है और प्रस्तुति भर है तो आखिरकार उसे कैसे देखें? अथवा समाज में मौजूद यथार्थ के अनेक रूपों को कैसे देखें? यथार्थ की अनेक इमेजों को जब हम देखते हैं तो क्या खोखली इमेजों को देखते हैं? आखिरकार इस तरह की इमेजों को किस तरह की सैद्धान्तिकी के आधार पर पढ़ें? क्या इस तरह के मामलों में इमेज को अस्वीकार करके पढ़ा जा सकता है? इत्यादि सवालों पर विस्तार से विचार किया जाना चाहिए।

मीडिया और संचार की तकनीक पर विचार करते समय इसके मिथों के प्रति आलोचनात्मक बोध का होना बेहद जरूरी है। तकनीक कैसे सामाजिक जीवन में व्यवहार करेगी, यह बात इस तथ्य से तय होगी कि लोकतन्त्र की क्या दशा है? इसके अलावा कम्प्यूटर रोमैंटिसिज्म ने भी हमारी चेतना को घेर लिया है। इसके कारण हम संचार और मीडिया तकनीक के बारे में सटीक समझ नहीं बना पाते। संचार तकनीक के द्वारा निर्मित सामाजिक जीवन की सही तस्वीर नहीं देख पाते।

कम्प्यूटर और मीडिया के बारे में समाज में अंधश्रद्धा बढ़ी है। अंधविश्वास बढ़ा है। इससे आम जनता के विवेक, विजडम और ज्ञान में कमी आयी है। यह मिथ है कि संचार तकनीक के आने से लोकतन्त्र मजबूत होता है। सामाजिक शिरकत में इजाफा होता है। समानता पैदा होती है। इन तीनों मिथों की कभी गम्भीरता से छानबीन नहीं की गयी है। असल में यह सब संचार तकनीक को मिथ बनाने की कला के हथकंडे हैं।

यह मिथ है कि सूचना के संचार से ज्ञान बढ़ता है। सामाजिक शक्ति में इजाफा होता है। सच इसके एकदम विपरीत है। लोकतन्त्र और लोकतान्त्रिक संरचनाओं के विकास और उनमें आम लोगों की हिस्सेदारी से समाज में लोकतन्त्र का विकास होता है। तकनीक के विकास और प्रसार से लोकतन्त्र नहीं फैलता। लोकतन्त्र के विकास से तकनीक के लोकतान्त्रिक उपयोग की सम्भावनाएं पैदा होती हैं। लोकतन्त्र के लिए साझा मांग, साझा, लक्ष्य, साझा समझ, साझा शिरकत, साझा विचारधारा और साझा चेतना का होना जरूरी है। साझा चेतना प्रत्यक्ष शिरकत, संवाद और कुर्बानी से पैदा होती है। लोकतन्त्र को बगैर त्याग और शिरकत के अर्जित नहीं किया जा सकता। लोकतन्त्र के संवैधानिक संस्थानों की लोकतान्त्रिक और नियमानुसार नियमित कार्यप्रणाली ही है, जो लोकतन्त्र को सम्भव बनाती है। तकनीक के प्रसार मात्र से लोकतन्त्र नहीं आता। मशीनी रेस्पांस को जनता का रेस्पांस नहीं समझना चाहिए।

कम्प्यूटर तकनीक के आने के साथ ही कागजरहित ऑफिस का वायदा किया गया था, लेकिन हुआ उल्टा। ऑफिसों में कागज की खपत घटने की बजाय बढ़ी है। यह कहा गया कि कम्प्यूटर तकनीक से समय की बचत होगी, लेकिन इसने समय का खर्चा बढ़ा दिया है। आज मनुष्य समय के दबाब में जितना है, उतना

पहले कभी नहीं था। आज आप कुछ ही क्षणों में घर बैठे-बैठे बाजार की खरीददारी कर सकते हैं। बाजार में तत्काल खरीददारी कर लेते हैं। घर बैठे हुए तत्काल बातें कर लेते हैं। जल्दी से कहीं पर भी कार आदि से चले जाते हैं। इसके बाबजूद हमारे पास एक-दूसरे के लिए समय का अभाव बना रहता है। बातचीत के लिए समय नहीं निकाल पाते। निजी बातचीत, प्रेम, सामाजिकता आदि के लिए समय घट गया है। कायदे से यह समय बढ़ना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है।

कम्प्यूटर तकनीक ने श्रम की बचत का वायदा किया है। श्रम की बचत का अर्थ है स्वयं को अर्थहीन बनाना। ज्यादा से ज्यादा मजदूरों को उनके काम से वंचित करना। एक ही वाक्य में कहें तो तकनीक के आने से शिरकत घटती है। जिम्मेदारी कम हो जाती है।

फेसबुक के बारे में मिशेल अल्बर्ट ने लिखा है कि इससे सभ्यता के अन्त की शुरुआत हुई है। फेसबुक और वर्ल्ड वाइड वेब की तत्क्षण सन्देश की पद्धति के कारण सभ्यता के अन्त का संकट पैदा हो गया है। जो युवा और प्रौढ़ इंटरनेट और उससे जुड़े यन्त्रों के आदी हैं, उन्हें इंटरनेट यंत्रों, मोबाइल, लेपटॉप, आईपेड, कम्प्यूटर आदि से दूर रखना असम्भव हो गया है। सामान्य तौर पर जो लोग टीवी देखने में समय गुजारते थे, उनमें से अधिकांश युवा अब इंटरनेट और मोबाइल पर समय गुजारते हैं।

कुछ साल पहले तक टीवी में व्यस्त रहने वालों को असामाजिक तक कहा गया। आज इन युवाओं के परिवारीजन मांग कर रहे हैं कि उनका बच्चा इंटरनेट से दूर रहे और पास में बैठकर टीवी देखे। टीवी देखते समय कम से कम युवा लोग साथ में बैठते थे, लेकिन मोबाइल और नेट पर तो वे नितान्त एकान्त में व्यस्त रहते हैं। वे अपने लिए नितान्त वैयक्तिक एकान्त वातावरण निर्मित कर लेते हैं। बार-बार मोबाइल पर जाते हैं। इंटरनेट पर भी फेसबुक पर व्यस्त रहते हैं और यह लत की तरह मर्ज बढ़ रहा है। युवाओं के नेट पर चले जाने को टीवी कम्पनियां भांप गयी हैं और अब वे भी नेट पर टीवी चैनल ले आयी हैं। वे संदेश दे रहे हैं कि युवा लोग उनके चैनलों को नेट पर देख सकते हैं। नेट पर जाने वाले युवाओं की खास विशेषता है कि वे किसी भी चीज को एकाग्रभाव से नहीं देखते। उनके चंचल भावबोध की ही अभिव्यंजना है कि वे लगातार बटन दबाते रहते हैं और एक वेब से दूसरी वेब, एक सन्देश से दूसरे सन्देश की ओर भागते रहते हैं।

नेट पर नया चंचल पथ है ट्विटर का। युवाओं में ट्विटर का उन्माद देखने लायक है। अब बौद्धिक विकास का प्रमाण है ट्विटर पर सक्रियता। सब कुछ तीव्रतम गति से सम्प्रेषित करने के चक्कर में हम इतने व्यस्त हैं कि समझ नहीं पा रहे हैं कि तीव्रतम गति से किया गया सम्प्रेषण दिशाहीन होता है। वह संचार को ही नष्ट कर देता है। सन्देश को शून्य, प्रभावहीन और स्मृतिविहीन बना देता है। कम से

कम शब्द और तीव्रतम गति का सन्देश अन्ततःशून्य में बदल जाता है। इसके कारण नए किस्म की आदतें पैदा हो रही हैं।

फेसबुक पर 60 करोड़ लोगों के डाटा उपलब्ध हैं। इस तरह के डाटा के अनेक किस्म के उपयोग की ओर संचार कम्पनियों ने ध्यान दिया है। इंटरनेट और फेसबुक के डाटा का विज्ञापन कम्पनियों से लेकर जासूसी कम्पनियों तक जमकर दुरुपयोग हो रहा है। इंटरनेट यूजरों पर व्यापक पैमाने पर निगरानी चल रही है। यह तथ्य वाल स्ट्रीट जरनल और दूसरी कई प्रसिद्ध पत्रिकाओं के कराए सर्वेक्षणों में सामने आया है। सर्वेक्षणों से पता चला है कि कई हजार वेबसाइट हैं, जिन्होंने इस तरह के तकनीकी उपकरण लगाए हुए हैं जो यूजरों के बारे में अधिकांश महत्त्वपूर्ण बातें जान जाती हैं और बाद में उनका अन्यत्र इस्तेमाल कर रही हैं। यूजर की गतिविधि पर निगरानी रखने वाली इस तकनीक के बारे में इन वेबसाइट पर कोई जानकारी पहले से नहीं दी हुई है। यह काम गुप्त ढंग से हो रहा है। इन वेबसाइट पर ऐसा सॉफ्टवेयर लगाया हुआ है जो यह बताता है कि यूजर रीयल टाइम में क्या कर रहा है। किस जगह है। उसकी आय क्या है। वह किस तरह की चीजें खरीदना पसंद करता है। किस तरह का स्वास्थ्य है। किस तरह की आदतें हैं। इस तरह के डाटा विकीपीडिया से लेकर माइक्रोसॉफ्ट, याहू से लेकर गूगल तक सब एकत्रित कर रहे हैं और इसके अलावा सीआईए, पेंटागन, अमेरिकन लाइब्रेरी नेटवर्क आदि भी अपने तरीके से वेब पर नजरदारी कर रहे हैं और विभिन्न नेट सर्वर कम्पनियों की डाटा संकलन में मदद ले रहे हैं, यहां तक ट्विटर के सन्देशों की एक विशाल संग्रहशाला अमेरिकन लाइब्रेरी ने भी तैयार की है। इसके अलावा गूगल आदि कई कम्पनियों के साथ सीआईए की सहयोगी संचार कम्पनी ने कई अनुबन्ध भी किये हैं। ये अनुबन्ध मूलतः यूजरों पर निगरानी से सम्बन्धित हैं। इसके अलावा बीमा, स्वास्थ्य, विज्ञापन, पर्यटन, बैंक, वित्त आदि क्षेत्र में काम करने वाली कम्पनियों ने अपने व्यापारिक विस्तार के लिए इनका इस्तेमाल आरम्भ कर दिया है। इसका यह परिणाम निकला है कि पिछले साल 23 बिलियन डॉलर के ऑनलाइन विज्ञापन आये। तुलनात्मक रूप में देखें तो ऑनलाइन विज्ञापन ज्यादा लोगों तक पहुँचता है और फायदे का सौदा है। मसलन् एक हजार लक्ष्यीभूत श्रोता के पास मात्र 4.12 डालर में विज्ञापन पहुँचता है जबकि एक हजार गैर-लक्ष्यीभूत श्रोता के पास 1.98 डॉलर में विज्ञापन पहुँचता है।

जनवरी 2010 में किए गए इंटरनेट सर्विस प्रोवाइडर के सर्वे में पाया कि कुल मिलाकर 10.2 बिलियन बार वेब सर्च किया गया और इसमें गूगल के जरिए 6. 8 बिलियन बार सर्च किया गया यानी गूगल के सर्च इंजन से कुल नेट सर्च करने वालों का 66.3 प्रतिशत रहा, जबकि याहू से सर्च करने वालों का प्रतिशत 14.5प्रतिशत, एमएसएन-विंडो लाइव-बिंग सर्च के जरिए 10.9 प्रतिशत सर्च किया।

आने वाले समय में सोशल नेटवर्क साइट के इस्तेमाल से मीडिया का उपभोग

बुरी तरह प्रभावित होगा। जिस तरह सोशल नेटवर्क के यूजरों की संख्या में जबर्दस्त उछाल आया है उसने मीडिया के सभी माध्यमों एवं विधाओं के विकास की दिशा और गति को पीछे छोड़ दिया है। भविष्य में बच्चे और युवा किस तरह की मनोदशा, संस्कार और आदतों के आदी होंगे, इसका बहुत कुछ सम्बन्ध सोशल नेटवर्क के साथ जुड़ा है।

सोशल नेटवर्क के प्रभाव के बारे में हम जितना जानेंगे, उतना ही बच्चों और युवाओं को भी बेहतर ढंग से जान पाएंगे, क्योंकि बच्चों और युवाओं का बहुत बड़ा हिस्सा सोशल नेटवर्क पर विभिन्न किस्म के संचार और सम्पर्क का काम कर रहा है। मसलन अमेरिका में 75 प्रतिशत युवा (18-24 साल की आयु के) सोशल नेटवर्क पर जाते हैं। 65 साल से ऊपर की आयु के मात्र 7 प्रतिशत लोग ही सोशल नेटवर्क पर जाते हैं। कहने का अर्थ यह है कि सोशल नेटवर्क युवाओं का माध्यम है, जबकि 25-34 साल आयु के 57 प्रतिशत, 35-44 साल के 30 प्रतिशत, 45-54 साल के 19 प्रतिशत, 55-64 साल के 10 प्रतिशत लोग सोशल नेटवर्क पर जाते हैं।

विभिन्न सामाजिक नेटवर्क में माइस्पेस पर 50 प्रतिशत, फेसबुक पर 22 प्रतिशत और लिनकेदिन पर 6 फीसदी का प्रोफाइल है। ज्यादातर तरुण अपने परिचितों के साथ ही जुड़ते हैं। 51 फीसदी सोशल नेटवर्क यूजर के दो या उससे ज्यादा ऑनलाइन प्रोफाइल हैं, जबकि 43 प्रतिशत का एक ही प्रोफाइल है। ज्यादातर सोशल नेटवर्क यूजर प्राइवेसी सचेतन हैं। इसके बावजूद यूजरों की वेब पर प्रच्छन्नतः जासूसी जारी है, लेकिन फेसबुक जैसे सोशल नेटवर्क जैसे मंच ऑफिसों के समग्र ऑफिस समय का 1.5 फीसदी समय बचाते हैं। यह बात नुक्लिस रिसर्च के पिछले साल कराए सर्वे में सामने आयी है। एक अन्य संस्था मोर्से के सर्वे में यह तथ्य सामने आया है कि ब्रिटिश कम्पनियों को फेसबुक जैसे मंचों के जरिए काम करने से सालाना 2.2 बिलियन डॉलर का खर्चे में लाभ हुआ है। यह भी पाया गया है कि छोटे स्तर पर ब्लॉगिंग में खर्च होने वाला समय वस्तुतः समय की बर्बादी है। इसके विपरीत फेसबुक में आप निरन्तर सम्पर्क, संवाद और उच्चकोटि की सर्जनात्मकता बनाए रख सकते हैं। फेसबुक में सर्जनात्मक निरन्तरता बनाए रखने की क्षमता है।

फेसबुक को इंटरनेट की सभी विधाओं का निर्धारक कह सकते हैं। इंटरनेट में क्या होगा, ऑनलाइन समूह क्या करेंगे, यूजर कैसे रहे, उसकी प्राइवेसी क्या है, सार्वजनिक क्या है और यूजर को कैसे बोलना चाहिए, कैसे व्यक्त करना चाहिए, भावों-संवेदनाओं और अनुभूतियों को कैसे व्यक्त करें आदि बातों का निर्धारक फेसबुक है। फेसबुक में सभी पूर्ववर्ती मीडिया और नेट विधाओं का समाहार कर लिया गया है। इसने सभी किस्म की अभिव्यक्ति के रूपों को सार्वजनिक कर दिया है। फेसबुक के कारण यूजर को वे लोग भी जानते हैं, जिनसे उसका कोई लेना-देना नहीं है।

दुनिया तेजी से बदल रही है और बदलती दुनिया में नयी भाषा, नयी शब्दावली जरूरी है। जगत के साथ सम्बन्ध उलट गया है। नयी हाइपर रियलिटी की अवस्था

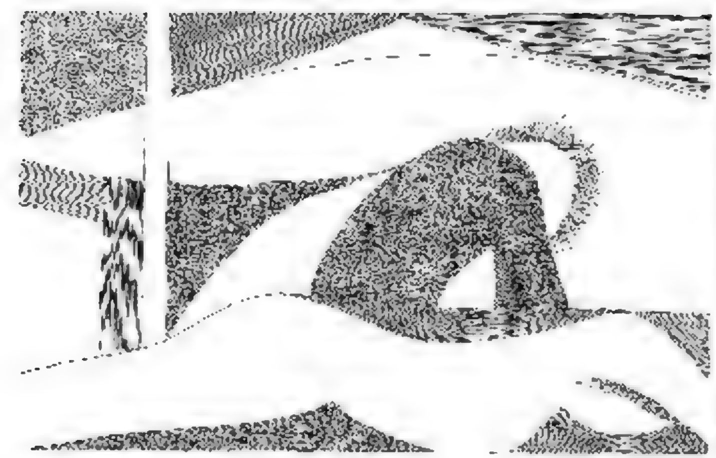
में कभी यथार्थ ऊपर आ जाता है तो कभी यथार्थ एकदम गायब हो जाता है। हाइपर रीयल समाज सतह पर खंड-खंड, सक्रिय और तर्क का विखंडन करता नजर आता है और यही वह अवस्था है जिसे उत्तर आधुनिकता कहते हैं।

अब किसी भी घटना की पुलिसिया नाकेबन्दी सूचना के जरिए की जाती है। सूचना इतिहास के विस्मरण की सबसे प्रभावी मशीन है। सूचना का समग्र सिस्टम घटना को प्रतीक के रूप में पेश करता है। इसका सार्वभौम बाजार में विनिमय मूल्य होता है। इस दौर में अघटित घटना की प्रस्तुतियां खूब आ रही हैं। सूचना का विकृतिकरण हो रहा है। सूचना का विकृतिकरण अर्थव्यवस्था का भी विकृतिकरण कर रहा है। उसके सभी मालों का विकृतीकरण हो रहा है। मूल्य का भी विकृतिकरण हो रहा है। घटनाओं की एकायामी प्रस्तुतियों की बाढ़ आ गयी है। घटना का इकहरापन उसे संहिताबद्ध नहीं होने देता, फलतः वह घटना गुम हो जाती है। अब हम ऐसे जगत में हैं जहां सच में घटनाएं घटती नहीं हैं। उनका रीयल टाइम में जन्म होता है और उन्हें समाचार और सूचना में पेश कर दिया जाता है। असल में यह अ-घटित घटना की खबरों का दौर है।

अघटित घटना का अर्थ यह नहीं है कि कुछ भी नहीं हो रहा, बल्कि चीजें तेजी से घटित हो रही हैं। उनमें निरन्तर परिवर्तन आ रहा है। अन्तहीन अपडेटिंग हो रही है। यह सब कुछ रीयल टाइम में हो रहा है। निरन्तर विस्तार या विकास फैशन की तरह है। ये ऐसे परिवर्तन हैं जो मजबूरी में आये हैं और मजबूर करते हैं। इनमें अप्रासंगिकता अन्तर्निहित है। अब ऐसी भाषा और इमेजें आ रही हैं जिनके सामने हम निरस्त्र और अधिकारहीन हैं। अब कु-समाचार को दावे के साथ पेश किया जाता है। बार-बार दोहराते हैं, इससे निरन्तर खोखला मैदान तैयार होता है। अब ऐसा स्पेस है, जिसमें प्रत्येक चीज पहले से ही तटस्थ है।

❑

रंजीत वर्मा



भूमंडलीकरण और साहित्य

यह भूमंडलीकरण का युग है। या तो आप इसके साथ जाने को तैयार रहिए या फिर इसके खिलाफ मोर्चा खोलने की तैयारी कर लीजिए, अगर अभी तक आपने नहीं खोला है तो। बीच का कोई रास्ता नहीं है। वे दिन बहुत पीछे छूट गये जब भूमंडलीकरण का मतलब विदेशी सामानों से बाजार का पट जाना होता था, वे दिन भी अब पीछे रह गये जब पढ़े लिखे होनहार लड़कों को नौकरी पर रखने के लिए विदेशों ने उदारता से अपने दरवाजे खोल दिये थे। वैसे तो यह सब अब भी चल रहा है, लेकिन अब मामला यहीं तक नहीं रहा बल्कि आगे बढ़ कर अब यह संसाधनों पर अपना अधिकार जताते हुए कला और साहित्य की दुनिया तक आ पहुंचा है। और इसी प्रकार इसने अपना अन्दाज भी अब धीरे-धीरे काफी आक्रामक कर लिया है।

स्थानीयता तो पहले भी छोटी चीज मानी जाती थी, लेकिन अब तो यह पिछड़ेपन का प्रतीक बन कर रह गयी है, लेकिन यहां थोड़ा रुक कर सोचने की जरूरत है कि आखिर पहले भी इसी तरह था तो तब में और अब में अन्तर क्या हुआ। अन्तर यह है कि स्थानीयता को पहले उसके रूप के कारण नहीं बल्कि उसके प्रभाव के कारण अगर वह शामिल होता था तो उसे छोटी चीज माना जाता था यानी कि पहले यह माना जाता था कि स्थानीयता अपने रूप में तमाम स्थानीय लक्षणों को जरूर समाहित किये रहे, लेकिन प्रभाव में वह विश्वजनीन हो। यही कसौटी होती थी पहले,

चाहे वह साहित्य हो या जीवन, लेकिन अब यह इसके उलट हो गया है। अब यह अपने रूप में विराटता लिए रहता है, भारी चमक-दमक के बीच देश विदेश के अनेक लेखक, कवि, पत्रकार इकठ्ठे होते हैं, अनुवाद की आवाजाही तेजी से हो रही होती है, शामिल रचनाकारों को लगता भी है कि वे दुनिया के कोने-कोने तक पहुंच रहे हैं, लेकिन वास्तविकता में इसका प्रभाव स्थानीयता से ऊपर उठ नहीं पाता, क्योंकि विश्व-दृष्टि का यहां नितान्त अभाव होता है। दुनिया भर में अपनी सत्ता के लिए, अपने अस्तित्व के लिए जद्दोजहद करते इंसान की अभिव्यक्ति के लिए वहां कोई जगह नहीं होती। यहां सब कुछ उत्सव के रंग में होता है। यह साहित्य का भूमंडलीकरण है जिसके केन्द्र में समस्या नहीं, मनोरंजन होता है और जो बौद्धिकता का लिबास पहने होता है। वहां भाषा पर बात की जाती है, बाजार पर बात की जाती है, लेकिन इस करवट लेते समय में इन्सान की भूमिका पर कोई बात नहीं की जाती। दरअसल जैसा कि पहले भी कहा गया कि यह साहित्य का भूमंडलीकरण है और इसकी खासियत यह होती है कि यह विश्वजनीनता का निषेध करता है। यह साहित्य की आभासीय दुनिया है, जहां साहित्य नहीं होता और न बदलाव की चाहत लिये जान पर खेल जाने का हौसला रखने वाले जुझारू लोगों की कोई दास्तान होती है, बल्कि इस तरह की बात करना भी यहां हास्यास्पद माना जाता है।

यहां जमावड़ा बिल्कुल अलहदा किस्म के लोगों का रहता है। उदाहरण के तौर पर जयपुर साहित्य उत्सव पर एक नजर डाली जा सकता है जो अभी हाल में सम्पन्न हुआ है। देखा जाना चाहिए कि इसे पिछले पांच सालों से कौन आयोजित करवा रहा है और इसमें कैसे-कैसे लोग जुड़ते चले जा रहे हैं। ठेके का काम करने वाली डीएससी कम्पनी द्वारा यह आयोजन प्रायोजित किया जाता है। इस कम्पनी का नाम अभी हाल में तब सुर्खियों में आया जब राष्ट्रमंडल खेलों में किये गये घपले की जांच कर रहे केन्द्रीय सतर्कता आयोग ने पाया कि डीएससी लिमिटेड को 23 प्रतिशत से अधिक की दर से ठेके आवंटित किये गये थे। यहां यह बता देना जरूरी है कि घोटाले में इस कम्पनी का नाम पहले आ चुका था और बाद में यह आयोजन हो रहा था और देखिए कि सब कुछ जानते हुए भी इसमें शिरकत करने वाले कौन लोग थे। संगीत कला अकादमी के अध्यक्ष थे वहां, दिल्ली हिन्दी अकादमी के अध्यक्ष भी वहां मसखरी करते लगातार उपस्थित थे। एक तरह से जवाबदेह सरकारी नुमाइन्दे हैं ये लोग, उसी सरकार के जिसकी जांच एजेंसी ने इसे घोटले में लिप्त पाया है। और तो और वहां तो बतौर लेखक प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह की पुत्री भी उपस्थित थीं। यह है साहित्य की भूमंडलीकृत छटा। विश्व दृष्टि की तो बात जाने दीजिए यहां तो मामूली नैतिक दृष्टि को ढूंढ़ पाना भी मुश्किल है।

अगर यही एक कम्पनी प्रायोजक होती तो कुछ हद तक क्षम्य भी था, लेकिन यहां तो शातिर कम्पनियों की कतार थी। रियो टिंटो कम्पनी भी इनमें एक थी। खनन कम्पनियों में इसका विश्व में तीसरा स्थान है। इस कम्पनी का उसूल है दुनिया भर की फासीवादी और नस्लवादी सरकारों से गठजोड़ कर अपने धन्धे को चमकाये

रखना। इस पर दुनिया भर में कई गम्भीर आरोप मानवीय, पर्यावरण और श्रमिक अधिकारों के उल्लंघन के लग चुके हैं। एक तीसरी कम्पनी भी थी। बड़ी नामी कम्पनी है यह भी। ऊर्जा के क्षेत्र में इसका दुनिया में पहला स्थान है। इसका नाम है शेल। इस पर संगीन आरोप यह है कि यह नाइजेरिया के लेखक और पर्यावरण कार्यकर्ता केन सारो वीवा की हत्या की जवाबदेह है। तो लेखकों, कवियों की हत्यारी कम्पनियां साहित्य उत्सव प्रायोजित कर रही हैं?

जयपुर साहित्य उत्सव खत्म होने के एक दिन बाद ही गाले साहित्य उत्सव शुरू हो गया। यह 26 से 30 जनवरी तक चला। श्रीलंका सरकार की सेंसर नीति और अभिव्यक्ति पर हिंसक तरीके से अंकुश लगाने के विरोध में कई लेखकों ने इसका बहिष्कार किया। बहिष्कार करने वालों में आर्हेन पामुक भी थे, लेकिन वे जयपुर साहित्य उत्सव में शामिल थे। क्या उन्हें नहीं लगता कि जिस देश में पिछले पन्द्रह सालों में दो लाख से ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की है और जहां माओवाद के नाम पर सरकार आदिवासियों को सीधे अपने निशाने पर लिए हुए है, वह सरकार श्रीलंका की सरकार से बेहतर नहीं हो सकती। इनके अलावा ऐसे भी लेखक थे, जो वहां शामिल होने के बाद फिर बहिष्कार का रास्ता पकड़े जैसे कि दक्षिण अफ्रीका के डैमन गालगट। हुआ यह कि गाले में उत्सव शुरू होने के दो दिन पहले 24 जनवरी को प्रगीथ एकनालिगोडा नामक पत्रकार जब अपने दफ्तर से घर लौट रहे थे तो रास्ते में ही उन्हें गायब कर दिया गया। वे श्रीलंका की युद्धनीति के कटु आलोचक थे। ऐसा माना गया कि इसमें सरकार का हाथ है। सरकार भी इस मामले में चुप्पी साधे रही। 25 तारीख को पत्रकार की पत्नी और पुत्र गाले उत्सव में तख्ती लेकर सरकार के विरोध में बैठ गये और लोगों के बीच पर्चा बांटा। पर्चे में श्रीलंका सरकार की कारस्तानियों का ब्योरा था। यह सब देखकर गालगट ने उत्सव से हटने का ऐलान वहीं कर दिया। कनाडा के लेखक लावरेंस हिल ने भी मंच से घटना की भर्त्सना करते हुए कहा कि इस देश में साहित्य का उत्सव मनाना अनुचित है, क्योंकि कोलम्बो की सरकार प्रतिरोध के स्वर को निशाना बना रही है।

बहिष्कार करने वालों में जिन लेखकों के नाम सबसे पहले सामने आये, उनमें अरुंधती राय शामिल हैं। इन्होंने नॉम चोमस्की आदि के साथ श्रीलंका सरकार पर मानवाधिकार के हनन का आरोप लगाते हुए गाले उत्सव में शामिल होने से इंकार कर दिया था। एक अन्य भारतीय लेखिका अनिता देसाई ने भी उत्सव में शरीक होने से इंकार कर दिया था। ये दोनों भारतीय लेखिकाएं अंग्रेजी में लिखती हैं। यह दुख की बात है कि ऐसा साहस हिन्दी का कोई लेखक आज तक नहीं दिखा पाया है। कुछ व्यक्तिगत कारणों से पुरस्कार ठुकरा देने या समारोह का बहिष्कार करने का मामला तो देखने में जब तब आता है, लेकिन किसी मुद्दे पर सरकार से टकराव की स्थिति में जाने के किसी मामले का अभी सामने आना बाकी है। ऐसा लगता है कि कोर्पोरेट जगत की साम्राज्यवादी नीति के सामने हिन्दी के तमाम पुरोधा लेखक घुटने टेक चुके हैं या फिर भारत सरकार की तरह यह मानने लगे हैं कि इसी में

उनका कल्याण है। दो लाख से ज्यादा किसानों की आत्महत्या इन्हें विचलित करने के लिए काफी नहीं, विकास के नाम पर हजारों गांवों का खाली करा दिया जाना उनके लिए कोई मायने नहीं रखता।

हिन्दी का लेखक होने का दम भरने वाली एक महिला ने जयपुर साहित्य उत्सव में कहा कि हिन्दी वालों को अब अंग्रेजी का रोना बन्द कर देना चाहिए, फिर वहां से लौट कर एक अखबार के सम्पादकीय पृष्ठ पर उन्होंने लिखा कि भारत में 96 प्रतिशत बच्चे स्कूल जा रहे हैं और अंग्रेजी सीख रहे हैं। फिर अगले पैराग्राफ में लिखती हैं कि विगत में मुठ्ठी भर सवर्णों की भाषा कहलाने वाली संस्कृत ने पूरे देश को सांस्कृतिक रूप से बांधे रखा था और आज हम अंग्रेजी को भले ही कुलीनों की भाषा मानें, लेकिन क्या इसके बिना अहिन्दीभाषी भारतीयों से हमारा सार्थक संवाद सम्भव है। श्रेष्ठताबोध के साथ ऐसी गुलाम मानसिकता ब्राह्मणवाद में ही सम्भव है। हालांकि यह लेखिका हिन्दी की प्रतिनिधि लेखिका नहीं हैं, लेकिन अफसोस की बात यह है कि हिन्दी साहित्य ऐसी ही सोचों से जकड़ा हुआ है। यह गरीब का विरोध करता है, गरीबी का नहीं, कानून नहीं मानने वाले नागरिकों का विरोध करता है, कानून का नहीं चाहे वह अन्यायपूर्ण ही क्यों न हो, वह अंग्रेजी का गुण तो गाता है, लेकिन वैसी हिम्मत दिखाने की कभी सोच नहीं पाता। जैसा कि ऊपर कहा गया कि दो भारतीय अंग्रेजी लेखिकाओं ने मुखर होकर विरोध जताया और उत्सव में शामिल होने से इंकार किया। यह साहित्य में व्याप्त पाखंड है, जो उसे उत्सव की ओर ले जा रहा है और पाठकविहीन बना रहा है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि वहां जो भीड़ थी, वह किसकी थी—पाठकों की ही तो थी, लेकिन उन्हें जान कर दुख होगा कि वे पाठक नहीं थे, बल्कि प्रशंसक थे। वे 'तेरा क्या होगा कालिया' जैसी पंक्तियां लिखने वाले या 'कजरारे कजरारे' जैसे गीत लिखने वालों के प्रशंसक थे या फिर मजमा प्रेमी थे, जो यूं ही तामझाम देख कर मन लगाने चले आये थे। जीवन को साहित्य की कैसी गम्भीर जरूरत होती है, वह ये सोच कर वहां नहीं आये थे और न वहां इकठ्ठे लेखकगण को गम्भीरता से ले रहे थे। वे उत्सवकर्ता के मनमिजाज के मुताबिक खुद को ढालते हुए वहां आए थे। इसलिए खुद को गम्भीर मानने वाले एकाध वैसे लेखक, जो वहां पहुंच गये थे, उन्हें लगा कि उनकी अवहेलना की जा रही है जबकि ऐसा कुछ भी नहीं किया जा रहा था। बात सिर्फ इतनी है कि जिन लेखकों-कवियों को महत्त्व दिया जा रहा था, वे उनसे भी ज्यादा विचारहीन थे। जैसे कि कभी इन लोगों ने अपनी विचारहीनता से विचारपरक रचनाकारों को दरकिनार करने का काम माहौल को हल्का कर किया था। अब माहौल को उनसे भी ज्यादा हल्का करने वाले लोगों ने इनको धकियाया है तो वे तो उन्हीं के गोत्र के हुए तो उनसे वही निपटें—जैसे कि मंच को झपट लिए चुटकुलेबाजों से हास्य कवियों की फौज जूझ रही है। यह कहीं से साहित्य का मसला नहीं है। जो गम्भीर रचनाकार हैं, वे आज भी दुनिया को बदल देने का सपना देखने वाली जनता के साथ संघर्षरत हैं। ❑

वन्दना राग



इन्तजार और अभी...

भूमण्डलीकरण के दौर के आक्रामक स्वरों के बीच भारतीय स्त्री कथा को किसी चिरपरिचित एकांगी भाषा में परिभाषित करना सम्भव नहीं है। स्त्री को समाज की स्वतन्त्र इकाई के रूप में लक्षित करने के बाद हमें स्त्रियों के सामाजिक-अन्तरसामाजिक तथा आर्थिक वर्गीकरण के उपस्थित खाँचों पर नज़र डालनी होगी। पितृसत्तात्मक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने स्त्रियों की आज की स्थिति के अन्तर में किस प्रकार मूल-चूल प्रभुत्वशाली जड़ें फैलायी हैं, इसे भी गहराई से देखना होगा।

यदि हम आज़ादी के वर्षों के बाद के सवर्था क्रान्तिकारी और विविध आयामी वर्षों की पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि नब्बे के दशकों से अचानक ही विस्फोट समान खुले बाजार की आर्थिक नीति का उद्घोष होता है और सम्भावना से अधिक तीव्र गति से भारतीय समाज के ढाँचे में तोड़-फोड़ पैदा हो जाती है।

खुले बाजार और वैश्विक गाँव का न्यौता बेहद आकर्षक और चमकीला होता है और अब तक के प्रचलित नागरिक व्यवहार को चुनौती देता है। फलस्वरूप समाज की प्रत्येक इकाई को यह अपना हिस्सा हो जाने को उकसाता है। इससे समाज में उथले तौर पर भारी परिवर्तन की गुँजाइश नज़र आती है और कुछ हलकों में इसका असर दिखलाई भी पड़ने लगता है।

इस तरह के बाजार की सबसे बड़ी खासियत है कि वह एक किस्म की सुविधा भोगी व्यवस्था का समाज में निरूपण करता है, जिसका श्रम से सीधा रिश्ता नहीं

भी हो सकता है। ऐसे में समाज के अनेक वर्ग और सरकारी विकास प्रणाली के सूचकांक एक सम्भ्रान्ति प्रतिपादित करते हैं, जिसके अनुसार आर्थिक खुशहाली के आँकड़े समाज की विकासगामी परम्परा का निर्वहन भी करते हैं। प्रश्न लेकिन यह उठता है कि क्या इस प्रकार के सरल निकषों से भारतीय समाज की परतदार जटिलताओं को व्याख्यायित किया जा सकता है?

भारतीय समाज वर्गीय विषमताओं के साथ-साथ जातीय तथा जनजातीय प्रकार की विषमताओं से हमेशा ही अभिशप्त रहा है। भारतीय स्त्री भी इस वर्गीकरण से अछूती नहीं। साथ ही उसका दर्जा पीढ़ियों पूर्व से अनेक प्रकार के मिथकों और पूर्वाग्रहों द्वारा निर्णीत किया जाता रहा है। अतः भारत जैसे बहु-जातीय, बहु भाषी और बहुसांस्कृतिक देश में, विकसित देशों की तर्ज़ का आर्थिक सामाजिक विकास का समायोजित लाभ वंचित तबकों तक ठीक से पहुँच भी पाता है या नहीं, इसमें संशय है। यह संशय स्त्री के सम्बन्ध में और भी गहराया है, जब हम अनुभूत करते हैं कि भारतीय स्त्री परिप्रेक्ष्य, भूमंडलीकरण के वर्षों में भी, एक ही साथ अठारहवीं, उन्नीसवीं, बीसवीं तथा इक्कीसवीं सदी की सोचों को विभिन्न स्तरों पर साथ-साथ भुगत रहा है। इसी वजह से आज की भारतीय स्त्री की एक मुकम्मल तस्वीर नहीं खिंच पाती हैं भारतीय स्त्री अन्य समकालीन स्त्री कालों और परिप्रेक्ष्यों से अनेक समानताओं के बावजूद भिन्न ही दिखलाई पड़ती है।

स्त्री के देह सम्बन्धी अधिकारों की बात करते वक्त हम पाते हैं कि आमतौर पर स्वास्थ्य के क्षेत्र में हुई प्रगति से स्त्री का जीवन भी अधिक सुरक्षित हुआ है। स्वस्थ जीवन जीने की योजनाओं ने स्त्री को भी लाभ पहुँचाया है। स्त्री की जीवन दर नब्बे के मध्यवर्ती वर्षों के बाद सुधरी है। स्त्री को कोख के अधिकार से भी तथाकथित रूप से समर्थ किया गया है।

सेक्स के प्रति तेजी से बदलते सामाजिक नज़रिए और गर्भ निरोधकों की खुली बिक्री ने देश में भूमंडलीकरण की उत्तर अन्तर्कथा के रूप में एक 'यौन क्रान्ति' का उद्घोष कर दिया है। जाहिर है, खुले बाजाार के प्रमुख टूल के रूप में मीडिया, सेक्स के प्रति न सिर्फ जागरूकता बढ़ाने का काम कर रहा है, बल्कि अनेक बार वह सार्थकता की सीढ़ी लाँघ, अश्लीलता की ओर अग्रसर हो जाता है। यह कर्म कई बार आपत्तिजनक होने के बावजूद, दण्डित नहीं होता है, क्योंकि क्या कितना और कैसे दिखाया-बताया जाना चाहिए, उसके लिए कानून बहुत ठीक से अभी तक बनाए अथवा कार्यान्वित नहीं किये गये हैं।

स्त्रियाँ, प्रजनन सम्बन्धी निर्णय लेने लगी हैं। रोज़गार के साथ घर-परिवार का सन्तुलन बनाने हेतु, अनेक स्त्रियाँ ग़ैर वैवाहिक सम्बन्धों, विलम्बित मातृत्व तथा अविवाहित मातृत्व को अपनाने लगी हैं। महानगरों में यह एक नये सच के रूप में उभर रहा है। 'देह की शर्म और पवित्रता' जैसे जुमलों से बँधी स्त्री का अन्तस धीमे-धीमे खुलकर बाहर आ रहा है। बहुत स्त्रियों के लिए कौमार्य अब गर्व करने का मुद्दा

नहीं रहा है। इण्डिया टुडे नामक पत्रिका द्वारा कराए गए अनेक सर्वेक्षणों से सोच में हुए इस प्रकार के परिवर्तन सामने आये हैं।

इस बदलते हुए सच के साथ सिक्के के दूसरे पहलू समान, हमें दूसरे सचों से भी रूबरू होना होगा। तमाम कथित दावों के बावजूद आँकड़े यह भी बताते हैं कि 1981 की अपेक्षा 1991 से 2001 तक के वर्षों में बालिका भ्रूण हत्या तथा बालिकाओं की 'उपेक्षा' दरों में साधारणतया वृद्धि ही हुई है। लैंगिक अनुपात स्त्रियों के बरअक्स पुरुषों के पक्ष में, दिल्ली शहर में सबसे अधिक नज़र आता है। यहाँ 'दिल्ली शहर' महानगरीय आर्थिक सम्पन्नता, देश की राजधानी और देश के सम्पन्न राज्य—(जहाँ प्रति व्यक्ति आय दर सबसे अधिक है) की वजह से उस प्रातिनिधिक भारतीय शहर के रूप में प्रस्तुत होता है, जहाँ आर्थिक सम्पन्नता, मानसिकताओं के विकास में अभी भी रूपान्तरित नहीं हो पायी है। वह मानसिकता जो अपनी स्त्रियों को ले अब भी अनेक तरह के विरोधाभासों में जकड़ी हुई है। आर्थिक उदारीकरण किस तरह मानसिकताओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं कर पाया है, इसका दूसरा उदाहरण पंजाब प्रान्त है। आँकड़े बताते हैं कि पंजाब में अभी हाल के सर्वेक्षण के बाद यह पाया गया है कि 793 लड़कियों के मुकाबले 1000 लड़के हैं। इसके विपरीत केरल प्रान्त में 1058 स्त्रियों के मुकाबले 1000 पुरुष हैं। केरल का यह आँकड़ा न सिर्फ भारत में व्याप्त आँकड़ों में श्रेष्ठ आँकड़ा है, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के भी बेहद नज़दीक ठहरता है। जाहिर है इन प्रवृत्तियों की वजह से हम आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के प्रभावों के साथ तालमेल नहीं ढूँढ़ सकते हैं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, शिक्षा की सहज उपलब्धता, स्त्री के प्रति सम्माननीय सांस्कृतिक दृष्टि और अनेक प्रकार के सामाजिक पूर्वाग्रहों के सम्मीलियन से ही भारत के विभिन्न अंचलों के स्वभाव को रेखांकित किया जा सकता है। इसे खुला बाज़ार चाहकर भी भारत में अभी तक हल नहीं कर पाया है। अतः भारत के अनेक प्रान्तों में कोख के अधिकार, मातृत्व के सुख, सब मिलकर उसी पितृसत्तात्मक सत्ता की उत्पत्ति और पोषण में संलग्न हो जाते हैं, जिसके तिरस्कार से निजात पाने हेतु कोख के अधिकार की कामना की गयी थी।

इसी तरह आर्थिक उदारीकरण ने स्त्रियों के प्रमुख रोजगार नियोक्ता ग्रामीण कृषि क्षेत्रों को भी अपने सीमित प्रभाव से अपदस्थ कर दिया है और 1990 के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में आय के स्रोत लगभग नष्ट हो गये हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की दैनिक आया पहले से ही कम थी और अब आँकड़े बताते हैं कि 1990 के बाद कमी के अनुपात में और भी वृद्धि हुई है।

सरकार की एक अन्य महत्त्वाकाँक्षी योजना स्त्रियों को राजनैतिक अधिकारों से लैस करना था। अनेक तरह के आरक्षणों में पंचायतों में आरक्षण, योजना-लक्ष्य तथा व्यवहार-सफलता के बीच के लम्बे फासले को रेखांकित करता हे। अनेक निर्वाचित स्त्रियों के बजाय उनके पति, उनके दायित्वों और कार्यों को अंजाम तक पहुँचाते

हैं। अर्थात् सत्ता का आभास रचा जाता है और असल सत्ता स्त्रियों को कभी प्राप्त होती नहीं। महिला आरक्षण बिल की वजह से संसद में हुए हंगामों को आसानी से भुलाया नहीं जा सकता है।

पूँजी के अधिक मालिक पुरुष ही हैं और स्त्रियों के अनेक श्रमों को अभी भी ठीक से वर्गीकृत नहीं किया गया है। ऐसा श्रम, जिसमें आय नही है, जैसे घरेलू कामकाज, घरेलू हस्तकौशल की चीजों का उत्पादन, साफ-सफाई तथा बच्चों की सार सम्भाल, मिलकर आर्थिक व्यवस्था में अपना योगदान करते हैं, लेकिन इस तरह के श्रम की आवाज़ को अक्सर अनसुना कर दिया जाता है। एक और आँकड़ा यह भी बताता है कि पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों की आय दर के बीच का फासला 1990 के बाद अनेक क्षेत्रों में बढ़ ही गया है। इसी के साथ यह भी देखने में आया है कि हमारे देश की आधी स्त्री आबादी अब भी साक्षर नहीं है।

महानगरों में रोज़गारों के अवसरों के बढ़ने की वजह से कस्बों तथा ग्रामीण इलाकों से स्त्रियाँ भी बहुधा परिवार के साथ अथवा स्वयं भी अकेले बेहतर शिक्षा तथा प्लेसमेंट के अभिप्राय से, भारी तादाद में शहरी हो रही है। 1995 के बाद से दिल्ली में कामकाजी स्त्रियों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है। मीडियाघरों, कारपोरेट घरों, काल सेंटरों जैसे नये पैदा हुए रोज़गार क्षेत्रों के साथ ही मज़दूर स्त्री की जनसंख्या भी दिल्ली में बढ़ी है।

इसी के मद्देनज़र स्त्री के शक्तिकरण के प्रतिशत के आँकड़े बताते हैं कि स्त्री की स्थिति आज पहले की अपेक्षा अति संवेदनशील बन गयी है। यह भारत में आर्थिक उदारीकरण के उस द्वैत की ओर इशारा करता है, जिसके अनुसार अर्थ की उपलब्धि सामाजिक विकासगामी प्रवृत्तियों की उपलब्धि नहीं हो पाती है। स्त्री इस नयी व्यवस्था के बावजूद अपने सामन्ती अवशेष की नवीन अवतार वाली भोग्या ही बनी हुई है। बालात्कार की बढ़ती घटनाएँ, इस प्रवृत्ति की पुष्टि करती हैं। स्त्री यदि स्वेच्छा से भोग्या नहीं बन रही है तो उसे अपहरण और बालात्कार की सजा भोगनी होगी। दिल्ली में आए दिन वारदातें घट रही हैं, लेकिन महानगरीय सभ्यता से दूर इलाके क्या इससे बचे रह पाये हैं।

हाल ही में हुई बाँदा की घटना में एक राजनैतिक प्रतिनिधि ने एक अवयस्क लड़की से बालात्कार किया और शोषित स्त्री को न्याय दिलाने के बजाय दोषी को बचाने का प्रयास हुआ। इस अवसरवादी, भोगवादी समय में, शर्म की मियाद भी मानो घट गयी है और प्रायः ऐसी घटनाएँ सनसनी फैला कर भुला दी जाती हैं, यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि बाँदा जिला उत्तर प्रदेश का एक पिछड़ा इलाका है और अब भी अपनी सामन्ती मनःस्थिति को जी रहा है तो दिल्ली में घटती बलात्कार की घटनाओं को क्या कहेंगे? ये आये दिन क्यों हो रही हैं?

सचमुच ऐसा प्रतीत होता है मानो भारत की नवउदारवादी संस्कृति ने भारतीय स्त्री को नए कास्मेटिक जामें पहना दिए हैं, लेकिन उसे स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता

के अधिकारों से वंचित रखा है। चूँकि भारत में यह पहले से ही शास्त्रोचित, धर्मोचित और समाजोचित रहा है, इसलिए बदले आर्थिक यथार्थों के बावजूद इस प्रवृत्ति के लिए नयी वैधता की मुहर दरकार नहीं। यदि स्त्री अपने अंचलों, व्यवहारों और परम्पराओं के अनुशासन को भंग करती है तो उसे दण्डित करने का हक समाज को प्राप्त है। किसी भी प्रकार की अर्थ नीति उस सामाजिक कानून के विरुद्ध और स्त्री के पक्ष में खड़ी दिखलाई नहीं पड़ती। कला हो या व्यवसाय, साहित्य हो अथवा प्रशासन, स्त्री कहीं की हो, कहीं भी हो, यदि वह एक खास तरह की अभिव्यक्ति को सम्प्रेषित करती है, जिससे उसकी निजता और स्वातन्त्र्य झलके तो समाज उसे फाहिशा ठहराने में देर नहीं करता।

भारतीय न्याय प्रणाली की सत्ता को दरकिनार करती सामान्तर व्यवस्थाओं ने हाल के वर्षो में आक्रमक तथा डरावने रूप अख्तियार कर, समाज में दुबारा अपनी मध्ययुगीन सत्ताओं को कायम करने का सफल प्रयास किया है। दिल्ली, हरियाणा, पंजाब जैसे सम्पन्न क्षेत्रों में खाप पंचायतों-ग्रामीण कस्बाई, धार्मिक तथा कुटुम्बी अन्य व्यवस्थाओं ने प्रेम विवाह, सह गोत्रिय विवाह, लिव इनरलेशिप, परित्यक्त स्त्री और असहाय स्त्रियों को डायन मान मध्युगीन फैसले सुनाए हैं। इनमें सामाजिक बहिष्कार से लेकर मृत्यु दंड तक शामिल है। इन फैसलों को लेकर एक और खौफनाक बात जो सामने आती है, वह यह कि इन फैसलों की बाकायदा तामील होती है और कानून व्यवस्था असहाय हो खड़ी देखती रहती है। यह सम्पन्न क्षेत्रों में अर्थ की उपस्थिति के बाद की त्रासद और विडम्बनापूर्ण छवि है।

यहीं पर भारतीय स्त्री के पूर्वकालिक 'स्टीरीयोवाई 'देवी' (अति सशक्त किन्तु अवांछनीय और पूज्य) और अबला (बेहद वांछनीय) जिन्हें शुचिता तथा कलुष के दर्शन से पोषित किया जाता है, याद आती है। इन छवियों का टूटना, भारतीय समाज को सहजता से स्वीकार्य नहीं हुआ, इसीलिए उसने एक नए स्टीरीयोटाइप का गठन किया है, जो उसके पुरुषवादी अहं को ही तुष्ट करता स्टीरीयोटाइप है। वह 'सुपरवुमैन' स्त्री है, जो रोज़गार, अर्थ उपार्जन के दायित्वों के साथ घर-परिवार का दायित्व अपने स्त्रीत्व की तथाकथित अक्षुणता को सुरक्षित रखते हुए बनाती है। वे समाज की सराहना पाती हैं, लेकिन हम पाते हैं कि जैसे ही उस स्टीरीयोटाइप पर खतरे मंडराते हैं और 'सुपरवुमैन' या तो थक जाती है या किसी कारणवश अपने किसी दायित्व की अवहेलना कर देती हैं, तो तुरन्त उसकी पूर्वप्रशंसित उपयोगिता खत्म कर उसकी वैधता को ही संदिग्ध मान लिया जाता है।

दरअसल यही विडम्बना है। खुला बाज़ार भारतीय स्त्री के समक्ष तमाम तरह के विकल्प तो ज़रूर प्रस्तुत कर दे रहा है, किन्तु सामाजिक सत्ता के कर्णधार उसे अब भी स्वतन्त्र चुनाव की आज़ादी से सशक्त नहीं करना चाहते हैं।

आर्थिक उदारीकरण, नवउदारवादी संस्कृति भारतीय तर्ज की पेचीदगियों के हल अभी तक उपस्थिति नहीं कर पाये हैं। यह कठोर और अप्रिय सत्य है कि भारतीय

समाज की जटिलताओं को सेसेंक्स का उछाल नहीं सँभाल सकता। परतदार मानसिकताओं, सोचों, रूढ़ मान्यताओं, विभिन्न क्षेत्रों, वर्गों तथा जातीय-जनजातीय स्त्रियों की कठिनाइयों को बहुत गहरे तक जाकर उघाड़ना होगा। विरासत में मिली 'चुप' संस्कृति यूँ ही नहीं बोलने लगेगी। प्रताड़ित और दंडित होने का खौफ अब भी अनेक हलकों में विद्यमान है, इसीलिए महानगर की स्त्री का संघर्ष ग्रामीण स्त्री से अलग है और दलित स्त्री का अन्य स्त्रियों से इस मायने में अलग कि वह दलित तथा स्त्री होने के दोहरे पूर्वाग्रह का शिकार होती है। इन फर्कों के बावजूद भारतीय स्त्री का यह एक सार्विक सच है कि वह अब भी बेहद पिछड़ी हुई है और शोषित है।

उदारीकरण यूँ ही सम्भव नहीं। जन संघर्ष की आभा में स्त्री संघर्ष को उद्घाटित करना होगा। इसमें पुरुषों की भागीदारी भी होनी चाहिए। अन्तिम संघर्षों में पुरुष उसका प्रतिपक्षी नहीं, उसके संघर्ष के सहआकाँक्षी के रूप में सामने आएगा। तभी सम्पूर्ण उदारीकरण सम्भव होगा।

मौलिक अधिकारों हेतु स्त्री को अभी बहुत लम्बा संघर्ष करना हे। सबसे पहले भारतीय स्त्री, जीवन जीने का अधिकार प्राप्त कर उसे सम्भव करे। तभी आगामी संघर्षों की जमीन तैयार होगी। जीने का अधिकार, देह का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, श्रम के उचित मूल्य का अधिकार, पूँजी पर अधिकार के संघर्ष ही अन्ततः स्त्री को उस सम्मान की लड़ाई की ओर ले जाएँगे, जिसका आकाँक्षी हर मनुष्य होता है।

अन्ततः यह संघर्ष एक मनुष्य होने और मनुष्य की तरह पहचाने जाने का ही संघर्ष है।

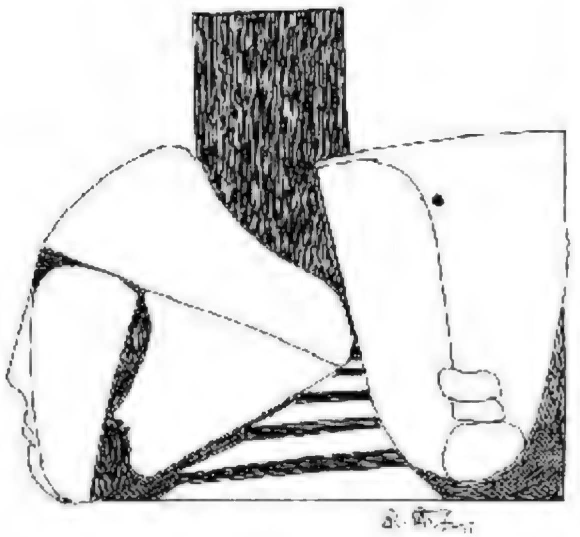
हम तो लेंगे सारा का सारा जीवन,
कम से कम वाली बात हमसे न कीजिए।[2]

सन्दर्भ–

1. आँकड़े–साभार मैक्रोस्कैन सम्पादक–सी. पी. चन्द्रशेखर और जयती घोष।
2. कविता की पंक्तियाँ–रघुवीर सहाय।

❑

आलोक पाण्डेय



हिन्दी और भूमंडलीकरण

भूमंडलीकरण को भारत में पाँव पसारे लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं। भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण के हमारे देश के लिए क्या मायने रहे, उससे हमें क्या मिला और उसने हमसे क्या लिया, इन मुद्दों के विविध पहलुओं पर विचार विमर्श जारी है। मूल्यांकन अपने-अपने ढंग से तमाम लोग कर रहे हैं। मुझे हिन्दी के सन्दर्भ में अपनी जाँच-पड़ताल करनी है।

पर अपनी जांच-पड़ताल शुरू करने से पहले मैं एक बार फिर से भूमंडलीकरण को लेकर अपनी समझ को साफ करना चाहता हूँ और साथ ही एक बार फिर अपने मन के उस भाव को ठोक - पीट कर देख लेना चाहता हूँ, जो अब दृढ़तापूर्वक मानने लगा है कि इस भूमंडलीकरण ने हमारा अहित ज्यादा किया है, हमसे लिया बहुत अधिक है, दिया बहुत कम है। यदि कुछ दिया है तो!

मैं भूमंडलीकरण के बारे में ऐसी नकारात्मक राय क्यों रखता हूँ? बीस वर्षों में आयी चमक क्या मुझे नहीं दिखती है? क्या मुझे विप्रो, इन्फोसिस और माइक्रोसाफ्ट के चमकते ऑफिस और उनमें गर्व से काम करने वाले युवा नहीं दिखते? क्या मुझे मर्सीडीज और बी एम डब्ल्यू और हार्ले डेविडसन की बढ़ती बिक्री नहीं दिखती? क्या मुझे लकदक और जगमग शापिंग माल नहीं दिखते? और क्या मुझे वर्ल्ड क्लास एयरपोर्ट और वहाँ से उड़ता मध्य वर्ग नहीं दिखता?

दिखता है, पर साथ में मुझे कुछ और भी दिखता है। मुझे विप्रो और इन्फोसिस

आदि की चमकदार इमारतों से रात भर काम कर सुबह-सुबह लाल-लाल आँखों और भारी सिरों के साथ घर लौटते युवा भी दिखते हैं। मुझे तीस वर्ष का युवक हाई बी पी की दवाएं लेता दिखता है। मुझे बीस वर्ष की लड़की के हाथों में थमा स्काच का गिलास, नाक से निकलता धुआं और पर्स में रखी आइ पिल की गोली भी दिखती है। एक सर्वेक्षण करा कर देखिये कि आई टी सेक्टर में काम करने वालों का मानसिक, शारीरिक और भावनात्मक स्वास्थ्य कैसा है? हो पाए तो जरा यह भी देखिए कि उनकी आय का बड़ा हिस्सा कहाँ खर्च होता है। उस आय का, जो उनके जीवन और स्वास्थ्य की कीमत पर आ रही है। मुझे गाड़ियां तथा फ्लैट खरीदता और हवाई यात्राएं करता मध्यवर्ग दिखता है, पर साथ में उसके होंठों से गायब मुस्कुराहट भी दिखती है और कर्ज के तनाव से बनी उसके माथे पर ई एम आई की लकीरें भी। शापिंग माल हमारे समय के नए पार्क हैं। पड़ोसी और दोस्तों के घर जा धमकने की फुर्सताना अदाएं विदा हो गयी हैं, पर एक सामाजिक प्राणी मनुष्य आखिर कहाँ जाए? लगातार असामाजिक होता जा रहा मनुष्य अन्ततः सामाजिकता की तलाश करता ही है और यह सामाजिकता उसे या तो टेलीविजन देता है या फिर मल्टीप्लेक्स और शापिंग माल। इन शानदार मालों में घूमकर टाइमपास, विंडो शापिंग और फिर धीरे-धीरे सचमुच की शापिंग करने की उसकी नयी जीवनशैली ने उसे लालची, ईर्ष्यालु और कर्जखोर ही नहीं बनाया है, उसके अन्दर जरूरी और गैरजरूरी का फर्क भी मिटा दिया है।

यह तो उस फाँक की एक झलक है, जो मुझे चमकते - दमकते भूमंडलीकरण की उपलब्धियों के दावे में दिखती है। इसके परे दुखों-विपत्तियों और विपदाओं से भरा कराहता हुआ एक बड़ा और भयानक संसार है, जो इसी भूमंडलीकरण का बाई प्रोडक्ट है। इस भयानक संसार के नागरिक कौन हैं ? इसके नागरिक वे हैं, जो नागरिकता की बुनियादी शर्तों से भी बाहर हैं या धकेल कर बाहर कर दिए गये हैं। ये अपने जंगल, जमीन और हक के लिए लालची मल्टीनेशनल्स और उनकी दलाल सरकारों से लड़ रहे आदिवासी हैं, जिनका नया सरकारी नाम नक्सलाइट है। ये वे किसान हैं, जो कर्ज न अदा कर सकने के कारण होने वाली जिल्लत से बचने के लिए रोज आत्महत्याएं कर रहे हैं और जिनकी बहू-बेटियाँ गाँव के पास के हाईवे पर रात के अँधेरे में खड़ी ट्रकों का इन्तजार करती रहती हैं। ये बदबूदार नाला बन चुकी जहरीली नदियों का इस्तेमाल करने और नतीजतन टेढ़े- मेढ़े अंगों वाले बच्चों को जन्म देने को मजबूर लोग हैं। अभिधा में कहूँ तो इस देश के बहुसंख्यक के पास साफ पानी नहीं है। इलाज के लिए अस्पताल नहीं हैं। पढ़ने के लिए स्कूल नहीं हैं। उनकी शिकायत सुनने वाले कान नहीं हैं और न ही उनका बेहाल हाल देखने वाली आँखें एक जरा सी बारिश उनके घर में बाढ़ ला देती है। आज का खाना मिल भी जाए तो कल का कोई ठिकाना नहीं। भूख, बीमारी, बदहाली और गुरबत मेरे भारत के नये पर्यायवाची हैं। ये शब्द अपने पीछे सत्तर करोड़ लोगों की अनसुनी चीखें ढोते हैं और विडम्बना यह है कि ये उसी शब्दकोष में हैं, जिसमें लकदक, जगमग, चमचमाते हुए भूमंडलीकरण की उपलब्धियों की रौशनी में थिरकते हुए अन्य दूसरे शब्द।

मुझे तो भूमंडलीकरण के नाम पर यही दिखता है। मैं लाख कोशिश करता हूँ कि मुझे सचमुच का कुछ अच्छा दिख जाए। आखिर कुछ तो अच्छा, नेक और भला होगा इसमें, पर देख नहीं पाता। ज्यादा जोर देने पर मुझे साठ रुपये किलो की प्याज, तीस रुपये लीटर का मिट्टी का तेल, बाँझ बीज, बन्द हो चुके अनेक कल कारखाने, रिलायंस फ्रेश के सामने अकेले खड़े सब्जी वाले का भरा ठेला और खाली आँख दिखने लगती हैं। इन तरह-तरह के दृश्यों की गहराई में जब उतरता हूँ तो पाता हूँ कि भूमंडलीकरण की नीयत और चरित्र की ये अनिवार्य परिणितयां हैं। यह होना ही है। अधिकतम उपभोग के जीवन दर्शन की यही नियति है। भूमंडलीकरण आखिर है क्या? वह अमेरिकी इच्छाओं और नीतियों से नियंत्रित और चालित एक ऐसी स्थिति है, जो कहती है कि पूरी दुनिया एक गाँव है। इस गाँव में सबको छूट है कहीं कुछ भी करने की, अपना सामान बनाने की और उसे कहीं भी बेचने की। यानी नेपाल अपना सामान अपने यहाँ बनाकर भी अमेरिका के बाजार में बेच सकता है और अमेरिका में बनाकर भी अमेरिका में बेच सकता है और इसका ठीक उल्टा भी हो सकता है। कागज पर यह बात जितनी सुन्दर और लुभावनी दिखती है, हकीकत में उतनी ही खतरनाक और डरावनी है।

नेपाल कैसे अमेरिकी उत्पादों की श्रेष्ठता से टक्कर ले सकता है? नतीजा यह होगा कि नेपाल में ही, उसी की जमीन पर, उसी के पानी, उसी की बिजली और उसी के लोगों द्वारा, उसी की पुलिस की सुरक्षा में कोई अमेरिकी कम्पनी अपनी श्रेष्ठ तकनीक और मशीनों से सामान बनाएगी और उसके ही लोगों को बेचेगी। परिणाम? जनता वह बेहतर सामान खरीदेगी। नतीजतन वही सामान बना और बेचती चली आ रही उसकी अपनी फैक्ट्री बन्द हो जाएगी। उस फैक्ट्री का मालिक इस अमेरिकी कम्पनी के किसी अंग से या तो जुड़ जाएगा या घर बैठ जाएगा और मजदूर मजबूर होंगे अमेरिकी कम्पनी की शर्तों पर काम करने के लिए। मुनाफे का थोड़ा सा अंश सरकार को टैक्स के रूप में मिलेगा और थोड़ा उसके शासकों को मेज के नीचे से। फिर ये शासक गर्व से जनता को बताएँगे कि कैसे उनके महान प्रयासों के बाद यह पूँजी निवेश हुआ है और बहुत सारा टैक्स ही नहीं मिला है, बल्कि इतने सारे लोगों को रोजगार भी मिला है। जो वे नहीं बताएँगे, वह यह कि कितना मुनाफा उस कम्पनी ने कमाया और अपने देश ले गयी। वह यह भी नहीं बताएँगे कि पर्यावरण ने इस मुनाफे के लिए क्या कीमत चुकायी है, यह उदाहरण भयानक शोषण के उस महाख्यान का एक छोटा सा अध्याय मात्र है, जिसे भूमंडलीकरण भी कहा जाता है और यह उदाहरण किसी भी देश का हो सकता है।

बात यहाँ खत्म नहीं होती, बल्कि शुरू होती है और उस मुख्य विषय से जुड़ती है जिस पर मुझे अपनी बात कहनी है। इस प्रकार आप के संसाधनों से बना सामान आप ही के यहाँ बेचकर भूमंडलीकरण के नाम पर यह नव पूंजीवाद मुनाफा कमाता है या फिर अपने संसाधनों से बने सामान आप के बाजारों में बेचकर। मुकाबला बराबर वालों में होता है, इस बुनियादी बात को नकारती, अपने बाजारों में आपको

अपने सामानों को बेचने का न्योता देने का स्वांग रचती ये भूमंडलीकृत नीतियां क्रमशः आप के बाजारों को अपने सामानों से पाट देती हैं और फिर शुरू होता है उनका महाभिनिष्क्रमण। महाभिनिष्क्रमण यानी सामानों को बेचने के लिए ग्राहकों की खोज और उनका निर्माण। ग्राहक पारम्परिक रुचियों और जरूरतों की अपनी परिभाषाओं से सदियों से नियंत्रित होता आया है। उसके जीने का हजार वर्षों का आचार शास्त्र है और उसके पीछे एक पूरा तर्कशास्त्र है। सामान बेचना है तो उसके तर्कशास्त्र को तोड़ना होगा और उसके आचार शास्त्र को बदलना होगा। उस मनुष्य को बदलना होगा, जिसका एक पुरखा उसे सिखा गया था 'थोड़े धन का सुखिया जो निकर्जी होय', कोई दूसरा पुरखा गा गया था 'निज भाषा उन्नति अहे सब उन्नति को मूल' कोई तीसरा पुरखा कह गया था 'कुछ भी करने से पहले सबसे गरीब आदमी के बारे में सोच लेना' और कोई चौथा पुरखा तो बाजार में लुआठी लिए ललकारता हुआ लगातार खड़ा था। उसकी आँखें नींद से जल रही थीं। वह बीच-बीच में रोता भी जाता था, पर वह कहीं गया नहीं था, अब भी खड़ा था उसी बेहद्दी मैदान में। ऐसे पुरखों वाली सन्तानों को कैसे लालची, भोगी और कर्जखोर बनाया जा सकता था।

लेकिन बेचने वाले चतुर और सयाने थे। पुरखे बुद्धिमान तो थे, पर धूर्त नहीं थे। यह चतुराई की बुद्धिमानी पर विजय का दौर था। यह अन्तिम छोर पर खड़े आदमी के ढलान से गिरने की अकाल बेला थी। यह उत्तर कबीर के अवाक् हो दक्षिण जाने का समय था। माया महाठगिनी थी। वह अकेली नहीं आयी थी। उसके साथ सैकड़ों टीवी चौनल्स और इंटरनेट भी आये थे। उनमें लुभावने विज्ञापनों की मादकता थी। अप्सराओं सी स्त्रियां वहाँ सब कुछ बेच रही थीं और उसके अपने पुरखों में भी सब के नाम कबीर और गाँधी कहाँ थे? उनमें कुछ के नाम विश्वामित्र और चार्वाक भी थे। जाहिर था कि अप्सराएँ जीत रही थीं। मर्यादाएं टूट रही थीं। जीने के तर्क बदल रहे थे और तर्कशास्त्रियों के जीवन भी।

भोग की इस आँधी में बहुत कुछ उड़ रहा था, पर अब भी बहुत से लोग अपनी जड़ों को पकड़ कर बैठे हुए थे। उन्हें भी इस उड़ान में शामिल करना था। उनका शामिल न होना नये खुदाओं को मंजूर नहीं था। जब तक हर आदमी खरीदार न हो जाए, हर आदमी कर्जखोर न हो जाए, उन्हें चैन नहीं था। उन चतुर लोगों को पता था कि भीतर से भरे लोग बाहर से भरने की चिन्ता नहीं करते। इसलिए जरूरी था कि लोगों को भीतर से खाली किया जाए। उनकी सामाजिकता और पारिवारिकता तोड़ी जाए। नतीजतन टीवी ने उसे असामाजिक बनाना शुरू किया और उसके विज्ञापनों ने उसे लालची। उपभोग की बढ़ती प्रवृत्ति ने अधिक आय के लिए उसकी पत्नी को भी काम पर लगा दिया। बच्चा जब अकेला और उदास हो गया तो उसके लिए फिर ढेर सारे कार्टून चैनेलों वाला वही टीवी खास उसके लिए बने लुभावने विज्ञापनों के साथ मौजूद था, क्योंकि बच्चा अब सिर्फ बच्चा नहीं रह गया था, अब वह एक बड़ा ग्राहक भी था। सामाजिकता की पुरानी आदत जब कभी आदमी के भीतर उछाल मारने लगती थी तो उसके लिए वर्चुअल रियल्टी का

एक बड़ा संसार भी था, जिसके कई नाम थे- फेसबुक से लेकर ट्विटर तक। सम्बन्धों की यह नयी दुनिया किसी भी जिम्मेदारी से परे थी यानी दोस्ती तो थी, पर उसमें दोस्ती के मूल्य नहीं थे। यह नया मनुष्य था जिसके लिए सम्बन्ध भी चीजों की तरह थे। उपभोग के लिए प्रस्तुत, किसी भी प्रतिक्रिया और जवाबदेही से मुक्त।

लेकिन इस तरह कि दुनिया और मनुष्य के निर्माण के रास्ते में एक बड़ी बाधा खड़ी थी जिसका नाम हिन्दी था। वह एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के सुख दुःख से जोड़ती आयी थी। वह आदमी को उसके पुरखों की कहानियाँ सुनाती आयी थी। इस हिन्दी के पास सैकड़ों वर्षों की तासीर थी। बिना इसे हटाये इन मनुष्यों को पूरी तरह अपने अनुकूल नहीं किया जा सकता था और यह कहानी दुनिया की हर उस भाषा की थी, जो लकीर के उस पार खड़ी थी। यह बेवजह नहीं है कि चीन ने इसी हफ्ते चिंगलिश के प्रयोग को प्रतिबन्धित कर दिया है। चिंगलिश यानी चीनी और इंग्लिश का मिश्रित रूप। चीन ने ऐसा क्यों किया? खासकर तब जब उसके लोग बहुत जोर-शोर से अंग्रेजी सीखने में लगे हैं। उसे पता है कि इसी चोर दरवाजे से इंग्लिश लायी जाएगी और चीनी दूसरे दरवाजे से निकाल दी जाएगी। उसे पता है कि भाषा और संस्कृति का क्या सम्बन्ध होता है और उसे यह भी पता है कि भाषा और संस्कृति के मायने किसी राष्ट्र के लिए क्या होते हैं। अंग्रेजी वह सीख रहा है अपने फायदे के लिए, अमेरिकी नीतियों से लाभ लेने के लिए, न कि उसे लाभ देने के लिए।

पर भारत में क्या हाल है ?

इन्हीं बीस वर्षों में धीरे-धीरे हिंगलिश का प्रयोग शुरू हुआ। किसी ने कोई विरोध न किया। यह हिन्दी में अंग्रेजी के प्रवेश की दिशा में पहला कदम था। आज हालत यह हो गयी है कि हिन्दी की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'वाक्' तक में यह हिंगलिश पर्याप्त मात्रा में मिलती है और उसके प्रयोक्ताओं के यह तर्क भी कि हिन्दी जड़ होकर नहीं रह सकती, जो भाषा लोग जीवन में इस्तेमाल कर रहे हैं, हम उसे ही साहित्य में इस्तेमाल कर रहे हैं। यह कुतर्क पूरे बल से बहुतों ने चलाया है। यह हाल विद्वानों का है तो विद्यार्थियों और सामान्य लोगों का तो कहना ही क्या? धीरे-धीरे हालत यह होती गयी है कि हिन्दी भाषियों के लिए अंग्रेजी शब्दों के बिना एक वाक्य भी बोलना मुश्किल होता गया है। हिन्दी के अध्यापक तक इस दुष्चक्र में फंस चुके हैं। कुछ लोग इसे हिन्दी की नियति या विकास यात्रा की एक अनिवार्य स्थिति मानने लगे हैं। टीवी चैनल्स के नाम हों या हिन्दी फिल्मों के शीर्षक या हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के नाम, हिन्दी हर जगह जैसे अब अंग्रेजी का अनुवाद और परछाई बन कर रह गयी है।

पर हिन्दी की मुसीबत यहीं खत्म होने वाली नहीं थी। हिन्दी हटाओ और अंग्रेजी लाओ की इस मुहिम में एक नया मोड़ आया है। सन्मार्ग जैसे अखबार अब बाकायदा अंग्रेजी के पद या शब्द रोमन में लिख रहे हैं और उनका तर्क है कि इस तरह लिखकर ही उनका अखबार एक बड़े पाठक समूह तक पहुँच सकता है। (सुनने

में आया है कि उसके मालिकों के अलिखित सख्त आदेश हैं कि अखबार में कम से कम चालीस शब्द अंग्रेजी के और रोमन लिपि में होने चाहिए) उस पाठक तक, जिसे मामूली हिन्दी आती है, जो अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ कर निकला है, पर जिसके घर में हिन्दी का अखबार आता है। जाहिर है यह नया पाठक वर्ग उन किशोरों का है जो उन मध्यवर्गीय घरों से आते हैं जहां हिन्दी भाषी अभिभावकों ने पेट काट कर अपने बच्चों को अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ाया है। मीडिया द्वारा लायी जा रही यह हिन्दी हिंगलिश से कई कदम आगे बढ़ हिन्दी का क्रियोलीकरण करती है। कहना न होगा कि यह क्रियोलीकरण हिन्दी की जड़ों पर तगड़ी चोट पहुंचाता है।

इसी के साथ हिन्दी के सामने एक और बड़ी समस्या आयी है, जो लगातार विकराल होती जा रही है। यह मामला हिन्दी की बोलियों के आठवीं अनुसूची में शामिल होने का है। हमें पता है कि हिन्दी अनेक बेहद महत्त्वपूर्ण बोलियों और उनके साहित्य को आत्मसात कर अपने वर्तमान रूप तक पहुंची है। पिछले कुछ वर्षों से इसकी बोलियों के बोलनेवालों को यह लगने लगा है कि हिन्दी ने उनकी कीमत पर प्रगति की है। दुःख की बात यह भी है कि अभी तक दूसरी भारतीय भाषाएं हिन्दी को साम्राज्यवादी कह कर कोसती थीं और हिन्दी का विरोध करती थीं। यह विरोध अपनी जगह पर कायम है। दूसरी तरफ अंग्रेजी तेजी से हर क्षेत्र में स्थापित होती जा रही है और ऊपर से यह भीतर की मार यानी हिन्दी तीन तरफा दबावों में है। बोलियों के आंदोलनकर्ताओं की माँग है कि उन्हें आठवीं अनुसूची में रखा जाए ताकि उनका विकास हो सके। इस तरह की माँग को लेकर हिन्दी की कई बोलियों के लोग जोर-शोर से आन्दोलन चला रहे हैं और हिन्दी को साम्राज्यवादी कह रहे हैं। उनको लगता है कि आठवीं अनुसूची में शामिल होकर उनका वह विकास हो सकेगा, जो आज तक हिन्दी के नाते नहीं हो सका। ये पहाड़े उस बोली की जनता को उसके नेता पढ़ा रहे हैं। सच तो यह है कि इन बोलियों के नेताओं का इन बोलियों से कुछ लेना देना नहीं है। सारा मामला आठवीं अनुसूची में शामिल होकर सरकारी अनुदानों की लूट का है। अपने निहित तुच्छ स्वार्थों के आगे उन्हें कुछ दिख नहीं रहा। इन आन्दोलनों में शामिल लोग यह नहीं समझ रहे हैं कि हिन्दी की बोलियों के आठवीं अनुसूची में शामिल होने से हिन्दी का वह संख्या बल समाप्त होता है, जिसके आधार पर वह भारत की राजभाषा बनायी गयी है। असली खेल यहीं है। इसीलिए बोलियों के आन्दोलनकर्ताओं की नीयत पर दोहरा शक होता है। वे अच्छी तरह जानते हैं कि न तो हिन्दी आज इस रूप में सत्ता के सहयोग से आयी है और न ही अवधी या ब्रज राजाओं की अनुकम्पा से अप्रतिम ऊंचाइयों पर पहुंची थीं। इस सारे हंगामे के मूल में हिन्दी को कमजोर कर उसे राजभाषा के पद से हटाना और अंग्रेजी को राजभाषा के स्थान पर लाना है। देश का एक प्रभावशाली तबका अब बाकायदा कहने भी लगा है कि अंग्रेजी भी उतनी ही भारतीय भाषा है, जितनी हिन्दी, बंगला या तमिल और यही लोग खुलकर अब यह भी कहने लगे हैं कि जब सारा काम, सारी पढाई-लिखाई देश में लोग अंग्रेजी में ही कर रहे हैं

और अंग्रेजी देश में एक प्रकार की सम्पर्क भाषा भी बन चुकी है तो हिन्दी का नाटक क्यों? इसमें अनावश्यक धन, समय और ऊर्जा नष्ट हो रही है। ये सारे तर्क क्या कहते हैं? 'जयपुर लिटरेरी फेस्टिवल' जैसे कार्यक्रम कैसे संकेत दे रहे हैं? हिन्दी अखबारों की स्थिति तत्त्वतः इतनी दयनीय क्यों है? हिन्दी की अनेक श्रेष्ठ पत्रिकाएँ क्यों बन्द होती गयी हैं? हिन्दी के मनोरंजन या समाचार चौनल इतने घटिया क्यों हैं? हिन्दी के सबसे अच्छे अखबार जनसत्ता की हालत खस्ता क्यों है ?

क्या यह परिदृश्य अपने आप बना है या फिर बड़े षड्यन्त्रों के तहत बनाया गया है? सवाल यह है कि सरकार से लेकर कॉर्पोरेट तक सबकी हिट लिस्ट पर आखिर हिन्दी क्यों है? हिन्दी को हटाने और अंग्रेजी को लाने की यह रजामन्दी और बेचैनी क्यों है और इस हिन्दी विरोध का भूमंडलीकरण से क्या सम्बन्ध है?

हम जानते हैं कि हिन्दी अपने जन्म से ही इस देश के आम आदमी की जुबान रही है। आजादी की लड़ाई का माध्यम बनने से लेकर कभी भी, कहीं भी किसी भी जन संघर्ष में हिन्दी जनता की एकता और उसके प्रतिरोध की आवाज बन कर सामने आती रही है। वह अकेली भाषा है, जिसे इस देश के अधिकांश लोग सुन, समझ और बोल सकते हैं। दूसरी तरफ अंग्रेजी शासन की, शोषण की भाषा रही है और अब वह भूमंडलीकरण की मुख्य भाषा है। वह उस पूँजी की भाषा है, जो पूरी दुनिया में भूमंडलीकरण के नाम पर फैलती जा रही है। सरकारें इस पूँजी की गुलाम हैं। यह पूँजी चाहे देशी हो या विदेशी, अपने चरित्र में एक है। मुनाफाखोरी के लिहाज से रतन टाटा और कोकाकोला में कोई फर्क नहीं है। मल्टीनेशनल्स और कार्पोरेट्स की विश्व भाषा अंग्रेजी है और चूँकि इस पूँजी का सबसे बड़ा हिस्सा अमेरिकी है, इसलिए अंग्रेजी भी अमेरिकी ही है। इस पूँजी के लिए अंग्रेजी में काम करना आसान है। यदि उसका हर ग्राहक उसकी भाषा को ही अपना ले तो उसका काम कितना आसान हो जाए। उसकी भाषा को अपना चुके लोग हँसते-हँसते उसकी संस्कृति और उसके जीवन मूल्यों को अपना लेंगे। निज भाषा रहित लोग किसी भी किस्म का प्रतिरोध नहीं कर सकते। ऐसे में किसी जन प्रतिरोध की गुंजाइश भी नहीं बचती। और सरकारें! वे तो निर्वीर्य, जनद्रोही और पूंजीपतियों की गुलाम हैं। उनको हिन्दी से या देश से क्या लेना-देना। नतीजतन अपनी भाषा भूल चुके लोग अपनी संस्कृति को भी भूल जाएंगे। धीरे-धीरे उनके पारम्परिक जीवन मूल्य किस अँधेरी गली में गुम हो जाएंगे, इसका पता भी उन्हें नहीं चलेगा। अपनी जड़ों से कटे लोग भीतर से खोखले होते जाते हैं। यह खालीपन-खोखलापन वह सामानों से भरना चाहते हैं। आदमी अन्दर से जितना छोटा होता जाता है, उसकी कार उतनी ही बड़ी होती जाती है और बड़ा होता जाता है उसके कर्ज का आकार। इस बढ़ते कर्ज की किस्तें पूरी करने में उसकी और उसकी पत्नी दोनों की जिन्दगी रेहन पर चढ़ जाती है। यह सिलसिला कभी खत्म नहीं होता, बस जिंदगी खत्म हो जाती है। अभिधा में भी और लक्षणा में भी। यही कठपुतली नाच है और यही परछाई नाच भी है। ग्लोबल देवताओं के गाँव में रेहन पर चढ़े रग्घू की कहानी का सार भी यही है। ❑

राकेश बिहारी



बाज़ार जो सपने बेचता है...

‘‘**माँ** मुझको बाज़ार ले चलो/बहुत कहा इक बार ले चलो/दिन भी है इतवार ले चलो...’’

बाज़ार की चर्चा चलते ही लगभग तीन दशक पूर्व तीसरी या चौथी जमात में पढ़ी एक कविता की ये पंक्तियाँ जरूर याद हो आती हैं। आगे की पंक्तियाँ शब्दशः याद नहीं, लेकिन भाव यह था कि लाख कहने के बावजूद जब बच्चे को माँ बाज़ार नहीं ले जाती, बच्चा हार कर कहता है कि ठीक है तुम ही जाओ, लेकिन सब्जियाँ वही लाना जो मुझे पसन्द हैं। उक्त बाल कविता के कथ्य और उसमें व्याप्त मनोविज्ञान पर गौर करें तो बाज़ार के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात सामने आती है कि बाज़ार चयन का केन्द्र है। बाज़ार के साग-सब्जी भर खरीदने-बेचने की जगह होने की अवधारणा तो गये जमाने की बात हो गयी, लेकिन उसके चयन-केन्द्र होने की धारणा आज भी बनी हुई है। आज बाज़ार का स्वरूप इतना बदल चुका है कि वहाँ तक चलकर जाने या किसी खास दिन का इन्तजार करने की जरूरत नहीं रह गयी। खास कर भूमंडलीकरण के पश्चात तो यह घर-घर में दाखिल हो चुका है। चयन के सभी विकल्प कहीं न कहीं हमें मनुष्य से उपभोक्ता बनाने की जुगत में लगे हैं। ऐसे में चयन के अनगिनत विकल्पों के बीच अपने मन का कुछ भी न चुन पाने की विवशता आज हमें बाज़ार के सर्वथा नये रूप से परिचित करा रही है। बदलते व्यावसायिक आचार-व्यवहारों के बीच बाज़ार का यह नया चेहरा अपनी सुन्दरता और भयावहता

दोनों ही रूपों में अभूतपूर्व है। बाज़ार का यह नवीनतम चेहरा जहाँ रोजगार और व्यापार की नयी अर्गलाएँ खोल रहा है, वहीं हमारी मुश्किलें भी बढ़ रही हैं। नतीजतन बेहतर भविष्य और दुनिया का सपना सिरजने की बजाय आज हम सपनों की खरीद-फरोख्त में लग गये हैं। पिछले दशक्त की कुछ चुनिन्दा कहानियों के माध्यम से हम यहाँ बाज़ार और व्यवसाय के इसी पल-पल बदलते चेहरे की शिनाख्त करने की कोशिश करेंगे।

एक सफेद दाढ़ी वाला बूढ़ा जादूगर था। वह अपने सामने पड़ने वालों के मन को जिस्म से अलग कर देता और उनके मन को अपनी तलहथी पर धर लेता। तब उस मन पर सिर्फ तलहथी का वश रह जाता। मन उछल कर उधर ही गिरता, जिधर तलहथी उसे उछालकर गिराना चाहती थी। इस मायावी बूढ़े जादूगर का संसारी नाम था—बाज़ार। हँस में प्रकाशित चर्चित युवा कथाकार नीलाक्षी सिंह की सर्वाधिक चर्चित कहानियों में से एक ‘टेकबे त टेक न त गो’ की ये पंक्तियाँ बाज़ार के बुनियादी चरित्र को समझने का बहुत ही सहज, लेकिन जरूरी सूत्र हमें थमाती हैं। बाज़ार जो अपनी आरम्भिक अवस्था में हमारे सामने चयन के कई-कई विकल्पों के दरवाजे खोलता है, हमारे मन में उत्सुकता और कौतूहल के बीज बोता है, धीरे-धीरे हमारी आदतें बिगाड़ने के बाद हमारे मन पर कब्जा जमा हमें ग्राहक से उपभोक्ता और फिर उपभोक्ता से गुलाम में बदल देता है। एक अदृश्य सम्मोहन और बेनाम नशे की जद में हमारे शरीर से हमारे मन को अलग कर अपनी तलहथी पर धर लेने की बाज़ार की इसी चतुराई के पीछे बाज़ारवाद की कुंजी छुपी है।

उल्लेखनीय है कि नीलाक्षी सिंह बाज़ार की जो परिभाषा यहाँ पेश करती हैं, यह कहानी बाज़ार के उस चरित्र का कोई हौवा खड़ा नहीं करती, बल्कि उसी बाज़ार के भीतर डूब कर कुछ ऐसे उपकरण और सूत्र खोज लाती है, जो एक स्त्री की अस्मिता और जलेबी, कचरी को पीजा और बर्गर से बचाने के बहाने बाज़ार के एक सर्वथा अलग रूप को हमारे सामने ला खड़ा करती है। यहाँ बाज़ार पहचान का संकट लेकर नहीं, बल्कि पहचान के संकट से जूझ कर उबरने का नया तरीका लेकर आता है। पिछले दस पन्द्रह वर्ष की कहानियों पर चरित्रों के खो देने का या यूँ कहे कि कोई मजबूत और यादगार चरित्र नहीं रच पाने का आरोप लगता रहा है। चरित्रों के लुप्त होने की यह बात कहानियों से ज्यादा हमारे समय और समाज पर लागू होती है। ऐसे समय में जब तथाकथित सभ्य और अभिजात्य समाज की स्त्रियाँ मिसेज शर्मा, मिसेज वर्मा आदि-आदि के नाम से जानी जाती हों, चिल्लागंज चौमुहानी जो ठीक से एक कस्बा भी नहीं है, की दुलारी का परिचय देते हुए कहानीकार का यह कहना कि ‘दुलारी पहले दुलारी थी, छक्कन प्रसाद की पत्नी बाद में’, स्याह अँधेरे के बीच रोशनी के एक ऐसे कतरे की तरफ इशारा करना है जिसके आलोक में हम अपने समय के नये चरित्रों की शिनाख्त कर सकते हैं। तभी तो दुलारी उन पत्नियों में से नहीं है जो दूसरे लोक में जाते पतियों के पीछे-पीछे उनका अनुसरण

करती चली जाती है। वह तो भूमंडलीकरण के बाद की एक ऐसी स्वतन्त्रचेता स्त्री है जो अपने पति के पीछे-पीछे उसके फास्ट फूड सेंटर में जाने के बजाय जलेबी-कचरी की अपनी पुरानी दुकान को जिन्दा रखने के संघर्ष में जुट जाती है और ऐसा हो भी क्यों नहीं, कचरी और जलेबी उसकी दुकान में बिकनेवाली चीज़ न होकर उसके अपने होने की शर्त जो हैं। व्यक्ति को उपभोक्ता में तब्दील कर देने वाले बाज़ार की छाती पर खड़ी होकर दुकान में बिकने वाली चीज़ को एक स्त्री के होने और जीने की संघर्ष यात्रा का प्रतीक बना देनी वाली यह कहानी भूमंडलीकरण के बाद पल-बढ़ रहे समाज और बाज़ार के व्यवहारों के नये प्रस्थान बिन्दु तलाशती है।

दुलारी और छक्कन प्रसाद के अतिरिक्त इस कहानी में दो और महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। एक मुसमातिन और दूसरा दुलारी और छक्कन प्रसाद का बेटा मिंटू। उल्लेखनीय है कि 'सफेद दाढ़ी वाला बूढ़ा जादूगर' जिसे नीलाक्षी सिंह बाज़ार कहती हैं, के इर्द-गिर्द ही इन चारों पात्रों का विस्तार होता है, जिसके बहाने हम बाज़ार के चरित्र का चतुष्कोणीय प्रभाव भी देख सकते हैं। इस बूढ़े जादूगर के पास जाते ही सबसे पहला बदलाव छक्कन प्रसाद के जीवन में आता है। उसके भीतर एक महत्त्वाकांक्षा सिर उठाती है। वह अपनी जरूरतों और इच्छाओं को एक अपरिमित विस्तार देना चाहता है। एक मामूली हलवाई का बेटा छक्कन प्रसाद ताउम्र सिर्फ छक्कन प्रसाद ही बन कर नहीं जीना चाहता। नतीजतन उसने पहले जलेबी कचरी की दुकान छोड़ कर समोसे, लालजामुन और कचौड़ियों की दुकान खोल ली, लेकिन यह बूढ़ा जादूगर जल्दी ही उसकी इस महत्त्वाकांक्षा को कभी न खत्म होने वाले लोभ में परिणत कर देता है और एक दिन यही छक्कन प्रसाद जोश से शुरू किए समोसे गुलाब जामुन की दुकान को भी अलविदा कहते हुए फास्ट फूड सेंटर खोल लेता है।

दुलारी छक्कन की अनुगामिनी भर नहीं रह कर कचरी और जलेबी को बचाने के बहाने खुद के अस्तित्व की लड़ाई लड़ती है। छक्कन प्रसाद की नयी दुकान दुलारी और मुसमातिन दोनों के लिये चुनौती है। दुलारी को जहाँ अपनी आत्मा बचानी थी, वहीं मुसमातिन को अपना जीवन बचाना था। जीवन बचाने की लड़ाई को जारी रखने के लिए मुसमातिन चौमुहानी से कुछ दूर हटकर अपनी अपनी दुकान एक दूसरे हाट में जमाने लगती है, जिसे बाजार की भाषा में हम नये ग्राहक वर्ग की तलाश कह सकते हैं। इधर अकेली दुलारी अपनी आत्मा की लड़ाई को जैसे-तैसे आगे बढ़ रही है। उसे कचरी-जलेबी के साथ खुद को भी बचाना है, लेकिन उसके औजार पुराने हैं। ऐसे में उसका बेटा मिंटू एक नया सवाल लेकर खड़ा होता है, ''माँ, क्या तुम बाज़ार में इस तरह टिक पाओगी?'' ध्यान देने योग्य है कि बाज़ार में टिकने का यह प्रश्न उठाने वाला मिंटू अगली पीढ़ी का लड़का है जो सिर्फ सवाल ही नहीं उछालता, अपनी माँ के हाथों में लड़ाई जारी रखने का एक नया उपकरण भी थमाता है—'चार जलेबियों की खरीद पर दो कचरी और एक कप चाय मुफ्त'। बाज़ार का एक-एक नया मोहिनी मंत्र जो कस्बे के अन्य लोगों के साथ 'छक्कन प्रसाद एण्ड

सन्स, फास्ट फूड सेंटर' के मालिक छक्कन प्रसाद को भी अपने वश में करना जानता है। कहानी के इसी उत्कर्ष बिन्दु पर 'माइन्ड बिहाइन्ड द सीन' मिंटू उस्ताद का अपनी सीटियों पर 'टेक बे त टेक न त गो' की धुन निकालना भी अपने भीतर एक गहरी अर्थवत्ता छुपाए हुए है। इस धुन को क्या-क्या कहा जाए। एक स्त्री के अस्मिता संघर्ष में जीत जाने का उत्सव या बाज़ार के और फैल जाने की सफलता से उत्पन्न ठसक। दोनों स्थितियाँ विपरीतधर्मी हैं। एक का नायक जहाँ बाज़ार की पीठ पर सवार है, वहीं दूसरा उसकी तलहथी पर बैठा है। भूमंडलीकृत बाज़ार आज हमारे सामने पीठ और तलहथी में से किसी एक को चुनने की चुनौती पेश कर रहा है।

भूमंडलीकरण के बाद आर्थिक क्षेत्र में हुए परिवर्तनों ने जहाँ व्यवसाय और रोजगार के नये अवसर पैदा किये हैं वहीं नये व्यावसायिक मूल्यों का सृजन भी किया है। कमीशन एजेंट को किसी जमाने में भले ही दलाल या दल्ला जैसे अपमानजनक शब्दों से सम्बोधित किया जाता रहा हो लेकिन नये व्यावसायिक माहौल में यह एक सम्मानजनक पेशा है, बल्कि सच तो यह है कि खुली अर्थव्यवस्था में पारिश्रमिक और प्रतिफल का एक बड़ा हिस्सा कमीशन के रूप में ही दिया-लिया जाता है। सच है कि इस उन्मुक्त व्यवस्था ने कुछ लोगों के जीवन में खुशियों की कुछ नयी तहरीरें भी लिखी हैं लेकिन समाज का एक बड़ा हिस्सा इसके व्यामोह में फंस कर जिन्दगी की उलझनें को सुलझाने के चक्कर में और उलझ कर रह गया है। वागर्थ में प्रकाशित पंकज मित्र की उल्लेखनीय कहानी 'बे ला का भू' का मुख्य पात्र बेचू लाल गुप्ता इसी तबके का प्रतिनिधि चरित्र है, जिसकी जिन्दगी उन्मुक्त बाज़ार की उमगती-इठलाती चाल से इतनी बुरी तरह प्रभावित है कि अपनी साख खोकर अपने आसपास के लोगों से मुँह चुराता हुआ वह जीते जी भूत बन गया है। बेचू लाल, जो हाड़-तोड़ परिश्रम की बदौलत शनै-शनैः तरक्की की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था, ओ.पी. सर द्वारा दिखाये तथाकथित बड़े सपनों के मायाजाल में ऐसा फँसता है कि क्या पड़ोसी, क्या रिश्तेदार एक दिन वह खुद से भी दूर जा बैठता है, इतनी दूर जहाँ लोगों की पकड़ में आ जाने का भय उसे जीवित ही भूत बनने को मजबूर कर देता है। यह नयी व्यवस्था पहले रिश्ते-नातेदारों की बलि माँगती है फिर खुद की। तभी तो एक दिन उत्साह में ओ.पी. सर को भैया कह जाने पर ओ.पी. बेचू से कहता है—'दिस इज बिजनेस. यहाँ भैया, चाचा ये सब नहीं चलता है। गीता पढ़ी है तुमने। कोई किसी का नहीं है। सब अपना काम करने आये हैं। सो कॉल मी ओनली ओ.पी. और ओ.पी. सर, अंडरस्टैंड।'

हर प्रगति के मूल में कोई न कोई सपना होता है। जिसकी आँखों ने सपने नहीं देखे वह भला तरक्की की सीढ़ियाँ क्या चढ़ेगा? लेकिन सपना देखना-दिखाना एक व्यवसाय बन जाए तो...? कहने की जरूरत नहीं कि सपनों का व्यावसायीकरण मूलतः सपना देखने की सहज-स्वाभाविक मानवीय वृत्ति के बहाने भोले-भाले लोगों को भावनात्मक रूप से ब्लैकमेल कर उनकी जिन्दगी में एक नया अँधेरा भर देने

की साजिश है। भूमंडलीकरण के बाद के व्यावसायिक परिदृश्य में सपनों के व्यापार का एक ऐसा सिलसिला चल पड़ा है, जिसने क्या शहर, क्या महानगर, यहाँ तक कि छोटे-छोटे गाँव-कस्बों के लोगों तक की आँखों में स्वप्न और टूटोपिया के नाम पर येन केन प्रकारेण रातोंरात करोड़पति बन जाने की एक अन्तहीन महात्त्वाकांक्षा के बीज रोप दिये हैं। एक ऐसी अंधी और स्वार्थी महत्त्वाकांक्षा जो सिर्फ पैसे बनाना जानती है और जिसके लिए हर व्यक्ति एक 'प्रॉफिट सेंटर' तथा हर रिश्तेदार एक 'पोटैंशियल कस्टमर' होता है। सपनों की खरीद-फरोख्त का यह धन्धा दरअसल पूंजी और उसके निर्माण का एक ऐसा खेल है जिसकी गिरफ्त में बेचू लाल जैसे बेरोजगार और निरीह लोग आसानी से आ फँसते हैं। बेचू लाल से बी.एल गुप्ता और फिर बी.एल गुप्ता से 'बे ला का भू' यानी बेचू लाल का भूत बन जाने की इस कहानी के बहाने पंकज मित्र ने सपनों के कारोबार की एक ऐसी दुनिया से हमारा परिचय कराया है, जिसके मूल में ठगी और धोखा के सिवा कुछ नहीं है। कहानी के एक छोर पर बेचू लाल है तो दूसरे छोर पर ओ.पी. और दोनों के बीच महतो चा, शकीला बुआ और नारायण चा जैसे अनेकानेक लोग। ओ.पी. की नजर इन्हीं चाचाओं-बुआओं की मेहनत की कमाई पर है। बेचू लाल तो एक माध्यम भर है, जिसकी उंगली पकड़ कर वह उन्हें लूट लेना चाहता है। लूट लेना क्या चाहता है, एक दिन लूट ही लेता है।

सपने दिखा कर लूट लेने वाले ओ.पी. का क्या, वह आज 'मोर एंड मोर इंवेस्टमेंट्स एंड मार्केटिंग' का ध्वजवाहक है तो कल 'ड्रीमवे' का उसके लिए कपड़े की तरह नौकरी बदल लेना बहुत ही आसान है, लेकिन बी.एल. जो भीतर से अब भी बेचू ही है, कहाँ जाए। उसकी गति तो साँप-छुछुंदर की सी है...वह कम्पनी छोड़कर भी महतो चा, शकीला बुआ और नारायण चा को छोड़ नहीं सकता। बेचू ओ.पी. की तरह कम्पनी बदल कर सुखी नहीं रह सकता, ना ही 'मोर एंड मोर इंवेस्टमेंट' के बड़े अधिकारियों वर्मा जी, खोसला साहब और पोद्दरजी की तरह अपना मोबाइल नम्बर बदल कर अपना अस्तित्व बदल सकता है। ऐसे में भूत बन जाने के अलावा उसके पास क्या रास्ता है, लेकिन भूत बनने का बेचू का यह निर्णय महज पलायन नहीं है, वह तो खुद को मारकर भी लोगों का पैसा चुका देना चाहता है। वह तो भूत बनकर भी भूत नहीं बन सका और अपनी भूत योनि के बरस दर बरस बीतने की गिनती कर रहा है ताकि लोग उसे सचमुच का मृत मान लें। भूत बने बेचू की यह योजना आप भी देखिए, ''गिनो, गिनो ये सब लाइन, तीन साल कम्प्लीट, सात साल पूरा कि बी.एल.मरा.बी.एल. मरेगा, इन्श्योरेन्स मिलेगा। सबका पाई-पाई चुका देगा बी.एल...महतो शा, शकीला बुआ, नारायण चा, सबका...कहिएगा मत किसी से, किसी को भी कि हम जिन्दा है। चुका देंगे, सबका चुका देंगे तभी छुटकारा होगा भूत योनि से'। नयी कर्ज-व्यवस्था का शिकार बेचू एक ऐसे वर्ग का प्रतिनिधि है जो यह नहीं समझाता कि सपनों की इस भूल-भुलैया से निकलना और इस भूत

योनि से छुटकारा पाना इतना आसान नहीं। यह तो एक ऐसा दलदल है, जिससे निकलने के क्रम में आदमी और फँसता ही जाता है।

यूँ तो कर्ज लेना-देना व्यापार और वाणिज्य की शुरुआती विशेषताओं में से एक है, लेकिन उदारीकरण के बाद कर्ज-व्यवसाय को जैसे अनगिनत पंख लग गये हैं। मध्यमवर्गीय महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए बैंकों के बीच उधार बाँटने के लिए जैसे होड़ सी लगी है। कर्ज लेने से ज्यादा बाँटने और बेचने की चीज हो गयी है। आप सपने देखिए और आपके सपनों के पीछे देश और दुनिया के तमाम सरकारी और निजी बैंक अकल्पनीय सुविधाओं के चमचमाते रैपर में लपेट कर अपनी लोन स्कीम के नये-नये प्रोडक्ट्स लेकर आपकी सेवा में हाजिर मिलेंगे, लेकिन बिना वसूली के कर्ज एक अपूर्ण उत्पाद है। नये जमाने ने जहाँ नये-नये तरह के कर्जों को हमारे सामने पेश किया है, वहीं उनकी उगाही के लिए नयी-नयी तकनीकें भी विकसित की हैं। परिणामस्वरूप 'रिकवरी मैनेजमेंट' यानी वसूली प्रबन्धन आज एक नये व्यावसायिक अनुशासन के रूप में हमारे समक्ष मौजूद है। पहल 88 में प्रकाशित चन्दन पांडेय की कहानी 'मित्र की उदासी' इसी नये व्यवसाय की बारीकियों और उससे उत्पन्न नयी विडम्बनाओं को उजागर करती है। यूं तो एम.एफ.एस.एल.यानी माता फाइनेंसियल सेक्योरिटीज लिमिटेड के रूप में व्यावसायिक स्तर पर चन्दन पांडेय की यह कहानी 'बे ला का भू' के 'मोर एंड मोर इन्वेस्टमेंट' का प्रतिपक्ष रचती है, लेकिन नये समय के दो अलग-अलग व्यवसायों का चरित्र उजागर करती ये कहानियाँ कहीं न कहीं एक जैसे व्यावसायिक सत्यों को ही अनावृत करती दिखती हैं। मसलन रिश्ते-नातों को भूलना व्यावसायिक सफलता की पहली शर्त है, चाहे वह कोई भी व्यवसाय क्यों न हो, उसकी सफलता का राज बिचौलियों की नाभि में ही छिपा होता है, भावना और संवेदना जैसे शब्द अपनी प्रकृति से ही व्यवसाय या यूं कहें कि सफलता विरोधी हैं आदि-आदि। मतलब यह कि दो तरह की दिखती ये कहानियाँ कहीं न कहीं एक-दूसरे का विस्तार या पूरक भी हैं।

इन कहानियों से गुजरते हुए इस बात को भी साफ-साफ रेखांकित किया जा सकता है कि अपने उत्पादों को बेचने के लिए नये जमाने के व्यवसायी किस तरह दर्शन को एक 'सेल्स टेकनीक' की तरह उपयोग में लाते हैं। उल्लेखनीय है कि 'बे ला का भू' में बेचू लाल को उसकी दुविधाओं से उबारने के लिए ओ.पी. जहाँ गीता के निष्काम कर्म और निरपेक्ष सम्बन्ध के सूत्रों की दुहाई देता है, वहीं 'मित्र की उदासी' में रिकवरी एजेंट बना सलोने सिंह अयोध्या प्रसाद के प्रश्न 'कहाँ से लायें पैसा' के जवाब में बेहद आत्मीय ढंग से ठंडी और डरावनी सलाह देते हुए कहता है, ''अयोध्या बाबू, ये जीवन क्षणभंगुर है। योगिनी का जीवन जियो। जो आज है, कल नहीं रहेगा। फिर क्यों ये घर रखे हो? सादा जीवन, उच्च विचार। किराए का कमरा लो और मस्त रहो। तुम क्या लेकर आये थे, जो तुमने खो दिया। स्त्री नरक का मार्ग है—परित्याग करो, खर्च कम हो जाएगा। ईश्वर में विश्वास करो।'' घर

का सपना दिखा कर कर्ज देने के बाद ब्याज का भय दिखा कर घर त्याग देने की यह दार्शनिक सलाह दरअसल एक खतरनाक धमकी है और सलोने के रूप में खड़ा यह रिकवरी एजेंट बैकों के चिकने काउंटर पर लोन बाँटते खूबसूरत 'सेल्स रिप्रजेंटेटिव्स' का प्रतिलोम। सच पूछिए तो 'सेल्स रिप्रजेंटेटिव्स' और 'रिकवरी एजेंट्स' के बीच का फासला ही भूमंडलीकरण के बाद के बैंकिंग व्यवसाय की प्रस्तावना है, जिसमें आधुनिक व्यवसाय की रपटीली चमक और महाजनों-साहूकारों के रक्त पिपासु व्यवहारों की क्रूर धमक दोनों ही शामिल हैं।

'बे ला का भू' के बेचू लाल और 'मित्र की उदासी' के सलोने की दुविधाएँ अलग-अलग तरह की हो कर भी इन अर्थों में एक सी हैं कि दोनों ही परिस्थितियों की जटिलताओं का प्रतिपक्ष रचना चाहते हैं। बेचू लाल जहाँ खुद को मृत घोषित करा कर भी अपने इंश्योरेन्स के पैसों से लोगों का बकाया चुकाना चाहता है, वहीं सलोने अपने पुराने मित्र और अब बॉस नीलकंठ से बिना अनुमति लिए ही शम्भुनाथ जो कि बैंक का कर्जदार है, के कुनबे की बदहाली को देखकर उनके लिए सदाशय होना चाहता है। भले ही इसके लिए उसे खुद को ही क्यों न दांव पर लगाना पड़े। ये कहानियाँ यह भी बताती हैं कि कैसे एक बेहतर दुनिया सिरजने का सपना आज सब्जबाग दिखने के धन्धे में बदल चुका है, जो अन्ततः हमारे भीतर की नमी को सोखकर मनुष्योचित मूल्यों का अतिकमण कर रहा है। यों तो पंकज मित्र और चंदन पांडेय दोनों की चिन्ताएँ एक सी हैं, लेकिन 'बेला का भू' अपने सहज और पठनीय कथा विन्यास के कारण पाठक के भीतर आसानी से उतर जाता है जबकि 'मित्र की उदासी' अपने विन्यास में अपेक्षाकृत जटिल और पाठ में उबाऊ है। यहाँ तक कि कहानी के कई अनुषांगिक प्रसंग न सिर्फ गैरजरूरी हैं, बल्कि वे कहानी की आत्मा तक पहुँचने में पाठकों को बाधित भी करते हैं। पठनीयता कहानी का पहला गुण होना चाहिए। बिना इसके बड़े से बड़े विषय पर लिखी कहानियाँ पाठक के भीतर प्रवेश नहीं करती हैं।

'अकार 25' में प्रकाशित गीत चतुर्वेदी की कहानी 'पिंक स्लिप डैडी' निजीकरण और उदारीकरण के बाद की बदली व्यावसायिक परिस्थितियों को केन्द्र में रख कर लिखी गयी कहानियों में एक सर्वथा अलग रंग भरती है। यह कहानी इन अर्थों में अन्य कहानियों से भिन्न है कि ऊपर उल्लिखित कहानियाँ जहाँ बाजारवाद के प्रभावों को व्यावसायिक संगठनों के बाहर की दुनिया के माध्यम से बताती हैं वहीं 'पिंक स्लिप डैडी' बड़े-बड़े व्यावसायिक समूहों और कार्पोरेट घराने के भीतर की बारीक राजनीति और उठा-पटक के बहाने भूमंडलीकृत परिवेश की असलियत से पर्दा उठाना चाहती है। 'अकार' के 63 पृष्ठों में फैली यह कहानी प्रफुल्ल शशिकांत उर्फ पीएस दाधीच नामक एक ऐसे व्यक्ति की अन्तर्कथा है जो पार्थो ग्रुप ऑफ कम्पनीज में एक सीनियर एक्सीक्यूटिव के रूप में काम करते हुए 'बड़ा आदमी' बनने के चक्कर में एक घाघ और विकृत व्यक्ति के रूप में बदल जाता है। एक तरह से यह कहानी

कैरियर और व्यवसाय की अति महत्त्वाकांक्षाओं के चलते दिनानुदिन अमानवीय होते जा रहे समाज की कहानी है।

कभी का मित्र और पार्थो ग्रुप ऑफ कम्पनीज में पीएस दाधीच का बॉस राजकुमार पसरीचा बिजनेस में आये स्लोडाउन से बेतरह परेशान है। इस संकट से निकलने का सबसे कारगर उपाय उसे कर्मचारियों की छंटनी के रूप में नजर आता है। पसरीचा ने इस बड़े काम की जिम्मेदारी दाधीच को दी है। दाधीच को कर्मचारियों की छँटनी क्या करनी है, अपने बॉस के सामने खुद को काबिल और जिम्मेदार साबित करना है। एक बारगी दाधीच इस नयी जिम्मेवारी के कारण विचलित हो जाता है। आखिर हो भी क्यों नहीं, किसी के मुँह का निवाला छीनना कोई आसान काम भी तो नहीं, लेकिन तमाम ऊहापोहों के बाद वह खुद को इस अमानवीय कृत्य के लिए न सिर्फ तैयार कर लेता है, बल्कि दो-एक शुरुआती झिझक के बाद उसे इस काम में संभोग के दौरान स्खलन का सा आनन्द आने लगता है। छँटनी करने वाले अधिकारी के भीतर ऐसे आनन्द की कल्पना से ज्यादा विकृत और क्या हो सकता है, लेकिन अपने काम के प्रति दाधीच के इस अमानवीय समर्पण की तुलना 'कामिही नारि पियारि जिमि' से नहीं की जा सकती। कारण की इस कहानी में बारम्बार वर्णित यौन दृश्य और प्रतीक पाठक के मन में जुगुप्सा से ज्यादा विकृत आनन्द का संचार करते हैं। यही इस कहानी की सबसे बड़ी कमजोरी है। इसी कारण से कई-कई स्त्री पात्रों की उपस्थिति के बावजूद यह कहानी एक आधुनिक स्त्री के जीवन में आए सार्थक बदलावों और उसके व्यावसायिक जीवन के संघर्षों को रेखांकित करने की बात तो दूर, उसकी तरफ कोई इशारा भी नहीं कर पाती। उल्टे ये तमाम स्त्री पात्र या तो व्यावसायिक सफलताओं के लिए अपने शरीर का इस्तेमाल करती हैं या फिर दूसरे पुरुष चरित्र उनकी उपस्थिति के बहाने अपनी यौन कुंठा का भौंडा प्रदर्शन करते हैं। ऐसा नहीं है कि आज समाज में ऐसा नहीं होता है, लेकिन गीत चतुर्वेदी इन विकृतियों पर तंज करने की बजाय इन्हें 'सेलिब्रेट' करने लगते हैं और यहीं आकर यह कहानी खालिस पुरुष-दृष्टि से लिखी कहानी भर हो कर रह जाती है। इतना ही नहीं, कहानी के स्त्री पात्रों की नियति देख कर आधुनिक स्त्री के सन्दर्भ में फैलाया गया यह भ्रम और पुख्ता होता है कि स्त्रियों की सफलता का रिश्ता सिर्फ और सिर्फ बिस्तर से हो कर जाता है।

उक्त कहानी को प्रस्तुत करते हुए सम्पादकीय टिप्पणी में कहा गया है कि गीत चतुर्वेदी ने यह लम्बी कहानी पूरे बीस महीने में तैयार की है और यह इस कहानी का सातवां ड्राफ्ट है। गीत चतुर्वेदी के लेखकीय श्रम का पूरा सम्मान करते हुए मैं इसी कहानी की एक पंक्ति 'क्या हम श्रम के राग पर भ्रम का गीत गाते है?' की तर्ज पर कहना चाहता हूँ कि इस कहानी में इन्होंने श्रम के राग पर भ्रम के गीत को ही पुख्ता किया है। हालाँकि गीत चतुर्वेदी की इस पंक्ति को भूमंडलीकृत आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों पर एक मारक टिप्पणी के रूप में भी देखा जा सकता

है। काश अपनी इस अकूत लेखकीय क्षमता का इस्तेमाल वे इस कहानी को मसालेदार बनाने की बजाय कहानी के पात्रों और उनकी स्थितियों से उत्पन्न नयी जटिलताओं की व्यंजनापूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कर पाते। तब पाठकों के भीतर यह मलाल नहीं रह जाता कि पीएस दाधीची 'टेक बे त टैक न तो गो' की दुलारी, 'बेला का भू' के बेचू लाल गुप्ता और 'मित्र की उदासी' के सलोने की तरह आधुनिक जटिलताओं से उत्पन्न परिस्थितियों का प्रतिपक्ष क्यों नहीं बन पाया, लेकिन हाँ, कॉर्पोरेट जगत की शब्दावलियों, वहाँ के परिवेश, भीतरी उठापटक, आपसी प्रतिस्पर्धा, खींचतान और तनावों से यह कहानी हिन्दी जगत को जरूर परिचित कराती है।

पिछले कुछ वर्षों में पहले सरकारी विभागों के निगमीकरण फिर, उसके विनिवेश और अन्ततः उसके निजीकरण की कहानी आम हो गयी है। प्राइवेट और पब्लिक सेक्टर के दो ध्रुवों के बीच एक लम्बा फासला है और उस फासले की कुछ अलग किस्म की परिणतियाँ भी। अधिकाधिक लाभ और पूँजी निर्माण के लिए कॉस्ट कंट्रोल के नाम पर निजी क्षेत्रों में हो रहा श्रम का शोषण, जहाँ ट्रेड यूनियन की जरूरत को एक बार फिर से रेखांकित कर रहा है, वहीं सरकारी दफ्तरों और पब्लिक सेक्टर में व्याप्त अकर्मण्यता और तथाकथित ट्रेड यूनियन की बेईमान चालाकियों के पीछे से झाँकती उनकी असलियत उनकी व्यावहारिक सार्थकता पर रोज नये प्रश्न चिह्न खड़े कर रहा है। परस्पर दो प्रतिकूल परिस्थितियों से उत्पन्न ये जटिलताएँ निश्चित तौर पर पिछले कुछ वर्षों में तेजी से बढ़ी हैं। जाहिर है इन बदली और अपेक्षाकृत नयी परिस्थितियों में, प्रतिरोध और संघर्ष के नये उपकरणों और उनका इस्तेमाल करने के लिए नयी दृष्टि और सलाहियत की जरूरत है, जिसके लिए हमें समय के दोनों छोरों पर समान रूप से नजर रखनी होगी। इस सन्दर्भ में मैं कथन (जनवरी-मार्च, 2008) में प्रकाशित वरिष्ठ कथाकार रमेश उपाध्याय की कहानी 'प्राइवेट पब्लिक' का जिक्र करना चाहूँगा, जिसमें दूरसंचार की उल्लेखनीय क्रान्ति और दूरसंचार विभाग के निगमीकरण के बाद की परिस्थितियों का जायजा लेने के बहाने प्राइवेट और पब्लिक के द्वन्द्व को समझने की कोशिश की गयी है। यह कहानी निजीकरण-वैश्वीकरण के दुष्परिणामों पर विस्तार से चिन्ता करती है, लेकिन कहानीकार ने कहानी की पीठ पर एक खास तरह के राजनैतिक पूर्वाग्रह का ऐसा बोझ लाद दिया है कि कहानी एकांगी और अव्यावहारिक हो गयी है। सच है कि मोबाइल की क्रान्ति ने टेलीफोन आपरेटरों की पारम्परिक नौकरी के रास्ते बन्द कर दिये हैं, लेकिन इसका मतलब यह कतई नहीं है कि मोबाइल के आविष्कार को आपरेटरों की नौकरी छीनने की साजिश के रूप में देखा जाए। उल्लेखनीय है कि दूरसंचार विभाग के सरकारी उपक्रम 'भारत संचार निगम लिमिटेड' में जहाँ लगभग सवा छः लाख कर्मचारी काम करते हैं, मानव संसाधन की दृष्टि से देश का सबसे बड़ा सार्वजनिक उद्यम है और निगमीकरण के बाद यहाँ कोई छँटनी नहीं हुई है, इसके उलट संचार क्रान्ति ने कई तरह के छोटे-छोटे व्यवसायों और उद्योगों के अवसर भी पैदा किए हैं। जहाँ तक सार्वजनिक

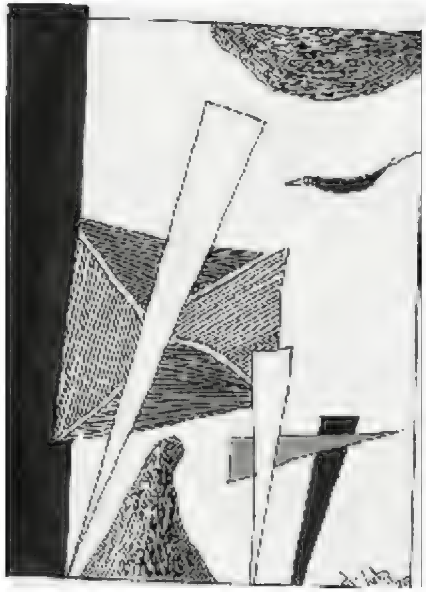
क्षेत्र की दूरसंचार कम्पनियों की बदहाली का प्रश्न है तो इसके लिए नयी आर्थिक नीतियों से ज्यादा कामकाज का सरकारी तरीका जिम्मेवार है, जो आज अकर्मण्यता, कामचोरी और अदूरदर्शिता का पर्याय बन चुका है।

दर असल रमेश उपाध्याय इस कहानी में बिना बदली परिस्थितियों का समग्र मूल्यांकन किए हुए कुछ परम्परागत उपकरणों के सहारे इसके प्रतिरोध की अव्यावहारिक और एकांकी लड़ाई लड़ना चाहते हैं। यही कारण है कि उन्हें यहाँ ट्रेड यूनियन की विवशताएँ तो दिखती हैं, उनकी चालाकियाँ नहीं दिखतीं, उन्हें निजी कम्पनियों में श्रम का शोषण तो दिखता है, सरकारी महकमों की कामचोरी नहीं दिखती। परिणामतः आधुनिक समस्याओं का प्रतिपक्ष रचते-रचते वे आधुनिकता के ही प्रतिपक्षी बन जाते हैं। लागत नियंत्रण (कॉस्ट कंट्रोल) के नाम पर चल रही अमानवीय साजिशों का प्रतिरोध जरूरी है और होना भी चाहिए, लेकिन निर्माण और उत्पादन में प्रयुक्त होने वाले तमाम संसाधनों, जिनमें श्रम और समय भी शामिल है, की बर्बादी को चिह्नित करते हुए उनके मानवोचित, लेकिन 'ऑप्टिमम यूटिलाइजेशन' की बात किए बगैर भी तो तरक्की की सीढ़ियाँ नहीं चढ़ी जा सकतीं न!

पाश ने कभी कहा था 'सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना।' आज बाज़ार में सपने बेचे जा रहे हैं। सपनों का यूँ बेचा जाना सपनों के मरने से कहीं ज्यादा खतरनाक है।

❑

विजेन्द्र



प्लाज़्मा

कविता से पहले

प्लाज़्मा शब्द मेरे चित्त में बहुत दिनों तक कौंधता रहा है। इसके बारे में जब कुछ जाना तो उत्सुकता जगी। क्या यह भी काव्य-कथ्य हो सकता है। उसी के प्रयास में यह लम्बी कविता रची गयी है। इसमें बहुत समय लगा, पर अभी-अभी अनेक बातें कहने को रह गयी हैं।

प्लाज़्मा के दो रूप हैं। एक तो भौतिकी में, दूसरा जैविकी में। दोनों रूपों की द्वन्द्वात्मकता से ही जीवन-जगत बना है। भौतिकी में उच्च ताप की गैस का नाम प्लाज़्मा है, जैविकी प्लाज़्मा वह तरल द्रव्य है, जिसमें कोशिकाएँ रहती हैं। इस तरह प्लाज़्मा भौतिक तथा जैविक के द्वन्द्व रिश्तों को बताते हैं। दूसरे अर्थ मे विपरीत तत्त्वों की एकरूपता के सच को कहते हैं, यह सिद्धान्त ही जीवन और जगत का मूल बिन्दु है। जीवन, प्रकृति तथा संसार के विकास और रूपान्तरण को जानने के लिए दोनों तरह के प्लाज़्मा को समझना ही बेहतर होगा। द्रव्य का प्लाज़्मा द्रव्य जगत का सार तत्त्व है। बहुत ही सूक्ष्म तथा उन्नत रूप द्रव्य का, जिसे ऊर्जा भी कह सकते हैं। जैविकी प्लाज़्मा जैव जगत का सार तत्व है। अतः प्लाज़्मा के रूप-स्वभाव को जानने के लिए हमें आधार-स्रोतों तक जाना होगा। दोनों तरह के प्लाज़्मा मिलकर मनुष्य तथा संसार के विकास को बताते हैं। सार तत्त्व को जानने

के लिए छाया प्रतीति को जानना ज़रूरी है। छाया प्रतीति को मूलतः समझने के लिए हमें सार तत्त्व तक जाना पड़ता है।

दूसरे, सतह पर जो दिखता है, वह अदृश्य की अपेक्षा बहुत कम है। आज मनुष्य की संवेदना अनेक प्रकार के परोक्ष अनुभवों से बहुत समृद्ध हुई है। मन में रचनात्मक उत्सुकता बढ़ी है। कविता में प्लाज़्मा के दृश्य-अदृश्य दोनों रूपों को समझने का यह प्रयोग है। दोनों तरह के प्लाज़्मा ऐन्द्रिय-आँख से नहीं देखे जा सकते। यन्त्र विशेष से ही सम्भव है। ठीक उसी तरह कविता में बिम्ब, रूपक, उपमाएं, विशेषण आदि का प्रयोग होता है। प्रतीकों को काम में लेना पड़ सकता है।

कविता के छः हिस्से हैं। ये अलग-अलग होकर भी परस्पर सम्बद्ध हैं। कवि को हर लम्बी कविता में 'सिंहावलोकन शैली' अपनानी पड़ती है। जिससे वह बिखरे सूत्रों को सम्भालता चले। एक हिस्से के बाद मैंने 'अन्तराल' दिया है। यह शैली वैसे नाटक के अनुकूल ज्यादा है, पर लम्बी कविताओं में पाठक को क्षण-दो-क्षण के लिए विचलन रचनात्मक आस्वाद देता है। इसी भरोसे यह प्रयोग मैंने किया है।

धरती की परत-दर-परत पर
लिखा है मेरा जीवन
क्रियाओं का अंश-अंश रोमिल इतिहास है मेरा
खोजे हैं मैंने जीवन-स्रोत जहाँ-तहाँ
चट्टानों में टीलों में, बीहड़ों में, खदानों में
दाखिल हुआ हूँ ज्ञान विज्ञान के
नये रचे द्वारों में
खिला हूँ, पला हूँ उन्हीं के बीच
करती है परेशान मुझे इच्छाओं की बेलें काँटेदार
ओह देखता हूँ कसैली मरुथली में
दहकता रोहिड़ा—दोआब का दहकता पलाश
धरती ही जननी है,
जीवन है
नीली पुतली मेरी उस आँख की
जो देखती है चीर अँधेरे को
आगे की चन्द्र कलाएं, रत्न, मणियाँ और मोती
छिपे काले सागर तल में घोड़े की सुम्म जैसी
उगती प्रवाल भित्तियाँ
देखे हैं छूकर अपने नरम रोयों से
कठोर स्थल-खण्ड
जल भाग

अतल तल में छिपी शैल परतें
गहराई तक चित्त-भूमि में
करती है प्रेरित
और गहरे जाने को
आदमी के हृदय में उतरने को
बार-बार कौन बोलता यह 'मैं' की भाषा
सुनता हूँ, उठी एक साथ कई आवाजें अलग-अलग
उठी असंख्य भुजाओं के साथ
मिलती है मुझे वहाँ पावन जलधाराएँ
सतत् वेगमय
खनिजदल अनसूँघे..। अछूते
तलछट, रेत में बिखरे रजत कण
शान्त ज्वालामुखियों के फटे विवर अँधेरे की कोख में
भूकम्पीय हल-चल की दहशत से
काँपता मन का जल से घिरा द्वीप
इन सबके धागे जुड़े हैं अग्नि से
वही है मेरी बानी
कविता की हरी दूब
वाग्देवी की दुहिता
प्रथम ऋचा खोलती आँखें
क्षोभ-मण्डल की तरह चहकते पक्षी दल
होता हूँ विचलित..। विमूढ़ कई बार
कहाँ आ गया दो-आब से खँद कर यहाँ
नहीं है कोई जोति स्तम्भ
न वृक्ष फलदार
कैसे चल पाऊँगा निर्बाध आगे तक
दिखती है जलवायु-घटना नंगी, डरी हुई, भौचक्की
ऋतुओं की फूटती टहनियों से
कत्थई कौंपलें
चाहिए अन्न-जल-करोड़ों करोड़ को
भूखों को आहार, प्यासों को स्वच्छ जल
आकाश तले छत मेह-धूप से बचने को
सदियों से तरस रहे जो पौष्टिक भोजन को
अच्छी चीजों को
करता उपभोग जिनका रात-दिन

बिना किसी लज्जा के, आत्म-ग्लानि के
बिना किसी डर के... आखिर क्यों
बिना पश्चाताप के

तरह-तरह की मिट्टी का होता कटाव हर क्षण
उगती है सघन वनस्पति दुर्निवार
देखता हूँ, सुनता हूँ
फलता-फूलता जैव-मण्डल चारों ओर
भरोसा देकर छिटकते-बिछुड़ते अपने जन
सहे हैं आघात जीवन में
मिले जो अपनों से
औरों से
अभी तक हरी हैं उनकी खरोंचें चित्त भूमि पर
पृथ्वी तल ही है मेरी अन्तरंग काया
ब्रह्माण्ड का काँपता दर्पण
प्रतिबिम्ब द्रव्य-रूप
प्रकृति की गोचर रस-फुनग
अतल में छिपा रक्त-बीज
हर दिन होता है सोच अगौंहा
गतिशील, वेगवान
गुँथा-बिंधा रंगों में
घटित-अघटित क्षणों की तरंगमालाएँ
छूकर जाता है झौंका अन्न की बयार का
खुली छाती से ले जाता है
रोयों का कम्प
हृदय की ज्ञानमय आभा
कोहनी का सलौना रंग जैविक
इस घने कुहासे में
कहाँ खोज पाऊँगा बचपन के अंकुरित बीज
इन चट्टानों, बीहड़ों, डाँगों, खर्रों में
एकसूत समरसता
जिसे तुम दिखाते हो
रंगीन पोस्टरों में
होता हूँ विकल
कहने को अनेकही बातें

जो पकती रहीं
दहक आँच में
फैली हैं दूर-दूर तक टहनियाँ सोच-समझ की
अँधेरे में काँप रही श्याम तन लहरें
सघन छायाएँ जीवित
उन्हीं में खोजता हूँ-अग्नि-कण बिखरे
जपा कुसुम, नगकेसर, रक्तधातु
बिखरे फूल पारिजात के
फिर भी क्या जान सका
अब तक कण-भर संज्ञान मिनख का
कहाँ छिपे हैं मेरे तर्क, रण-चक्रव्यूह
ज्ञात ज्ञान त्वचा, घ्राण, जीभ, नसपुट से
सुने गये शब्द कानों से
बनते हैं चिनगारी अतीत की
ओ समय के गरुण
तेरे छितराये डैनों पर
क्या लिख पाएंगे आँक मेरी नियति के
उत्सुक हूँ जानने को
पृथ्वी में छिपे खनिज
उसका समूर्त हृदय, अनदेखी परतें
धारियाँ रेशे
तोड़ने पड़ेंगे चट्टानी पत्थर
कहे जाते अभेद कोट-द्वार
टूटे-फूटे बचे हुए परकोटे
एक-एक कण-कण का दिखेगा अलग-अलग
धूप तपा किसान-चेहरा
उनके अन्दर पौंड़ी नसें... संजीवनियाँ

मुझे जाना होगा जनपदों के बीच
वहाँ उगे पेड़ों की जड़ों तक
फसलों की ऋतुएँ देखने को
पंख चँदोबेदार
झुकी टहनियों पै पके फल
टकराते अणुओं का मन्थन
उनकी भिड़न्त

संगठनों में गुँथे-बिन्धे स्फटिक रबे
उनमें दिपते भिन्न-भिन्न धरती के अदृश्य-दृश्य
समय शब्द के जन्म से गूँजता आकाश
जलवायु, मिट्टी, वनस्पतियाँ
खेतों में उगी रब्बी, खिली सरसों
मेरा घर टूटता-छीजता बाहर से
भीतर से, बिना खिड़की दरवाजों के
नहीं आती धूप तक
वो जीवन अज्ञेय...
जिसे समझता रहा पानी का बुदबुदा
वह है चट्टान का हृदय
धड़कता हुआ
वनस्पतियों की सघनता जैविक
सार है जलवायु का
गरमी, वर्षा, शीत, ताप
पथरीली स्याह लहरों को लाँघकर
यहाँ पहुँचा हूँ
राह में बड़ी-बड़ी कड़ियल चट्टानों ने
रोक काव्य संवाद को
मैं डरा, चीखा, चिल्लाया
वो कौन है तू
जो रुका नहीं पाने को शिखर पर
खिला चन्द्र-फूल
भौतिकी सिरजती है देखी-अनदेखी घटनाओं के
पल-नखत, गोखुरू के चुभे काँटे
हर क्षण जानने को बेचैन,
उदित आत्मा की एन्थ्रोज्योग्रॉफी
तुम्हारी पटपरी-खोज में
कोई हल है भूख का
मन्द-मन्द थमसाई धरती पर
सदा बनना पड़ा है सजग-चंचल
व्यर्थ हुए ढाँचों को ताड़ने-बदलने को
तत्पर और आतुर
निसर्ग को मुठ्ठी में भरने की छटपटाहट से
दोलित रहा हूँ रेत में

प्रतिमान रच कर उन्हें बदलना
उन्हें तोड़ना, फिर बनाना
एक तान, एक साथ
अमूर्त को किया समूर्त
रंगीन चित्रों से बनाये हैं अजाने भू-दृश्य
रंग संयोजन को खोकर
खुरदरी संरचना में उभरते हैं
अपने समय के कष्ट
पीड़ाएँ, शोषण,
निर्वाक् आदमी की भीतरी दहक
मुक्त होने की संघर्ष-जवालाएँ अभीत
भावों के अलग-अलग स्थापत्य
वास्तुशिल्पीय मीनारें नयी-नयी
कैसे जान पाऊँगा आत्मा की एन्थ्रोज्योग्राफी
बिना जाने प्लाज़्मा के अलग-अलग रूप
अन्दरूनी रेखाएँ, हल-चल
खुलें नये ज्ञान-द्वार, नये संवेदन-गवाक्ष
नये संकल्प क्षितिज
बड़ा होगा मेरा चित्त-व्योम
अथाह सागर उमड़ता ज्वार

अंकुरित हुआ हूँ इन्हीं चट्टानी विवरों से
उगा हूँ सूर्य की रोशनी में
हवा, जल, ताप ने दिये हैं
मुझे रोंयें नरम
बिन उड़े उड़ने को तितीर्षु डैने
क्या पृथ्वी का चंचल शिशु नहीं मैं
हठी मानव
पलाहूँ उसकी गोद में
पिया है जामुनी स्तन माँ का
उगाया है अन्न
उसकी छाती चीर कर
उपजे हैं विचार, भाव, संवेक, छबियाँ
पैदा हुआ है उँगलियों में सृजन-लोच
नये पद-बन्ध

कंकड़ियों को फटकना अन्न से अलग-अलग
बारीक तार जोड़ कर
भगाया है अँधेरे दैत्य को
रहना सीखा है अपनों के संग-साथ
गाकर तोड़ी है डरावनी पथरीली चुप्पी
कविता का जन्म हुआ उत्पादक क्रिया से
श्रमी ही है पहला कवि
सृजन का मुख्य कारक
पोसता रहा हूँ ज्ञानेन्द्रियों को
निसर्ग की भिड़न्त से
तोड़ता रहा हूँ अनुकूलन चक्र
बलवती इच्छाओं के भीतरी द्वन्द्व ने
किया है हृदय समृद्ध
रचा है उसे कई-कई पहलुओं में
बदलना, तोड़ना, परखना, रचना
मेरा पन है—भीतरी आवेग, वेग
पिया गया मेरा रक्त
प्रकृति के साथ-साथ
रचे हैं नये पथ हर बार
खौफनाक पशुओं को मार कर
किया खनन रात दिन
काटा है वनों को
देह को सुखा कर
बंजर भूमि हुई है उपजाऊ मेरे ही जतन से
मोड़ा है नदियों को, नहरों को
जहाँ नहीं थी, बूँद पानी की
दिखती हैं जल धाराएँ पवित्र
फिर भी वह प्यासा है
दुखी है असहाय है
हाथ ही ने बनाया है, मुझे कवि, चित्रकार
गायक, शिल्पी, स्थापत्यकार
नृत्य भंगिमाओं में झलकता है उल्लास जीवन का
कहाँ है तुम्हारा भरत-वाक्य
भरत नाट्य
बाजार में बिकती काव्य-कृतियाँ बे-भाव

देखता हूँ शरद के लगते ही
ऋतु-प्रजनन को आते जल-पक्षी घने में
खसाने पड़ेंगे बड़े-बड़े टीले
लड़ने को आगे का सतत समर
तोड़ना होगा ब्रह्म-पाश

ओह... कितना समय हुआ
गुलमेंहदी अभी खिली नहीं
उसी के इन्तजार में ऋतु ठिठकी रही देर तक
आज दिन है निखरी धूप का
काली मिट्टी में खिली है कपास
अधझरे पेड़ पर चिड़िया बजाती हैं जल तरंग।

(2)

क्या यूँ ही उपज आया भूतल से
जैसे उगता है बीज द्विपत्र हो जुती धरती से
सूर्य के उजीते में, हवा में, ताप में
जल की बूँदों में भीग कर
नहीं, नहीं मैं नहीं हूँ पृथ्वी का
अबोध शिशु-मात्र
धूल कणों से उछटा एक कण
पिसी रज काली, चट्टान का खुरदरापन
कहता रहा हूँ आज तक पृथ्वी को जननी
खुली है मेरी आँख अन्न से
जल से, हवा से, रवेदार उजीते से
लेता हूँ, साँस नथौरों से
सुनता हूँ कानों से
रचा गया है शब्द बड़े ही जतन से
अर्थ के लिए नापी है लम्बी डगर
वह बसा है मेरे बारीक तन्तुओं में
गुण-सूत्रों में
मज्जा में, हड्डी में, रक्त में
चित्त का नृ-जातीय-भूगोल रचा गया
इसी से

जो वे समझते हैं
पशु-पक्षी डराने का बिजका नहीं हूँ
खेत में
नहीं हो पाया मुक्त आज तक भीगता रहा हूँ
रात की टपकती बूँदों में
तुहिन कणों में जिया हूँ सिहर कर
धूप की बर्छियों को सहता आया हूँ
उभरी पसलियों पर
कहाँ हुआ अभी शिखरस्थ, मुकुटधारी
ओ हटी कन...
पूर्णता मेरा कोई विकल्प नहीं
कहाँ खोज पाया हूँ आकाश गंगाओं का
ज्वलित छोर
चन्द्रमा की चट्टानी सतह पर बिखरी सिलहटी धूर
देखता हूँ... केंचुल उतारती रात में
राख होती उल्काएँ
ओह... रात के स्याह सघन आकाश में
उजाले की क्षीण-रेख
क्यों कौंधती आँखों में
गढ़ती भीतर तक
एक पैनी नोक सुर्ख
खत्म हुआ लगता महान पुरूषों का
उज्ज्वल समय
सामान्य से ही चुनना है अपना काव्य-नायक
बताना होगा मुझे अपना पथ
कपोल-कल्पित कथाओं के बीच में
दमकता सच का ध्रुवतारा
ग्रेनॉइट पर लिखी सजी-धजी इबारतें
आकाश रिक्त नहीं मेरे हृदय की तरह
वहाँ है वेगमय
छोटे-छोटे कण-उपकण दौड़ते-टकराते
वायु की रगड़ से जन्मता है ताप
पिघलते हैं ठोस धातुक अणु
वही है तीखी ज्वलित रेख
जो रह गयी है कहीं बहुत पीछे

टूटे-बिखरे खण्डहरों में
नहीं की प्रतीक्षा कभी टूटते तारों की
नहीं जोड़ देखा उन्हें भाग्योदय से
ओ काल की सहस्र लौ... अग्नि-पुँज
सहेजे रहूँगा उन्हें हृदय में अन्त तक
पहचान लेता हूँ उल्का की राख से
ग्रहों पर क्षरित होते कणों को
उनमें चमकती है बारीक नसें
सिलिका की, लोहे की, मैग्नेशियम की
देखता हूँ छूकर अ-छुई देह पर
खिंची धारियाँ सोडियम की, गन्धक की, निकिल की
ओ कवि... मैंने कहा था
जब रचा गया सौरमण्डल
मैं वहाँ नहीं था
कैसे पहचानूँ इन कणों में बजती
भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ, ... अनुरणन
तेज लय तीखी
आकृतिवान आत्मा का
कैसे रचा गया चन्द्र-क्रीट
रोज़ आता हूँ यहाँ जानने रहस्य
इस मगरमच्छी चट्टान के
सतत् फुदकते स्रोत-शिशु झरनों के
ओ पुच्छल तारे के नाभि-बिन्दु
तुझे नहीं छू पाऊँगा इन आँखों से
अमोनिया, जल, रजकणों से
रचा गया तेरा थल... उथल-पुथल
धूल में धुँधलाया तू
दिखता है तेरा अधढँका सिर
पिघलते बर्फ के ठोस कण
वे होते नहीं नष्ट कभी
भिड़ते रहते हैं कण-प्रति कण आपस में
नष्ट नहीं होता कुछ
कदलते हैं अरूप के, रूप के
बिखरता रहता है रजत उजास
वृक्षों, पठारों, ढूहों पर

कौंधती है जब-तब छबियाँ सुन्दर भविष्य की
धुँधलके से रची गयी हैं सुन्दर नीहारिकाएं वृत्ताकार
कुछ-कुछ अण्डाकार
अग्नि हो रही ठण्डी
उसे बुझने मत दो
गति है विचित्र रचना की
लावा ठण्डा होकर बना है स्याह चट्टान
खुरदरी रबेदार, धूप में चिलकती है,
उन पर खिंची बहुरंगीय टेड़ी-मेढ़ी धारियाँ
जिन धूल कणों को आया रौंदता सदियों से
वे ही बिखेरती हैं सूर्य रज
बूँद-बूँद अन्न के पके दाने
कभी-कभी पहचान नहीं पाता
बदले-बदले चेहरे अपनों के
अब मुझे जाना होगा छोड़ कर
उथली पोखरें, सूखी नदियाँ
गहरे समुद्र के निक्षेपों तक
हिमखण्डों तक
ओ काल नष्ट नहीं कर पाएगा
तू इन्हें
जल, वायु और काटता शीत
ओ सौर-जगत के राजकुमार-सूर्य
तेरे तेज़ घूमते मसकले पै
रख कर देखूँगा आदमी की जिजीविषा को
उसके कठोर यत्न को
पृथ्वी की धुरी कैसे जान पाऊँगा
वो है तेरी दुहिता बे-चैन
बाहर से, भीतर से, नहीं है चैन
एक पल
यही अदृश्य अणु जीवित द्रव्य
रूप है काल का, गति का
जिसे बाँधने को
आज तक रचे शब्द, लय, ध्वनि, छन्द
तुझे दिखाने आऊँगा कभी
कविता का दहकता अन्तःकरण

क्या बादल बरसने को गरजता है
कहते हैं जो गरजते हैं, बरसते नहीं
तूफान उठने को है
साँझ लच कर दिखती है छुई-मुई
पेड़ों का हिलना बन्द है
पके पत्ते गिरने से धरती काँपती है क्यों
उन्हीं की जगह फूटती हैं कत्थई कौंपले

(3)

ओ सूर्य—
तू है पृथ्वी का जीवन स्रोत
विश्व की खुली आँख
मैं उसी का पुत्र हूँ
जाने क्यों दिखता उदास, अकेला, खिन्न
और मन मारे बे-चैन... ऐसा क्यों
जानने को यह सब
रहस्य विपुल विराट के
एक बार लौटना होगा मुझे बहुत पीछे
वे आदिस्थल, उद्‌गमों के मुखर-बिम्ब
ईरान, मिस्र, चीन, यूनान, भारत
इनकी जड़ें पौंड़ी हैं
कहाँ तक... किसी दिशा में
कितनी गहरी हैं
अश्वेत अफ्रीका के वनों तक
जागता है लैटिन अमरीका
तुम भी क्यों नहीं उठो मेरे साथ
बोला अपनी जुबान...
देखो मेरी आँखों से
यह समय है महापुनर्जागरण का
कौन से ब्रह्मा ने रचा है,
यह विराट-शिरोमणि जीवन...
विरल सुन्दर उपहार निसर्ग का

बचपन में भय सताता रहा
अँधेरे में डर लगा
उजाला तलाशने को रंगों में
महसूस की गरमाहट
कब निकला समुद्री स्याह जल से
वह सफेद अण्डा विभाजित होने को
क्या एक भाग बना पृथ्वी का नरक-कुण्ड
दूसरा स्वर्ग नहीं कोई और
ओ कवि बचो
इन मनोहारी दिवास्वप्नों से
छायाभास करते हैं, मेरा पीछा
रात-दिन
मोह-भ्रम रोकता है आगे बढ़ने से
यह है सनक बूढ़ों की, सन्यपात
मरीचिका उन दन्त कथाओं की
सुखाई है जिसने
खिली बेल पीयूष-ग्रन्थि की
समझो-बूझो-सोचो
आद्य द्रव्य ही रमकता है
मेरी रगों में
कभी रहे होंगे वे
तेज़-पुँज-कण वेगवान
टकराते रहे कण प्रतिकण आपस में
रगड़ के आवेग से जन्मता ताप
बनती है गैस गतिमान
तेज गति जीवन की
खोज पाया हूँ कठिन तप से प्रतिपदार्थ
जब झिलमिलाई नीहारिकाएं
समूचे ब्रह्माण्ड ने झेला द्वन्द्व
केन्द्रविमुख और केन्द्राभिमुख भूमा शक्तियों का
उमड़ा ज्वार
बन्द है द्वार... उन्हें खोलो
होता हूँ चकित देखकर भूबिम्ब
आकाश में उदति नव-नक्षत्र, नये छेद
काले धब्बे

एकदम ज्वलित दहकते अँगारे
कहाँ हो जाते लुप्त
नहीं याद करने को उन्हें
रुकता कोई क्षणभर
सुनो, दन्तकथाओं से मुक्त होने को
सुनो, आँख ओट
काले द्रव्य को चानकते सुनो, अन्तरिक्ष में
विशालकाय-भारी-अग्निपिण्ड
जो दहकता है अन्दर-ही-अन्दर
होता है जब विस्फोट
द्रव्य बिखरता है इधर-उधर
कुछ गर्म, कुछ ठण्डे
कुछ थिर, कुछ अथिर वेगमय
इतने असंख्य रूप
द्रव्य होता रहा है सघन पृथ्वी तल पर
तपता रहा थल बार-बार
जन्मते रहे हैं नित नये भू-दृश्य
तब मैं कहाँ था
मेरा बीज-रूप
आकाश गंगाएँ फैलती-सिकुड़ती रहीं
कभी दूर, कभी पास
होते हैं ऐसे भी नख्त-पल जीवन में
जो होते हैं बहुत पास
वे ही चले जाते हैं बहुत दूर
लुप्त होते नक्षत्र
राख होती उल्लकाएं... बड़े-बड़े जोति स्तम्भ
खस पड़ते कौंध कर क्षण भर
क्या करूँगा जानकर पृथ्वी का अन्तःकरण
जीवन हुआ अवतरित कब... कैसे
वह है सदा फैलने... फूटने को
खिलने पकने को
गति रुकती है पच्चड़ों से
कैसे जान पाऊँगा गोधूलि प्रकाश की
मन्द पड़ती आँच को कैसे रोक पाऊँगा
कैसे... कैसे... कैसे....

कौन करता है मुझे सचेत करने को
प्रश्न-प्रतिप्रश्न ऐसे
कैसे जान पाऊँगा छिपे रहस्य
जब तक न जानूँ पृथ्वी के जन्म को
प्रलयंकारी ज्वालामुखियों को
भूकम्प, बाढ़, सूखा को
तबाह हुए जन को
मेरे अपने ही हुए हैं बे-घर उजड़ कर
कुनबा-के-कुनबा हुए हैं बारहबाट
होता रहता है तल पृथ्वी का
उथल-पुथल... आक्रान्त
क्षरित होते रहे हैं हर बार
पठार, पर्वत, चट्टानें
वे प्रतीक नहीं प्रतिफल है गति के
मरु में मिले जीवाश्म समुद्री जीवों के
पर्वत शिखरों पर चिह्न निक्षेपों के
बहुत खोजता हूँ हड्डियों के भीतर छिपी
रिगसन घिसटते काल की
यहाँ कब आया वह
चीर कर वन-वनस्पतियों के काले क्षितिज
न चिह्न है कोई अतीत का
न भविष्य की कोई चमकती रेख
उसके जन्म के बाद से ही
होता रहा है पटलविरूपण आज तक
सागर पर निक्षेप नदियों के
गंगा, सिन्ध, सतलज, कृष्णा, कावेरी
जमुना ब्रह्मपुत्र बनाती रही हैं
उर्वर दोआबे आसपास
मैं भी आया हूँ यहाँ
खेद कर गंगा-जमुना के द्वाब से
बहुत पीछे छूट गयी कत्थई कोंपलें
वसन्त की खिली पियरी सरसों
आम का महकता बौर
मेरे भीतर भी होता रहा है
जमाव तल छट का सदियों से

विनाश, रचना, विरूपण
कितनी परतें हैं हृदय में... कितने छोर
कितने भद्दे मरोड़ सिकुड़ने गाँठ-गँठीली
कितनी वक्रताएँ... भाव, अनुभाव
प्रतिभाव की
कितने ठोस उठान और निचान
हुआ है जीवन क्षरित
समर ही रहा है बचा आज तक
आँसुओं का खारापन भिन्न है
साँभर झील के खारे जल से
होता रहा है जलप्रवाह विकृत
पर्वतों की हल-चल से
क्या पहले समुद्र जल मीठा था
क्यों हुआ सागर मन्थन
जीवाश्म बताते हैं
जीवित थे वे नमक पर
आज भी कहाँ रह पाता हूँ
बिना नमक के
समुद्र की नियति है उसका खारापन
उठती-गिरती लहरें
उमड़ते ज्वार मथते रहे हैं उसे
दिखता है आँच तपा क्षण
काल का खुला वृक्ष देता रहा है
चुनौतियाँ हर पल मुझे
एक दिन पृथ्वी ने अलग शुरू की यात्रा
दहकते सूर्य से
द्रव्य ही था प्रथम सत्य
चेतन कहाँ था
बनती गयी ठोस परतें, परतें, परतें
भाप से जन्मते रहे जल-कण
महाकाल का प्रथम उत्सव था भैरव-राग
ताण्डव नृत्य
एक कोषीय जीव में जन्मा मैं
उसी से फूटा है कल्ला सुर्ख
बहुकोषीय जीवन का महाजागरण

चट्टानों की परतों में बचे रहे हैं निशान
जीवधारियों की हड्डियों के
वनस्पतियों के
बड़े संघर्ष से मिली है मुझे रीढ़
रगें, मस्तिष्क का लिसलिसा द्रव्य
खड़ा हुआ बदलने को भू-दृश्य
पठारी शक्लें सिल्का कोल्साइट में
छिपे है जीवाश्म, पदचिह्न
खीजने को आतुर हूँ
चन्द्र-चट्टानों में छिपी सूर्य-रेखाएँ
जल बिन्दु
दिखती रही है जीवन-जगत की
विनाश लीलाएँ
सृजन, ध्वंस, रचना, पुनर्रचना
गहरे धँसावा, स्याह दरारें
चट्टानों पर उठे गूँमड़े हरबार
पहुँचा अग्नि-भाट्टियों के ताप में
खोजने तेज के उद्गार तत्त्व
रेडियम, थोरियम, यूरेनियम
रेडियो सक्रिय खनिज जहाँ-तहाँ
जानने को पठारों की उम्र
मनुष्य का भीतरी समर काल
बाहरी दुनिया के द्वन्द्व... दृश्य अदृश्य
विपरीत तत्त्वों की एकरूपता ही
सत्य है, जीवन है, गति है
अन्त ही इसका मृत्यु है
यहीं से उगते हैं
कलाओं के मूल-बीज
लय, आवेग, पदबन्ध, छन्द

कितना कीचड़ सड़ता है गली में
लोग यहाँ रहते हैं छटपटाते पिंजड़े में चूहे
दिखती है भूख की फटी-फटी आँखें
न धूप है, न स्वच्छ जल, हवा न रोशनी
जिन्दा हैं फिर भी यहाँ लोग

ये काली करतूतें हैं मेरी
या भाग्य संजोग।

(4)

कौन थे गौंड, कौन थे भील, कौन है आदिवासी
आदिम सन्तानें भारत की
मेरे पूर्वज कठोर... बलवान
कितना बदला है धरातल तक से
मैं हुआ हूँ धरातल तब से
मैं हुआ हूँ कितना अजनबी पहले से
सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आकाश गंगाओं में तैरती सघन नीहारिकाएं
कहाँ छिपे हैं रक्त कण
बोलो निषादराज
अचूक है तुम्हारा लक्ष्यभेद
आदि कवि के छन्द में
तुमने पायी है अमरता
द्रविड़ पूर्व भारत के मूल जन
तुम्ही हो धनुर्धारी, कालजयी
कहाँ हो तुम सोये
अरावली, विन्ध्य को देखते उजड़ते
कटते घने वन, वनस्पतियाँ, सूखते झरने, जलस्रोत
कहाँ हैं तुम्हारे राम
गन्दली सरयू को उतरते पार
ओ कवि
मैंने देखा है उसे मछली पकड़ते-जालवान
धरती पुत्र
सूखा, अकाल, बाढ़ में
झेलते मृत्यु नखर
काला बदन घना रोयेदार
लिखी है वन वनस्पतियों पर
तुम्हारी नग्न निर्धनता
अभाव, भूख, दमन, अन्याय
खदेड़ते हैं तुम्हें धनिक, क्रूर ठेकेदार
यह तुम्हारी है
क्षण में उजाड़ देते हैं तुम्हारे गाँव-घर

उठो...जागो
अभी मुक्ति का समर शेष है
भरत के मुक्तिसंग्राम में गिरा है
बहुत रक्त तुम्हारी देह से
जिन्होंने दिया अपना जीवन मुक्ति को
उनके काव्य-स्मारक हैं कहाँ
इतिहास चुप है
पेट की आँच ने ही बनाया है तुम्हें
अपराधी, आखेटक, दस्यु
तुम्हारी स्त्रियाँ करती हैं, कठोर श्रम रातदिन
देखा उन्हें पहने घाघरा
वे पसन्द करती हैं काला और लाल रंग
छोड़ो यह झाड़-फूँक, भूत-प्रेत-भ्रम-छाया
बाहर आओ इस घने अँधेरे से
तुम्हारी मजबूत भुजाएँ हैं तुम्हारे देई-देवता
तुम्हारे कठोर तलवे, दाँत, चमकती आँखें
पहचानने को रहस्य जीवन के
भीतर धँसो
कहाँ हैं गौंड
तुम्हारे ही वंशज वे
छत्तीसगढ़ के पठारों पर बहुत पहले
तुम रहे छत्रप
गोडवाना के समृद्ध जन
सर्जक आदि संस्कृति के, छन्द के
मिले हैं चिह्न, अवशेष, जीवाश्म
बर्तनों के टुकड़े नक्काशी कढ़े
तुम्हीं ने बनाये हैं मार्ग वन-वनस्पतियों को चीर कर
मैं उन्हीं पर चलकर यहाँ तक आया हूँ
कौन है वे छीनते तुमसे तुम्हारे वन, चट्टानें, नदियाँ,
झरने पहाड़... उन्हें पहचानो
आखेट में दक्ष तुम पहचानते हो
पशुओं के स्वभाव को
तिनकों के हिलने से वायु के कम्प से, बादल की गरज से
तुम्हारी हाँक की आवाज गूँजती है
सन्नाटा तोड़ कर

जाल में फँसते पक्षियों को
महुआ के फलों से निचुड़ती
बूँद-बूँद मदिरा
बीनते हो धरती से आम, जामुन, आँवला
देखा उन्हें अधनंग
छिपाये अपने गुप्त अंगों को बे-झिझक पत्तों से
पहने दिखी स्त्रियाँ आभूषण भारी-भारी
गुदी बाहें कोहनी तक
नाक में हिलता भारी कड़ा
इन्हें फेंको उतारकर
ये हैं प्रतीक स्त्रियों की दासता के
उत्सव में नाचते
समूह गान गाते
सजे हैं कण्ठ उनके वनफूल मालाओं, कौड़ियों से
यह उत्सव है बजता मृत्यु ढोल
भूलने को जीवन की कठोरता और दमन
बाँस के घर, छावन फूँस के, लकड़ियों की पाटौर
तुम्हें छोड़ के चले गये बहुत से शहरों को
तुम्हारे ही परिजन
सत्ता में बैठ कर
नहीं है उन्हें तुम्हारी सुध
देखे उनके तीर-धनुष, कुल्हाड़े, हल, कुदाल, खुरपी, फावड़ें
बहंहगियों में ढोते कन्धों पर
असबाब, सब्जियाँ, वनैले-फल
ये गाढ़िया लुहार तुम्हारे ही वंशज हैं
बताते अपने को राणा प्रताप के वंशज
जब तक मिलेगा मेवाड़ वापस उन्हें नहीं
रहेंगे ऐसे ही घुमन्तू वे
कहाँ हैं, कैसे हैं मुण्डा
झारखण्ड, बिहार, छोटानागपुर के सुलगते पठार
भारत का आदिम समाज
आज भी जीवित है
पौंड़ी है मेरी भी जड़ें वहाँ तक
पहचानो उन्हें... ओ भद्र कवि
देखो उन्हें रिमझिम में चहोरते धान

उनके नाटे-नाटे बैल, गाय, मुर्गियाँ
यही है उनकी आजीविका के स्रोत
कहाँ आ गया
कोसता है मुझे मेरा कुलीन मन
घिन आती है जिन्हें देखकर
कैसी दुनिया है डरावनी, बे-सूरत
क्या ऐसी भी होती है जिन्दगी
कैसा लोक है जिसकी चर्चा करते
तुम अघाते नहीं
क्या इनके चित्रण से कविता नहीं होती मैली
यहाँ-कहाँ चमचमाती कीमती गाड़ियाँ
उनसे उझकते बिलायती कुत्तों के काले थूथन
कहाँ आ गया बहुमंजिली इमारतों की दुनिया छोड़
कहता है बार-बार मुझसे वो
क्या होगा कविता में ऐसे बदसूरत सच का
इन्हें जानों... मृत्यु भी ठिठकती यहाँ आने से
कितना अलग-थलग लगता हूँ इनसे
नहीं, नहीं यही है सच्चे स्रोत कविता के
मेरी रगों में दौड़ते खून के रवे
इस महादेश की अपराजेय जनशक्ति
जिन्दा है इन्हीं से
सिंह भूमि, मयूरभन्ज, मानभूमि
नदियों से घिरी मझोले कद की पहाड़ियाँ
बिखरे हैं बेतरतीब पत्थर जहाँ-तहाँ
छोड़ती हैं नदियाँ जिन्हें
उन्हें सिडौल और चिकना कर
शिव और गौरी के बनते हैं
नित्य रूप इन्हीं से
धारियाँ खिची हैं गेरुआ त्रि-भंग
दहकता पलाश वन
उनकी लाल आँखें भरी आक्रोश से
कह नहीं पाते जो अपना ताप
बहुत भीतर छिपी यातना की ज्वाल
अभी-अभी तोड़ के लाये है तेंदू-पत्ते
बर्छियाँ बरसाती तेज धूप में

लकड़ी में तराशते देवी-देवता
काठ में रचते फूल चित्र
ओ कवि... कहाँ चले आये तुम
लौट जाओ अपनी जयपुर राजधानी में
बीड़ियों के व्यापारी खरीदेंगे इनसे
कौड़ियों के मोल
बेचेंगे इन्हें रजत भाव
सिलिका बालू की ढुलाई कन्धों पर रात-दिन
फिर भी है भूखे-नंगे
कहते उन्हें चाण्डाल, कीड़े-मकोड़े, सूखी ठठरियाँ
सोनभद्र... कितना प्यारा नाम है दोआब का
यहाँ के कोल, गोंड, पहरिया
आज भी अछूत हैं
इनका कौन-सा वर्ण हो सकता है
कभी नहीं सोचा
श्रमी का क्या सम्प्रदाय, क्या वर्ण क्या कौम
बाजार में श्रम बिकता है
ओ कवि... इनका तुम्हारा क्या साथ
कैसे हो पाएंगे ये
नायक तुम्हारी आत्म प्रलापी कविता के

मिलती है इन दिनों लावारिस लाशें बहुत
लूट, कत्ल, मिलावट, जालसाजी, घोटालों की खबरें
होती हैं प्रमुख समाचारपत्रों, रंगीन परदों पर
रात को सोये गिट्टियों पर
सुबह उठते ही खोदनी मिट्टी, ढोनी है ईंटें
बड़े-बड़े लोगों के नाम उजागर हुए हैं
भ्रष्टाचार में
कितने थिगड़े लगने हैं बाकी मिथ्याचार में

(5)

खड़ा हूँ देखने यहाँ से सूखे स्थलों के भू-आकर
पानी काटता है धरती को लगातार
क्यों लौटता हूँ तुझे पाने को

ओ मेरे बचपन बार-बार
तेरी अबोध चितवन को
मिट्टी-सनी भाखा को
ऊट-पटाँग क्रियाओं को
सब कुछ जीवित है मेरी यादों में
निचान में धँसा पानी गाँव के गौहान
ऊँचे स्थलों की साफ-सुथरी मिट्टी
हवाएँ भरके लाती जल बंग खाड़ी है
हिन्द महासागर से
वे रिक्त हो जाती है आते-आते
मेरे प्यासे थार में
उड़ीकता किसान यहाँ बूँद-बूँद पानी को
वसन्त आता है हर बार
तभी फूलता है फाग
पर वैसा नहीं
क्यों होता जाता हूँ रिक्त अन्दर तक
मरुस्थलीय जीवन का पुँज
पत्थरों को फोड़ उपजता ऊँटकटीला
चमकाता पैने दाँत
कहाँ खोजू उस धरती को
जहाँ गिरी न हो बूँद खून की
न हुआ हो कटाव जहाँ
कब तक खड़ा रहूँगा यहाँ
चूमने नम हवाओं को
किरणों के अन्नवान मुख को
खड़े हैं आगे पथ में बालुका स्तूप घने-ऊँचे
इसका घनत्व देता मुझे खुरदरे रबे
आकाश में ध्वनित होती पृथ्वी
अँधरे गर्त में खींचता है, उजास आगे जाने को
देख सकूँ अपने पथ की जटा-जूट उलझने
कविता में सुलझाने से पहले ही
सुलझा सकूँ उन्हें जीवन में
जीवित है आज भी
चूरू, नोहर, बीकानेर के
बालुकास्तूपों के खसे स्थापत्य

साम में जैसलमेर का विरल सूर्यास्त
देखने को चढ़ना पड़ा ऊँट पै
बालुका स्तूपों में नहीं दिखा जीवन
जिसे देखा मरुथल के बड़े-बड़े रेत टीलों पर
सनातन है भिन्नता रचे जाने की प्रविधि
यही होती है बिम्बित जीवन की उमंगित लहरों में
भूतत्व भिन्नता की जननी है
कहाँ थाह पाया गहराइयाँ
दैत्य से लड़ते मनुष्य की
गुफामुखों पै बने चित्रांकन से ही
हो लिया हूँ क्या सन्तुष्ट
खोजता फिरता हूँ
किस मनुष्य को इस बियावान में
उसी को जिसने बनाया पहिया
पहली बार गोल-गोल
कहाँ छिपा है वो अतीत के मलबे में
कहाँ है उसे जगह मेरी कविताओं में
उसी का उन्नत भाल देखता हूँ
दाँतदर पहियों में
कटते संगमरमर की सफेद पट्टियाँ
स्याह ग्रेनॉइट
आकाश में उड़ते वायुयान

आगे तक फैली है नयी मरोड़दार
अरावली की भ्रंश शृंखलाएं
अब नहीं दिखती छत से
कितने हैं अवरोधक विवर
बाँकपन लिए स्याह दरारें
नीरस स्थल, भूखण्ड, भू-आकृतियाँ
ये सब भरते रहते मेरे भीतर का रिक्त
चलके आया हूँ
ऊबड़-खाबड़ रुदन-पथ
मेरे शहर के बिल्कुल पास
बनी है साँभरझील
चट्टानी घाटियों में बहते जल से

कहाँ दिखता है ये सब
इन आँखों को
उत्सुक छुअन से नहीं पहचान पाता
कटाव कितना गहरा है
हवा की तेज धार से बनी पट्टियाँ
मरु के वृक्ष पै
कहती है कथा अनकही
दस्तक देते भविष्य की
क्रूर विदोहन होता है प्रकृति का दिन रात
मेरे साथ अन्धाधुन्ध
धनी देशों की गिरती साख
फैलता-फूलता उनकी मण्डियों का जाल
आगे बढ़ता मेरा देश
क्या बन पाएगा
सुन्दर, स्वस्थ
ऐसे डरावने उजाड़ में

अब यह स्थल मंच है
इस पर पटेर उग रही है
पोखरें भरी हैं
पूरा गाँव परेशान है
बीमारी, बाढ़, सूखा, अकाल, बटमारी
खसे पड़े कच्चे मकान
पहले यहाँ नमक बनता था
पता नहीं यहाँ के लोग घर-बार छोड़
क्यों... कहाँ गये।

(6)

क्या है आत्मा
सदियों से पड़े हो जिसके पीछे तुम
एक सूक्ष्म अग्निकण का चिन्मय रूप
कहते जिस अष्टधातु का सार-कण
झिलमिलाता है उसमें यह पूरा विश्व-वृक्ष
उसकी छोटी-बड़ी टहनियाँ, पत्ते, फूल फल

विकसते मेरी देह में
चाहता होना मुक्त नरभक्षी दैत्य से
वह है सुन्दर, उन्नत, सूक्ष्म द्रव्य रूप
छायाएँ रहती हैं उसे घेरे
पहचानती अपनी दुखती-रग
हरपल आगे वेगवान
पूछती है माँ मेरी
कराहते हो क्यों तुम दुखी
अभाव हैं ऐसे जाने कितनों को
फिर भी वे जीते हैं
सहकर सब कुछ
सुनता हूँ असंख्य रुदन-ध्वनियाँ
उनमें एक मेरी भी भीगी
नम साँसों में
ओह... मेरी तीसरी आँख
तू देख धरती के भीतर छिपे खनिज सार को
तपता रहा है यह सत्य-कण धमन भट्टियों में
अपने घरों से उजाड़े गये वे खोजते फिरते
अपना छूटा घर, पथरीली छतें
यहीं तो छोड़ भागे वे
सूखा में, बाढ़ में, महामारी में
कहाँ है मेरा घर, मेरे बच्चे, परिजन, पड़ोसी सब
सब कहाँ-कहाँ गये
कहाँ गया उनका नेह भरा-चित्त
उन्हीं ने रचे हैं ये भव्य वास्तु-स्थापत्य
आत्मा की पुनर्रचना के सुन्दर प्रतिरूप
पाषाण युग के बने झोंपड़ों में
क्या आज भी रहता है भारत का बहुजन
वनों में पठारों में, पर
गुफाओं में, थार के टीलों पर
पोखर से निकालता मिट्टी वो कौन है
कच्ची ईंटों को पका कर भट्टे में
चुनता एक सूत
जो छेकता, दरवाजे, खिड़कियाँ, झरोखे
रचता हर चीज को सुन्दर इस तरह क्यों

उसी की बनाई हुई ईंटें खोजी गयी हैं
मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, कुशीनगर, कौशाम्भी
नालन्दा की धूल में
ओ... मेरी विकासमान चेतना के गति-कण
द्रव्य ही सच है
गति ही जीवन है
आदि, अन्त
उसका सार तत्त्व
वही है मेरी आत्मा की ज्योएन्थरोग्राफी
द्वि-रूप प्लाजमा... काव्य-रस
कितना विष-बुझा समय है
पहचान नहीं पाता स्वयं को
ओ काव्य-कानन की उड़नपरी
मत खींच मुझे अपनी ओर शून्य में
तू भी एक मोहक छाया है
मरू में मृगमरीचिका प्यासे को
रहने दे मुझे इसी धरती पै
चलने दे नंगे पाँव नुकीले पत्थरों पै
पहचान पाऊँ थचके पेट का स्थापत्य
भूख की दहकती आँच
कहाँ पहुँच पाती है उसकी लपट
संसद के गूँजते कक्षों तक
कहाँ है मुक्ति की देवी
अपराधों में फँसे न्यायाधीशों की वाग्देवी
मुझसे कहा गया है चुप रहने को
सच को मुलम्मे से ढंकने को
मुँह पर हाथ रख सिर्फ सुनने को
ओ नामे चोमस्की... दिलेर लेखक
ह्यूगो शावेज के मित्र
तू क्यों नहीं बन पाता आवाज अपने देश की
देखता हूँ हर साँझ उन्हें लौटते उदास मन थके-मादे श्रमी
क्या यही है उनकी नियति लोकतन्त्र में
क्यों रहता हूँ इतना बे-चैन खोजने को
अन्तरंग स्रोत, लहरें, बीज, पदचिह्न, सुरंग आँक
गयी ऋतुओं के

कहाँ से आये हैं ये धूमकेतु, सूर्यक्रीट, उल्कापिण्ड
ग्रेनाइट पथरीली रात में उजाले की एक बूँद
क्यों रहना चाहता हूँ दिवास्वप्न में
फैन्टेसी में रहना मत सीख ओ मेरे कुलीन कवि
वह है बड़ी बिगड़ैल घोड़ी
उड़ान भरती है आकाश में
नहीं रखती ध्यान वो सवार चाहे गिरे-मरे
तू बच इससे
अपने आत्मग्रस्त लीन से
आकाश गंगाओं से सजा-धजा सौरमण्डल
अग्नि पुँजों से भरा भीतर ही भीतर
मेरा पथ बदल
देखने दे मुझे बाहरी दुनिया को
जहाँ न हो रक्तपात
न देखूँ सच को गिरवी धरते झूठ को
भोपाल की सड़कों पर भीख माँगता कुमार गन्धर्व का बेटा
वो मुकुल शिव आँखों में घना अन्धकार
होठों पर मन्द-मन्द ध्रुपद गहरा शोक गान
इस बार घूम कर आई धरती जब गुजरेगी
मेरे आम-मंजरति द्वार से
पूछूँगा-कितना दग्ध किया है तुझे सूर्य ने
चमकती मन्दाकिनियों ने
सूर्य-केन्द्रित बिम्ब से देखने दो और आगे
भारी मूल कणों के द्रव्यमान
ओ ग्रहण के पिघलते चन्द्रमा
तू अपनी कलाएँ देखने दे उन्हें भी
जो भूख में समझते हैं तुझे अधसिकी रोटी
क्या तू वैसा ही आज भी
जो माँ मुझे लोरियों में सुनाती थी
बहुतों के भविष्य कथन मिल गये धूल में
आदमी ने ही दिये हैं सूर्य देव को
दिशाओं के नाम-धाम अपनी राह चलने को
लुप्त हुई जाती हैं नदियाँ देश की
एक ध्रुवीय दुनिया के सम्राट का खुला मगर-मच्छ जबड़ा
तेंदुआ के मुँह लगा मेरा खून

तुमने कहा था, तमसो मा... सदगमय'
क्या दुनिया सुन पा रही है इसे
क्यों नहीं सुनता इसे मेरा देश
द्रव्य की चौथी भुजा
यह प्लाजमा पिघलते ताप से फूटा जो
गैस का अँखुआ
सूर्य की कोख से
अभी अन्त नहीं सूर्यगाथा का
क्या है इसका रिश्ता कविता से
मेरे मन-के-मन से
रोयों से, पलकों और आँख के कोयों से
ओह... छिपे गहन आँसुओं से
'महाप्रयोग विग-बैंग' से
कैसे जोड़ पाऊँगा इसे रोटी से, भूख से
क्या रुक पाएगी इससे महाविनाश लीला
मनुष्य की प्रकृति की सुन्दर सृष्टि की
पूछता हूँ तुम से
हाँ तुम्हीं से।

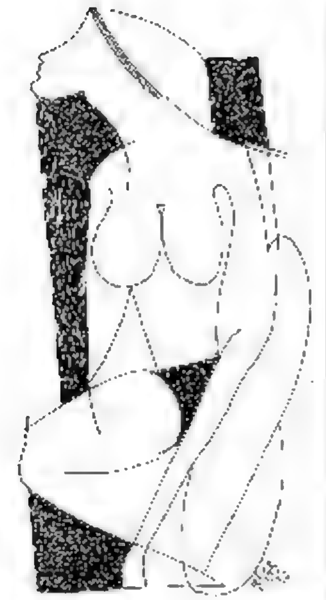
भरत वाक्य

समर अभी बस्तूर...जारी है
यह रहेगा बहुत आगे तक
पराजय ही विजय की जननी है
जड़ें बहुत गहरी हैं... सतह के नीचे मिट्टी नम है
समर जारी है बदस्तूर।

15 जनवरी, 2011

❑

नूर ज़हीर



राज़फ़ाश

दोनों की बातें खत्म नहीं हुई थीं। बस एक उम्र तक की पूरी हो चुकी थीं। दोनों के चेहरे खुशी से दमक रहे थे। कुछ तो बाईस साल के बाद मिलने की खुशी, तेज़ रफ़्तार और आज की रेल पेल में एक-दूसरे को खोज ले पाने की खुशी, चारों तरफ से तलाक, अलहदगी, दूसरी शादी की खबरों की बराबर बमबारी में एक-दूसरे को बसा-बसाया पाने की खुशी और इस सबसे ज्यादा, बाईस साल फलाँग कर, अपना लड़कपन फिर से जी पाने की खुशी। दोनों ऐसी फटी पड़ी रही थीं जैसे कोई टाइम मशीन हाथ लग गयी हो, जिसके सहारे दोनों ने बीच के साल दूर धकेल दिए हों और उन सालों के साथ ही वह दो तीन बच्चे, एक अदद बोर, रूखा पति, सास-ससुर में से एक या फिर दोनों, जरूरत से ज्यादा नुक्ताचीनी करता हुआ और पकती उम्र में भी यह याद दिलाता हुआ कि अभी तुम पूरी तरह से स्वतन्त्र नहीं हो, अभी तुम्हारे ऊपर हम हैं! घर का लोन, नौकरी में प्रमोशन, बच्चों से घटता अपनापन मगर बढ़ती जिम्मेदारी, सबको इस टाइम मशीन ने जैसे एक झटके में गायब कर दिया हो और ज़िन्दगी को दोबारा उसी स्कूल और कालेज के अल्हड़, बेफ्रिक जमाने में ला खड़ा किया हो।

चुप्पी तोड़ते हुए सुगन्धा बोली, ''एक-एक काफ़ी और हो जाए। हो जाए। ऐसिडिटी हुआ करे मेरी बला से, जया ने एहतिहात का दामन हवा में उड़ाते हुए कहा।

''तुझे कब से ऐसिडिटी होने लगी। कॉलेज के दिनों में तो नहीं थी। तब तो तू सबको बिना चीनी की ब्लैक काफ़ी पिलाकर रौब झाड़ा करती थी।''

''कालेज में तो और भी बहुत कुछ नहीं था''

''और था भी। वह प्रोफेसर ऊँचा-लम्बा खूबसूरत। क्या बाडी थी यार उसकी, हीमैन जैसी और क्या आवाज थी, सरकण्डें की सीटी जैसी, पी...पी...!''

''हम दोनों उसके पी. करते ही, उसकी आवाज की नकल किया करते थे।''

दोनों आँखों में आँखे डालकर शरारत में मुस्कुरायी। स्कूल का सिलसिला खत्म हो चुका था, अब कालेज की बारी थी। दोनों तन्मय होकर कालेज के दिनों को याद कर रही थीं। यूनिवर्सिटी के इलेक्शन स्ट्राइक्स, रैलियाँ, धरने, ड्रामा कम्पीटीशन, डिबेट, छोटी-बड़ी दिल्लगियाँ, दिलबिछोइयाँ और दिलटूटियाँ।

सुगन्धा बातें करे जा रही थी, लेकिन कोई एक चीज उसके दिल में बार-बार झंकार कर रही थी। क्यों वे दोनों, स्कूल की इतनी महत्त्वपूर्ण होनी की, कभी बात नहीं कर पायी थी। आज भी नहीं। दोनों ही उस भेद को जानती थीं, दोनों एक-दूसरे के दिल का हाल भी जानती थीं, लेकिन फिर भी दोनों ने कभी खुल कर एक-दूसरे के सामने उसका इक़रार नहीं किया। पन्द्रह-सोलह साल की कमसिन उम्र में पहले इश्क़ को जाहिर ना करना तो खैर समझ में आता है, लेकिन स्कूल के बाद कालेज के तीन सालों में भी कभी उसकी चर्चा नहीं करना हैरानी की बात थी। दोनों ही, जैसे एक अनकहे वादे से बन्धी रही। एक-दूसरे के दिल का हाल जानते हुए भी कभी हल्के भी उसका खुलासा नहीं किया, एक-दूसरे के सामने भी नहीं। आज कालेज के बाद की अन्तिम मुलाकात के बाइस साल बाद भी, दोनों उससे ऐसे तराकर निकल गयीं जैसे वह कोई शर्मनाक बात हो।

ताज़ी काफी में चीनी डालते हुए सुगन्धा ने वेटर की तरफ मुस्कराकर देखा और जया की तरफ़ पलटी। इतने दिन पत्रकारिता में उसने झक नहीं मारी थी। दूसरे के अन्तर को खंगोलकर, सच और साहित्य की डगर पकड़ी, तब यह समझते देर नहीं लगती कि सिर्फ दूसरों के झूठ का पर्दाफाश करने से काम नहीं बनता है। अपने सच का सामना करना भी उतना ही जरूरी है और यह अतीत तो उसका और जमा दोनों का सच था, जिसका सामना दोनों को ही करना चाहिए। एक सैंडविच उठाते हुए उसने पूछा ''अच्छा जया तुझे जीव याद है?''

''कौन जीव'' जया का जवाब फौरन आया था, मगर सुगन्धा ने उसकी आँखों में आई घबराहट और उन पर गिरते हुए पर्दे को देख लिया था।

''क्या बात कर रही है यार। जीव, वह स्कूल का सबसे बाँका लड़का, जो बारहवीं में था, जब हम ग्यारवीं में थे। जो सत्रह साल की उम्र में भी तकरीबन छह फुट का था।'' सुगन्धा वह सारी बातें कहे जा रही थी, जो वह जानती थी जया को भी याद है।

"हाँ, कुछ याद तो पड़ता है कि इस नाम का एक लड़का था। मेरे ख़्याल से कटलेट मँगवा लेते तो सैंडविच से अच्छे रहते। यह तो बासी ब्रेड के हैं।"

"बात ना बदल। आज इतने सालों के बाद, जब उसका वजूद कहीं भी हमारे आसपास नहीं है, तो हम कभी उसके वजूद के होने का इकरार तो कर सकते हैं। हमारी ज़िन्दगी इतनी तो स्थायी हो चुकी है कि हम अपने लड़कपन के इश्क़ पर हँस सकें।"

"इश्क! कैसा इश्क! मुझे उससे या किसी से भी कभी इश्क़-विश्क नहीं था। तुझे रहा हो तो अपनी बात कर।"

"हाँ भाई हमें तो था। मेरे लिए तो जीव वह था, जिसके लिए मेरे दिल ने, पहली बार धड़कना सीखा। क्या क्रिकेट खेलता था, हर डिबेट जीतकर आता था। उसी की वजह से तो उसका हाउस शील्ड ले जाता था। किस हाउस में था वह।"

"नालन्दा में!" जया के जवाब पर सुगन्धा ने भंवे ऊँचे करके अर्थपूर्ण नज़र से उसे देखा। जया ने कन्धे उचकाकर सफ़ाई देते हुए कहा, "अब तू इतनी बात कर रही है उसकी, तो कुछ तो याद आ ही जाएगा।"

"ज़ाहिर है! पहले इश्क की कुछ बातें तो सारी उम्र कसक मारती हैं। मुझे यह भी याद है कि हम कैसे उसे छुपछुपकर देखा करते थे, बारहवीं की लड़कियों से कैसे घुमा-फिराकर उसकी बातें किया करते थे। हाय, स्कूल यूनिफार्म में भी कैसा बाँका लगता था।"

"देख इश्क़ की कसक तो दूर; मुझे तो उसकी शक्ल भी ठीक से याद नहीं, हाँ तू जरूर उसके लिए आँहे भरती थी।"

"हाँ आल राउंडर था, लेकिन मुझे यह मालूम नहीं था कि तू उसकी ऐसी दीवानी थी सुगन्धा!"

"बेकार बातें ना बना। सारा स्कूल जानता होगा—हम उस पर मरते थे। हर चीज़ में ही हमारी पसन्द एक जैसी थी। पहला इश्क़ भी एक ही लड़के से होनालाज़मी ही था।"

"तू चालीस पार करके भी कैसी बेवकूफी की बातें करती है सुगन्धा!" जया ने उसे ज़रा झिड़कते हुए कहा।

"और चालीस पार करके भी तू कैसी सुलझी-सीधी बातें करती है। ऐसी बोर तू जवानी में तो नहीं थी।"

"जिस पर तू कहे, उस पर आशिक ना होना, बोर होना।"

"नहीं! लड़कपन के इन्फैच्युेशन से, बुढ़ापे की कगार पर आकर मुँह फेर लेना और मध्यवर्गीय शराफ़त की चादर ओढ़ लेना बोर होना है। हाय रे वह उसके नाम चिट्ठियाँ लिखना और ख़ुद ही उनका जवाब देना और छुप-छुपकर उन्हें पढ़ना। वह किसी लड़की से हँसकर बात करता हुआ दिख जाए तो उस लड़की सी तस्वीर बनाकर, उसकी नाक, आँख में पेन की निब या आलपिन चुभाना। उसके नाम के पहले अक्षर को अलग-अलग तरह से किताबों-कापियों के हाशिए पर लिखना। सब समझते मैं तुझसे कितना प्यार करती हूँ। हर किताब में बीसियों जगह 'जे' लिखा होता। अब

तो बस उस वक़्त की याद भर रह गयी है और रह गयी हैं गुलाम अली की गाई ग़ज़लें चुपके-चुपके क्या कर रही है जया?"

"अब चलना चाहिए... मुझे! इन्हें आज जल्दी घर आना है" जया खड़े होकर बैग उठाते हुए बोली।

"वह तो आना होगा ही। मुझसे जो मिलना है। कमाल है ना कि अपनी सबसे पुरानी और पक्की सहेली के 'उनसे' मैं आज तक नहीं मिली" सुगन्धा भी उठने लगी।

"नहीं-नहीं, तू अभी बैठ, काफ़ी खत्म कर ले। मुझे अचानक एक ज़रूरी काम याद आ गया है, इन्हें कहीं लेकर जाना है।" जया का पूरा हाव-भाव कुछ सकपकाया हुआ सा था।

"जया मैं तुझे इतनी अच्छी तरह से जानती हूँ कि तेरे सब बहाने समझ सकती हूँ। तू मुझे टालने की कोशिश कर रही है, पर यह तू खास अच्छी तरह छुपा भी नहीं पा रही है। वैसे तू मुझे क्यों टरका रही है?"

"नहीं, टरका नहीं रहीं मुझे इन्हें वाक़ई कहीं लेकर जाना है..."

"तेरी कोशिश बेकार है। मैं टरकने वाली नहीं हूँ। पन्द्रह साल की पत्रकारिता ने मुझे अच्छा-खासा झोंक बना दिया हैं और तू अपने पति को 'इन्हें' क्यों कहती है? हमने तो तय किया था कि अपने पतियों को नाम लेकर बुलाएँगे...हमारा 'लिबरेशन' स्टेटमेन्ट! खैर मैं तो अपने वाले को नवल ही बुलाती हूँ। तेरे वाले को मैं तो मुक्तेश बुला सकती हूँ ना या मिस्टर सम्पत कहना पड़ेगा" वह हँसती हुई बिल अदा करके उठी।

जया भी मुस्कुरायी और बोली, "उन्हीं से पूछ लेना, अभी थोड़ी देर में" उसने टरकाना छोड़कर अब मान लिया था कि सुगन्धा साथ जरूर जाएगी।

जया गाड़ी लायी थी। सुगन्धा ने उसमें बैठते हुए कहा, "ना जाने आजकल जीव कहाँ होगा? शायद कानपुर में ही किसी सरकारी दफ़्तर में क्लर्की कर रहा होगा।"

जया अपनी गाड़ी, पार्किंग से निकाल रही थी। जोर का ब्रेक लगाकर सुगन्धा की तरफ़ पलटी, "अब बस कर यह जीव-जीव का जाप सुगन्धा। अपने आज में लौट आ और दूसरों को भी उनके आज में जीने दे।" अजीब सा स्वर था, जिसको सुनने के बाद बहस का, मज़ाक का कोई रास्ता खुला नहीं रह जाता था। सुगन्धा चुप हो गयी और बाहर देखने लगी। जया की गाड़ी जब उसके घर के फाटक के बाहर जाकर खड़ी हुई तो अन्दर से एक सज्जन लपककर फाटक खोलते हुए बाहर आए—"आइये आइये। मोबाइल स्विच आफ़ करके पुरानी सहेली से बातें होती हैं कि हम कहीं डिस्टर्ब ना करें, सुगन्धा मैं मुक्तेश हूँ।" सुगन्धा ने गौर से उन्हें देखा। गदगदा शरीर, औसतन कद, गोरी रंगत, नहीं, मगर साँवली भी नहीं, मामूली नाक नक्शा, हँसमुख चेहरा, बहुत ज़हीन या तेज़ दिमाग़ तो नहीं, मगर शातिर और बेईमान भी नहीं लगे। सुगन्धा ने हाथ-जोड़े और बोली, "आपने तो बड़े तपाक से सुगन्धा कह डाला, मगर मैं समझ नहीं पा रही हूँ कि आपको क्या बुलाऊँ।"

"क्यों? आपको मेरा नाम अभी तक मालूम नहीं हुआ?" वह अपनी मज़ाक पर खुद ही ज़ोर से हँसे।

"दरअसल सारी मुश्किल जया की पैदा की हुई है।" सुगन्धा कमरे में आकर सोफ़े पर बैठते हुए बोली, "यह तो आपको 'इन्हें, उन्हें' बुलाती है, इसी के कारण मैं असमंजस में पड़ गयी हूँ।"

"अरे कहाँ? जया तुमने अपनी अच्छी सहेली को बताया नहीं तुम मुझे क्या बुलाती हो? हुआ क्या सुगन्धा कि मैंने भी ज़िद पकड़ ली कि मेरा नाम लो। इनसे ना तो मेरा नाम लेते बना, ना मेरी बात को अनसुना ही कर पायी। तो इन्होंने मेरा दोबारा नामकरण कर डाला। इनका पत्नी धर्म भी बच गया और मेरी बात भी रह गयी। जया, बता दूँ तुमने क्या नाम दिया मुझे?" वह छेड़ते हुए पूछ रहे थे।

जया के चेहरे पर एक रंग आता, एक जाता था। उसकी यह हालत देखकर सुगन्धा बोली, "जाने दीजिए, शायद जया को बुरा लगे।"

"क्यों, बुरा क्यों लगेगा। भई अलग नाम तो इन्सान अपने सबसे क़रीबी को देता है। इतने प्यार का कभी-कभार प्रकट होना भी तो जरूरी है। कम से कम अपनी सबसे प्यारी सहेली को तो बताना ही चाहिए। वैसे नाम ज़रा अजीब है, मगर मुझे बहुत पसन्द है।" वे शरारत से मुस्कुरा रहे थे और अपने ही अन्दाज में जया को चिढ़ा रहे थे।

"मैं ज़रा अन्दर कपड़े बदलकर आती हूँ" जया अन्दर जाने लगी तो उन्होंने हँसते हुए सुगन्धा से कहा, "अब शरमा रही है। भला आपने इस उम्र में भी किसी को पति से लजाते सुना है। नहीं जाओ मत, पगली कहीं की" उन्होंने उठकर उसके कन्धे पर हाथ रखकर रोका और फिर अपने क़रीब सिमटाते हुए बोले, "यह मुझे जीव बुलाती है।"

एक घण्टा कैसे गुज़रा, क्या बातचीत हुई, आगे का क्या तय हुआ, सुगन्धा को कुछ याद नहीं! अपने घर पर ऑटो से उतरते हुए उसने पैसे देने को बैग खोला तो नोटों के साथ मुक्तेश और जया का विजिटिंग कार्ड भी उसके हाथ में आ गया। पैसे देकर, ऑटो के चले जाने के बाद भी वह कॉफी देर तक हाथ में लिए खड़ी रही। फिर एक गहरी साँस भरकर उसने कार्ड फाड़ डाला और अन्दर चली। कुछ राज तो ऐसे होते हैं, जिन पर पर्दा पड़ा रहे तो रिश्ता बना रहता है, पर्दा खुल जाए तो जो नंगापन सामने आता है, उसको सह पाना रिश्ते के लिए नामुमकिन होता है। नज़रें अपने आप ही झुक जाती हैं, दूसरी तरफ़ मुड़ जाती हैं। सुगन्धा जानती थी कि अब वह कभी जया से जानी-पहचानी सहेली की तरह नहीं मिल पाएगी। उसने उस राज का पता पा लिया था, जिसका इक़रार शायद जया ने खुद अपने आप से भी नहीं किया था। ऐसे छुपे हुए राज़ को फ़ाश करने का दाम तो सुगन्धा को चुकाना ही पड़ेगा।

❑

विभा रानी



बर्फ की खुमारी

शाम की लाली कपड़े पर से उतरे कच्चे रंग की तरह फैल गयी थी। एक अजीब सा अवसाद, भयानक सा सोग और चरम तक पहुँचा उन्माद माहौल पर जमकर उसे पत्थर की चट्टानों से भारी बना रहा था। जीवन के चटकते, चमकते रंग में सोग का रंग इतना बदरंग, बिखरा, फटा और कांटों से भरा क्यों होता है? यह प्रश्न उसे निरन्तर सालता रहता।

जीवन है तो मृत्यु है और मृत्यु एक सनातन सत्य है। बावजूद इसके, अपने जीवन की रक्षा का यह कैसे आपद्धर्म है? कैसी उत्तेजना छाती है तन-मन में अपने जीवन को बचाने के लिए! कैसा खेल चलता है अपनी आसन्न मृत्यु से बचने के लिए और इस बचने-बचाने की प्रक्रिया में दूसरों को मौत की गोद में धकेले देने के लिए? जीवन और मृत्यु के इस अन्तराल में रह जाता है अधधुला, अधबुना, अधमिला अवसाद जीवन के संग-संग मृत्यु का भी।

सोग और अवसाद से जीवन पके घाव में भरे मवाद की तरह टीसने लगता हैं यह अवसाद उसे अपनी जकड़न में ले लेता है। वह समझ नहीं पाती कि नियति क्यों उसके साथ ऐसा कर रही है? कैसा है यह मजाक कि जिसमें आँखें गीली हो जाती हैं, दिल भर आता है, होंठ सूखते रहते हैं, मन में काँटे उगते रहते हैं। एक जीवन मिलता तो है, मगर लगे हाथों दूसरा जीवन छिन जाता है।

यूँ भी हँसी-खुशी का सुकन्या से बैर का रिश्ता रहा है। उसका जन्मदिन कभी

नहीं मनाया जाता। उसे जन्म देकर उसकी माँ विदा हो ली थी- उसी समय, उसी दिन पापा ने दूसरा ब्याह नहीं किया, मगर कभी उसे कलेजे से लगाया भी नहीं। उसके जीवन के हर हिस्से पर तभी से बर्फ जमनी शुरू हो गयी। कभी-कभी इस बर्फ को हटाने के लिए वह पापा से लाड़ लड़ाने की कोशिश करती, ''पापा। चलो न मेरे साथ मार्केट। मुझे पेंसिल लेनी है, या फिर बैग लेना है या फिर जींस लेनी है।'' पापा उसे पैसे दे देते, मगर न तो उसके उत्साह पर कोई उत्साह दिखाते और न उसके साथ कहीं आते-जाते ही। उसका मन करता कि वह उनसे खूब-खूब बोले, खूब-खूब लड़ाई करे, मगर इन सबके बदले वह केवल रो पड़ती, ''बताओ न पापा, इसमें मेरा क्या कसूर? ज़रा मेरी भी तो सोचो। सभी बच्चे अपने मम्मी-पापा के साथ रहते हैं, खेलते हैं, घूमते-फिरते हैं, बाजार जाते हैं, चीजें दिलाने की जिद करते हैं। मेरा भी तो मन करता है, मगर मैं किसके साथ यह सब करूँ?'' मगर वह पाती कि पापा बर्फ़ का अडिग पहाड़ बनकर खड़े हैं, जो न तो पिघलता है, न जिस पर धूप की किरणें नाचती हैं, न जिस पर सरसों या चम्पा फूलते हैं।

सुकन्या अपना सारा ध्यान पढ़ने में लगा देती है। शायद उसकी पढ़ाई से, उसके अव्वल आने से उसके पापा के दिल में जमी वह भारी-भरकम बर्फ पिघले। दादी बताती हैं कि उसकी माँ बहुत अच्छी थी, खूब लिखती-पढ़ती रहती थी। बड़ी होने पर सुकन्या ने माँ के बक्से-अलमारी खोले तो उसे मिली ढेर सारी साड़ियाँ, इतनी सुन्दर और इतनी अलग हटके कि मुंह से वाह निकल आए। तो इतनी सुरुचि-सम्पन्न थी उसकी माँ? उसे अपनी माँ पर गर्व हुआ। उसका मन हुआ कि काश उसकी माँ सामने होती तो वह उसकी गोद में समा जाती या वह खुद ही मां को चूम लेती।

और भी चीजें मिलीं— कहानियों की फाइलें— पूरी, अधूरी, एक पैराग्राफ लिखीं, किसी में शीर्षक, किसी में नहीं। एक कागज पर भविष्य में लिखी जाने वाली कहानियों के शीर्षक। वह भी तो एक शीर्षक भर है, जिसके कागज पर माँ ने कुछ लिखा ही नहीं। लिखने के लिए विधाता ने उसके पास संयम ही नहीं दिया। दादी ने बताया था कि उसको जन्म देने के तुरन्त बाद माँ को जोर का पीलिया हो गया था। डॉक्टर जब तक समझते, सम्भालते, इलाज की तजबीज़ करते, तब तक तो सारा माज़रा ही ख़त्म हो चुका था।

माँ उसके जीवन के पन्ने पर कुछ लिखने से पहले ही सिधार गयी और पापा ने कभी कुछ लिखना नहीं चाहा। पूरा का पूर पन्ना कोरा का कोरा ही रह गया सुकन्या का। अब वह लिखना चाहती है, मगर कैसे लिखे? कोई सहारा तो चाहिए। कोई तो सम्भालने वाला चाहिए उसे। अभी तो वह इतनी बड़ी भी नहीं हुई है कि अपने से ही सब कुछ कर ले। फ़िर भी वह हिम्मत करती है और लिख डालती है चन्द सतरें। दिखाती है पापा को, अपने वही पुराने उछाह से, उत्साह से, मगर

पापा की डाँट उसे सहमा देती है, ''किसने कहा यह सब लिखने को? इस घर में कभी कोई कविता-- कहानी के बारे में सोचेगा भी नहीं।''

और अब? अब कोरा पन्ना भर चुका है। अब वह ब्याहता है, किसी की पत्नी। पापा ने अपने तईं सबसे अच्छा लड़का पसन्द किया है- सुन्दर, स्मार्ट, मेधावी, कॉलेज का टॉपर, मेडिकल का अव्वल-- डॉ ईश्वर प्रसाद। सभी की जुबान पर एक ही बात कि ''काश, आज इसकी माँ होती।''

सुकन्या को भी लगा कि काश आज माँ होती। पता नहीं, ससुराल जाती बेटी को वह क्या-क्या सीख देती, क्या-क्या कहती, क्या-क्या समझाती? दादी बार-बार आँचल आँखों पर ले जाती। उसे पता है, दादी माँ को बहुत चाहती थी। अभी वह उसकी ही याद कर के रो रही है। उसके लिए अब तो दादी ही उसकी माँ थी, उसकी सखी-सहेली थी। दादी ने भरे गले से कहा था, ''अब अपनी जिन्दगी में ख़ुशी और हँसी के फूल खिला। झाड़ दे बदन से बर्फ के सारे बुरादे। हो जा बिल्कुल हल्की फूलों की पँखुड़ियों जैसी। खुशियाँ तेरे कदमों को चूमे। दुःख की हल्की आँच भी तुम पर ना पड़े। सुख के आँचल तले किलकती रहो हमेशा।''

काश कि ऐसा हो गया होता, मगर अब तो जन्म से जमती आ रही बर्फ अब भारी-भारी सिल्लियों में बदल गयी। इतनी भारी सिल्लियों में कि सुकन्या चाहकर भी पिघल नहीं पाती और डॉक्टर प्रसाद चाहकर भी उसे पिघला नहीं पाते। ना, डॉ. प्रसाद नहीं, ईश्वर... एक ऐसा फूल, जिस पर ओस की ताज़गी हमेशा बनी रहती। वे उसे अपनी चाहत की खूब-खूब गर्मी पहुँचाना चाहते, इतनी कि सारी की सारी बर्फ पिघल कर पानी का अनन्त दरिया बन जाए। वे इतने कस कर उसे भींचते कि उनकी भिंची बाँहों में उसकी साँसें अटक-अटक सी जातीं। सुकन्या भी अपनी चाहत को झरने की ऐसी ही कल-कल बहती धार बनाना चाहती, मगर वह तो हिमालय की अनन्त बर्फ में परिवर्तित होती चली जाती—ठंडी, सीली, सख्त, सफेद। डॉ प्रसाद कारण पूछते, सुकन्या कुछ भी नहीं बता पाती। बस केवल जर्द-सर्द पड़ी रह जाती। डॉ प्रसाद कभी-कभी खुद भी बर्फ बन जाते। बर्फ की बर्फ से टकराहट होती, ''मैं ऐसे नहीं रह सकता।''

''मैं कोई मदद नहीं कर सकती।''

पर यह सब केवल कहने की बात होगी। सुकन्या एक बेहद अच्छी लड़की की तरह मदद करना चाहती। सारी बर्फ पिघलाकर खौलता लावा बन जाना चाहती, मगर हर बार पापा का सख्त चेहरा सामने आ जाता। बचपन से अब तक के गुजारे सर्दीले, बर्फीले दिन याद आ जाते। खौलने को आतुर लावा भाप में बदल जाता और भाप बर्फ में। डॉ प्रसाद भी गर्म खौलते पानी से वाष्प और वाष्प से बर्फ बन जाती। इधर मन का मीठापान फीकापन में तब्दील हो जाता। अपना या रासायनिक-भौतिक परिवर्तन उनकी भी समझ में नहीं आता कभी-कभी।

और एक दिन सुकन्या ने सचमुच बर्फ पिघलती महसूस की, लेकिन उस पिघलन

में आनन्द का स्वर्गीय उछाह नहीं, हड्डी के भीतर तब बेध देने वाले भाव के बल्लम और बर्छे छुपे हुए थे।

''ये क्या? क्यों?? किसलिए???'' अनागत के आगमन की तरह घर में मौजूद राइफल को देख वह सिर के पाँव तक काँप गयी थी। यह कम्पन उसकी आवाज़ में भी बदस्तूर कायम था।

''तुम्हारे भेजे में जो बर्फ जमी है न, उसे इससे पिघलाऊँगा।'' डॉ प्रसाद हँसे। पता नहीं क्यों, सुकन्या को वह डॉ. प्रसाद की नहीं, किसी पक्के धूर्त और निहायत ही शातिर की कमीनी हँसी लगी। उसे लगा कि डॉ प्रसाद उसके सीने पर राइफल टिकाए धाँय-धाँय गोलियाँ दाग रहे हैं।

''हटाइए इसे। यह घर में नहीं रहेगी।''

''घर में तो यह रहेगी ही रहेगी। अरे भई, लाइसेंस्ड है, बिल्कुल तुम्हारी तरह।''

''तो फ़िर अलमारी में रख दो। सामने मत रखो। मुझे इसकी कल्पना से भी डर लगता है।''

''कोई चोर-डकैत आया तो हमें क्या वह इतना वक्त देगा कि हम अलमारी खोलें, कारतूस निकालें, इसमें लोड करें और फिर गोली चलाएँ? यह तो यहीं रहेगी। मेरे पास, लोडेड।''

''किसी की बलि लेकर जाएगी यह खूनी आत्मा यहाँ से।''

''बेकार की रूढ़ियों में ना पड़ो।'' डॉ. प्रसाद ने चेतावनी दी और बढ़ गये अपने बार कैबिनेट की तरफ।

फिर तो यह रोज का नियम हो गया। सुकन्या के ऊपर बर्फ की सिल्लियाँ जमती चली जातीं और राइफल की धाँय-धाँय से पूरा क्या, पूरा मोहल्ला थर्रा उठता। बाद में मोहल्ला तो इस आवाज़ का अभ्यस्त हो, आश्वस्त हो गया, मगर सुकन्या कभी आश्वस्त या भयरहित नहीं हो सकी। आतंक की बर्फ की नयी-2 सिल्लियाँ उसके बर्फीले शरीर को और भी बर्फीला बनाने लगीं।

''इसे कहीं और क्यों नहीं रख देते? मुझे सचमुच इससे बहुत डर लगता है।'' सुकन्या चादर में खुद को ढँकती बोलती।

वे ठहाका लगाते, ''मैं भी तो तुम्हारे बर्फीले जिस्मों-जाँ से बहुत खौफ खाता हूँ मेरी जान।''

''मजाक नहीं, प्लीज!''

''ईश्वर कभी किसी से मजाक नहीं करता। तुमसे तो बिल्कुल ही नहीं।'' और स्वर की गम्भीरता के साथ एक बार फिर धांय का डरावना स्वर निस्तब्ध वातावरण में दूर-दूर तक फैल गया।

क्या करे सुकन्या? शादी के पहले वह निरन्तर मौन और अवसाद के साये में लिपटी जीती रही। अब आतंक और डर के साये में जकड़ी जीती है। बर्फ की सिल्लियाँ टूटते ना टूटते भी उस पर समय के प्रभाव से दो फूल खिल ही उठे। उसके

आतंक और खौफ का दायरा और बढ़ गया। अब तो वह राइफल इन मासूम फूलों पर ही तन जाती, जैसे सुकन्या के पापा की बड़ी-बेधक आँखें उस पर तन जाती थीं, मगर उससे मन मरता था तो मरता था, जान तो नहीं जाती थी। इसमें तो जान के ही जाने का खतरा हैं और फिर जब जान ही नहीं तो कैसा मन, कैसा तन!

सुकन्या चीख उठी। उसकी चीख से मुंडेर पर बैठी गौरैयाँ फुर्र से उड़ गयी। बर्फीला शरीर पसीने से नहा उठा। आवाज में घिग्घी बँध गयी। बेटे पर दुनाली तनी हुई थी। डॉक्टर की हँसी माहौल को हल्का बनाने के बजाय और भारी बना रही थी, ''बोल, गोली मार दें? मार दें गोली?''

बाप और बन्दूक का दुहरा डर बच्चे से 'मम्मी' भी नहीं उगलवा पा रहा था। उस दिन सरस्वती पूजा थी। पूरा शहर 'वीणा पुस्तक रंजित हस्ते, भगवति भारति देवि नमस्ते' के जयघोष में डूबा हुआ था। पढ़ने और न पढ़ने वाले सभी बच्चों के चेहरों पर खुशियों के लाल-पीले तार खुल-फैल रहे थे। आज तो विद्या की देवी की पूजा है। आज पुस्तकें उनके सामने रखकर आशीष माँगा जाता है। आज पढ़ाई नहीं। आज तो केवल मस्ती-बसन्त पंचमी की मस्ती। बसन्त पंचमी के मौसम की गुनगुनी बयार फिजां में एक खुनक घोल रही थी। पीले कपड़ों में लिपटी लड़कियाँ, औरतें सरसों के फूल की तरह खिली-निखरी दिख रही थीं। लाल, नीले हरे गुलाबी रंग के गुलाल से लोग सिर से पाँव तक सराबोर थे। गुलाल का नशा सबकी पलकें बोझल बनाए हुए था। बूँदी और चूरन का प्रसाद सभी के पेट में लाड़-प्यार की मीठी-मीठी लोरियाँ गुनगुना रहा था।

सुकन्या कमरे से जब निकली थी, राइफल की उस समय साफ-सफाई चल रही थी और अभी जब वह दुबारा कमरे में आयी तो एकदम से हदस गयी। राइफल बेटे के सीने में धँसी हुई थी। डॉक्टर के चेहरे पर बच्चे को चिढ़ाने-खिझाने वाली हँसी फ़ैली हुई थी, ''मार दें गोली? गोली मार दें?''

''ये क्या कर रहे हो? हटाओ इसे वहाँ से?''

''मजाक! खाली है। गोली नहीं है।''

''फिर भी बच्चा है। देखो, डर से कैसा पीला पड़ गया है।''

''डर मिटाने के लिए ही तो कर रहा हूँ।''

''डकैत बनाना है क्या इसे?''

''नहीं। पुलिसमैन! हटो तुम यहाँ से!''

''नहीं, तम इसे हटा लो यहाँ से, प्लीज!''

सुकन्या काँपती रही। डॉ. प्रसाद बच्चे और बन्दूक दोनों से खेलते रहे–''चला दें बन्दूक? मार दें गोली?''

कि धाँय की आवाज़ सरस्वती पूजा के सभी पंडालों तक गूँज गयी। सभी पंडाल के सूखे गुलाल अचानक गीले हो उठे। शाम का धुँधलका फैल रहा था। पंछीगण अपने-अपने ठिकानों को लौट रहे थे। दिन भर सरस्वती पूजा के पंडालों क चक्कर

लगाने वाले भी अब देवी की संझा-आरती के लिए अपने-अपने ठियों को लौट रहे थे कि इस धाँय ने सबके जीवन को व्यतिक्रम से भर दिया। धाँय की आवाज से जब तक सुकन्या कुछ समझ-बूझ पाती, बेटा उछलकर दूर की दीवार से जा टकराया और फिर जमीन पर चारों खाने चित्त गिर पड़ा।

अब? अब क्या? इतना नाम, इतना रसूख, इतना पैसा किस दिन के लिए है और क्योंकर है? केस तो बनेगा, मगर दूसरे तरीके से। रिपोर्ट लिखी जाएगी, मगर दूसरे तरीके से और लो, रिपोर्ट लिख भी दी गयी, ''बच्चा राइफल से खेल रहा था, अचानक नली अपनी तरफ़ करके ट्रिगर दबा बैठा।'' अब यह कौन-कौन सोचे कि चार वर्षीय बच्चे की इतनी बड़ी औकात कि वह राइफल को उठा ले, उसकी साफ़-सफाई करने लगे, उसकी नली अपनी तरफ़ कर ले और ट्रिगर भी दबा ले? मगर यह रसूख का खेल था और उस खेल में डॉक्टर प्रसाद जीत गये थे। जान तो बच गयी थी, आत्मा की बाद में सोची जाएगी।

अचेतन और सचेतन की बीच सुकन्या झूल रही थी, डॉ. प्रसाद भी झूल रहे थे। कुछ भी तो सोचा-समझा हुआ न था। हर बात की तरह उस दिन भी राइफल की साफ़-सफाई हो रही थी। सफ़ाई करते-करते शरारत सूझ गयी थी डॉक्टर प्रसाद को। बेटे पर बन्दूक तान दी थी। मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए कह रहे थे—''चला दें बन्दूक?'' मार दें गोली?'' वे बेहद आश्वस्त थे गोली तो निकाली हुई है, पर अब लगा कि नहीं, शायद निकालनी रह गयी थी, तभी तो...

सुकन्या हर रात खून से लबालब नदी देखती। नदी में खुद को डूबा पाती। नदी के बीच से एक नन्हा सिर निकलता, नन्हें-नन्हें हाथ-पाँव निकलते। एक बारीक, महीन सी आवाज़ निकलती, ''मम्मी'' और वह सिर, वे हाथ-पैर उसकी ओर बढ़ने लगते। वह पसीने से भीग जाती। हलक सूख जाता। वह उठना चाहती, पानी पीना चाहती, मगर उठने की कोशिश में देह पर चादर के बदले बर्फ की सिल्लियाँ बिछी पाती। गिलास भरती तो गिलास पानी से नहीं, खून से भरा मिलता। डर से वह थर-थर काँपने लगती। सहारे के लिए बगल में सोये पति को देखती, जहाँ से खर्राटें की आवाज़ आ रही होती। वह मन ही मन हैरत जताती—कितना निश्चिन्त सोया हुआ है यह? कैसे कोई इतने आराम से सो सकता है अपने ही बेटे का खून करके?

तो क्या वे सचमुच निश्चिन्त है? शायद। उससे भी बढ़कर बुलन्द है हौसला। बन्दूक का निशाना और उससे बच निकलने की रसूखी सूझ से बढ़ा हौसला। राइफल अब भी सिरहाने रखी रहती। सुकन्या को लगता, यह राइफल उनके सिरहाने नहीं, बल्कि उन दोनों के बीच में है—एक अविजित, अविभाजित दीवार की तरह। एक अजानी सौत की तरह, जो जब-जब उनके बीच से उठकर उसके सीने पर चढ़ जाती है। वह भय से दुहरी-तिहरी हो जाती। आँखों की पुतलियाँ फैल जातीं। आँखों में अजीब से लाल डोरे तैर उठते। फिर वे सबकी सब तेजी से जमती बर्फ में बदलते जाते। बर्फ की सिल्लियाँ-दर-सिल्ल्याँ उसके ऊपर चढ़ती चली जातीं। इतनी कि उसकी

जबान, हलक तक में बर्फ जम जाती। उसके मुँह से ''गों...'' तक की भी आवाज नहीं निकल पाती।

आतंक तले ही तो जीती आयी है सुकन्या। पहले पिता का आतंक और अब पति का। आतंक के बीच प्रेम की फूहियाँ भी बरसतीं रहीं कभी-कभी, जब दादी कहतीं, ''ये ले, पापा ने पैसे दिये हैं, कपड़े खरीद लेने के लिए।'' सुकन्या का मन रोता, ''पापा, ये पैसे तुम खुद मुझे नहीं दे सकते थे?'' पति पूरी कमाई लाकर धर देता हाथों में, ''चाहे जैसे खर्च करो। मुझे कुछ हिसाब-किताब नहीं चाहिए और हाँ, अब मुझे तँग मत करना। तुम जानो, तुम्हारा घर और इसके खर्च जाने।''

प्रेम की फुहियाँ इधर भी बरसतीं, जब कभी-कभी डॉक्टर प्रसाद कहते, ''चलो, आज कहीं बाहर खाना खाते हैं'' या ''आज सिनेमा देखने जाते हैं।'' मगर इन सबके बीच में सुकन्या कभी भी सहज नहीं रह पाती। उसे इस बात का भरोसा नहीं रहता कि कब किस बात पर वेटर से झगड़ा हो जाएगा या बगल में बैठे दूसरे दर्शक से बहस। वह तभी तस्कीनी की साँस ले पाती, जब सकुशल, बिना लड़े-झगड़े घर वापस आ जाती है।

आखिर क्या कमी थी पिता में या पति में? कुछ भी तो नहीं। सोच-विचार की आँधी चलती रहती है। इस आँधी के झोंके में वह बार-बार अपने अतीत में पहुँच जाती है। आखिरकार माँ की मौत का जिम्मेदार उसे क्यों मान लिया गया? पिता क्यों एक तपस्वी का जीवन जीते रहे?

और अब पति? पिता की पसन्द, जैसे पिता की ही परछाई। नौजवान, खूबसूरत, अच्छे नाम वह रसूखवाले डॉक्टर, अच्छा नाम, अच्छी कमाई। क्या थे तो बाल-विशेषज्ञ। माता-पिता अपने बच्चे अपने बच्चे को बाँहों में उठाये घंटों उनके आने की प्रतीक्षा में काट देते। डॉक्टर साब की एक उड़ती नजर भी बच्चों पर पड़ जाए तो बच्चा जी उठता हैं अन्धविश्वास की हद तक का विश्वास।

नेकनामी दुश्मन भी बहुतेरे बनाती है। डॉ. ईश्वर प्रसाद के भी दुश्मन गुलाब में काँटे की तरह उग आये। चाइल्ड स्पेशलिस्ट डॉ. ईश्वर प्रसाद और ड्रग माफिया के बढ़ते हाथ, ''आप यह दवा प्रेसकाइब करना शुरू कर दीजिये डॉ. प्रसाद।''

''हर्गिज नहीं। देखिए, इस दवा से बच्चे के शरीर में बहुत से एब्नॉर्मल ग्रोथ होने लगेंगे। कई तरह की बीमारियाँ उसे लगेंगी। उनकी डेथ भी हो सकती है। मुझसे नहीं हो पायेगी इतने बच्चों की हत्या।''

''अपने बच्चे की हत्या?'' डॉ. प्रसाद और सुकन्या फिर-फिर खून के दरिया में उभ-चुभ होने लगते। फर्क यह था कि सुकन्या को केवल एक शिशु-मुंड दिखाई देता, जबकि डॉ. प्रसाद को बच्चे ही बच्चे। उनके कटे हाथ-पैर, सूजे चेहरे, बाहर को निकल आई आँखें। वे घबड़ा उठते। खून से भीगा बेटे का शरीर याद आ जाता। जिस मोटे बिस्तर पर उसे सुलाया था, वह आर-पार दोनों तरफ से खून से चप-चप हो गया था। बिस्तर के काठ तक फैला चपचप करता खून। यह खून तो केवल

एक बच्चे का था। उनके अपने बच्चे का। उसका बोझ तो वह सीने पर ले कर चल सकते हैं। चल सकते हैं क्या, चल ही रहे हैं, मगर यहां तो बच्चे ही बच्चे, गद्दे ही गद्दे, बिस्तर ही बिस्तर—खून से भरा, खून से चपचप। वे घबड़ा उठते। अपने बेटे का नुकसान तो सह ही रहे हैं, मगर दूसरों के बच्चों के खून का इल्ज़ाम, कहाँ तक और कितना तक ढोएँगे! कितने दिनों तक चलेगा यह सब? और जिस दिन सबको पता चलेगा, उस दिन पब्लिक क्या उन्हें जीवित छोड़ देगी? देवता की तरह पूजे जाने वाले डॉक्टर प्रसाद लोगों की नफ़रत भरी आँखों की ज्वाला कैसे सहन कर पायेंगे?

कैसे विरोधाभास से भरा था डॉक्टर प्रसाद का जीवन? एक ओर अपने मरीज बच्चों के लिए इतने सामाजिक, इतने जिम्मेदार और दूसरी ओर उतने ही शुष्क और सख़्त- सुकन्या के लिए। आज सुकन्या फिर से बर्फ हो आयी। कॉलेबेल बजा और दरवाजा खोलते-ना खोलते पाँच-छह लाग झपटकर भीतर घुस आये, ''समझा लीजिये अपने डॉक्टर को। अपनी जान और हमारे ईमान से ना खेलें। हम हर काम पूरी ईमानदारी से करते हैं। हमें यह पता है कि आप ऑपरेशन करवा चुकी हैं। बेटा तो अब नहीं ही रहा। एक बेटी है। छोटी है, मगर विदेशियों में कम उम्र की लड़कियों की बड़ी डिमांड रहती है। हमें पता है, आपको बिल्कुल अच्छा नहीं लगेगा उसकी सप्लाई, मगर अपन भी क्या करें? मजबूरी है।''

क्रोध से सुकन्या की जबान लटपटा गयी। शब्द आधे बाहर, आधे भीतर रह गये। वे सब जैसे घुसे थे, वैसे ही दरवााज खोलकर बाहर निकल गये। बेटी स्कूल से लौट रही थी। रास्ते में टकरा गयी उन सबसे। एक के मुँह से निकला, ''बच्ची है, पर अच्छी है।''

दूसरा बेशर्मी से बोला, ''बीएचएमएच।''

तीसरा बोला, ''ये कोड वर्ड भाभी जी की समझ में नहीं आयेंगे। बच्ची भी समझ नहीं पायेगी बिचारी। तू ज़रा समझा दे इसका फुल फार्म।''

चौथा बगैर किसी लाग-लपेट के उतनी ही ढिठाई से बोला, ''बीएचएमएच, मतलब, बड़ी होगी, माल होगा।''

सुकन्या बेटी को जकड़ कर बैठ गयी, ''तुम कहीं बाहर नहीं जाओगी। घर में ही बैठकर पढ़ाई करोगी।'' वह डर के मारे थरथरा रही थी, बड़बड़ा रही थी, फिर वह बेहोश सी हो गयी। अंग-प्रत्यंग पर डर की बर्फ ने कसकर डेरा जमा लिया।

डर की बर्फ से उसके जबड़े जकड़ गये। बमुश्किल जबड़े की हड्डियों को हिला-हिला कर नर्माने की कोशिश की। किड़िक-किड़िक की आवाज के साथ जबड़े तनिक हिले। बर्फ थोड़ी चूर हुई, थोड़ी पिघली। डॉक्टर प्रसाद के आने तक वह वैसी ही सुन्न-सी बैठी रहीं उन्हें देख कर वह थोड़ी चैतन्य हुई। उसके मुँह से निकला, ''आज वे लोग घर पर आये थे। धमका गये हैं। बिटिया के लिए भी ऊल-जुलूल बोल गये हैं।''

''बोलने दो।''

''मगर...।''

''मगर-वगर कुछ नहीं वे माफ़िया वाले हैं। उनका काम ही है लोगों को डरा-धमका कर अपना उल्लू सीधा करना।''

''मगर यह तो अपनी बेटी का सवाल है, उसकी जिन्दगी, उसकी और अपनी इज्ज़त।''

''सब ठीक हो जाएगा।''

''पर कैसे?''

''कहा न कि सब ठीक हो जाएगा। अब ज्यादा बहस नहीं। ज्याद बोलोगी तो तुम्हें भी उड़ा दूँगा।''

यह कैसी वहशत है? एक ओर जिम्मेदारी का इतना शदीद अहसास कि अपनी व परिवर की जान के खतरे के बावजूद नोक भर भी झुकना नहीं और दूसरी ओर इतनी वहशत कि किसी की जान जाने की भी परवाह नहीं? पर नहीं वह गलत है। किसी और की जान की नहीं, बस सुकन्या की जान की उन्हें कोई परवाह नहीं। वरना उसके इस डर से उनका कोई सरोकार नहीं? उसके इतना मना करने के बावजूद राइफ़ल अभी तक घर में ही पड़ी रहती? बेटे की बलि लेने के बाद भी उसे अपने से अलग नहीं करते? आखिर उसके जिस्म-ओ-जां में बसी बर्फ को पिघलाने का यह कैसा वहशियाना तरीका है? बस, उठे, लहराई राइफल उसकी ओर और फिर वही पुराना संवाद, ''मार दूँ गोली? बोलो, गोली मार दें?'' क्या इससे उसके तन और मन पर बिछी बर्फ की चादर उतर जाएगी?

सुकन्या ने एक सीमा रेखा खींच ली अपने लिए। ना, एक तो चला गया घर से, अब दूसरी जान नहीं जानी चाहिए, चाहे दूसरी जान के रूप में वह खुद ही क्यों न हो? जान तो इधर डॉक्टर की भी खतरे में थी। माफिया का दबाब लगातार बढ़ रहा था। कहीं ऐसा न हो कि शदीद पेरशानी में गोली खुद पर। वह एकदम से झुरझुरा गयी। बर्फ की ठंडी लहर उसके पूरे बदन में दौड़ गयी।

अबकी फिर से तेज़ कँपकँपी छूटी सुकन्या को। अपने घेरे में ही कैद सुकन्या जोर से छटपटायी—अपने ही घेरे से भागने के लिए। तड़-तड़ाक, चिट-चटाक की आवाज़ के साथ बर्फ की दीवारें टूट रही थीं। मने के कोने में एक अँगीठी सुलग आई थी। उसकी मद्धम आँच में पिघल रही थी बर्फ कि भड़ाक से दरवाजा खुला। इतनी जोर से कि अँगीठी के कोयले मन्द पड़ गये और बर्फ की टूटती सिल्लियाँ फिर से जम गयीं।

डॉ. प्रसाद खौलते-बौखलाते घर में घुसे - ''ठीक है, जो मन हो कर लो, मगर मैं यह दवा बच्चों को हर्गिज-हर्गिज प्रेस्क्राइब नहीं करूँगा।''

दरवाजा पूरा बन्द नहीं हुआ था। डॉ. प्रसाद के पीछे-पीछे तीन-चार और लोग थे, ''भाभी जी नमस्ते! जरा भाई साहब को समझाइए। अभी आपके सिन्दूर लगाने, कपड़े-गहने पहनने के दिन हैं। खेलने-खाने के दिन हैं। अभी तो हनीमून की भी

उम्र नहीं बीती है आप लोगों की। ऐसे में आपकी सूनी माँग किसी को अच्छी लगेगी क्या?''

डॉ. प्रसाद दहाड़े, ''निकल जाओ यहाँ से! मैनें जो कह दिया सो कह दिया।''

''हमारी इतनी बड़ी पूँजी?''

''इतना बड़ा बिजनेस?''

''मुझसे कह कर शुरू नहीं किया था न!''

''जी। सही कह रहे हैं आप, लेकिन कर सही नहीं रहे। आप इस इलाके के भगवान हैं। इसलिए आप जब यह दवा उन्हें प्रेस्क्राइब करेंगे तो लोग भगवान के प्रसाद की तरह उसे ग्रहण करेंगे। कहीं से किसी को शक भी नहीं होगा। हमारा और आपका कारोबार इसी तरह चलता रहेगा, बल्कि फलता-फूलता रहेगा।''

''भगवान बनकर शैतान का कम करूँ? उनके विश्वास को नोंच कर फेंक दूँ? उनके बच्चों को अकारण मौत के मुँह में झौंक दूं?''

''मुनाफे में आपका बराबर का हिस्सा।''

''बच्चों की लाश पर चढ़कर मुनाफा खाने से बेहतर है खुद को गोली मार लेना।''

''अरे, रे, रे, रे, रे, रे, रे, ...! यह नेक काम आप क्यों करेंगे? हम लोग इतने निकम्मे और काहिल थोड़े न हैं, सोच लीजिये दो दिन और। भाभीजी, समझाइये इन्हें। आप भी तो काफी पढ़ी-लिखी और बेहद समझदार हैं।''

भन्नाए डॉ. प्रसाद घुस गये अपने कमरे में। कमरे में ही बार कैबिनेट है। तरह-तरह के ड्रिंक्स- एक से एक महँगे, एक से एक अच्छे। बड़ी नफासत से लेते हैं वे ड्रिंक। ग्लास निकलाने, उसमें पेग ढालने, सोडा या पानी मिलाने से लेकर उसकी चुस्कियों तक में आपादमस्तक नफासत घुली हुई रहती। कभी आज तक काबू से बाहर होते नहीं देखा किसी ने उन्हें। यूँ भी कह लें कि उतनी पी ही नहीं कि बेकाबू हो जाएँ।

उत्तेजना और झुँझलाहट में हर दिन का नहाना-धोना आज रह गया। और दिन तो डिस्पेंसरी से सीधा बाथरूम। लगभग बीस-पच्चीस मिनट नहाना, फिर कलफ-आयरन किया गया सफेद कुर्त्ता-पजामा और फिर नफासत से ड्रिंक। होम थियेटर की डीवीडी पर लगा देते बेगम अख़्तर, मेंहदी हसन...

''पत्ता, पत्ता, बूटा-बूटा, हाल हमारा जाने है।''

अभी का हाल कोई किसी का नहीं जान रहा था। न सुकन्या डॉक्टर का, न डॉक्टर सुकन्या का और न ही उनकी बेटी इन दोनों में से किसी का। ऊपर में डॉक्टर साहब, उनका कमरा, भन्नाया दिमाग और व्हिस्की की बोतल। बोतल कितनी खुली, कितनी ढली गिलास में, डॉक्टर को आज न तो इसका कोई अन्दाजा था और न ही कोई होश। इधर सुकन्या ''भाभी जी'' के सम्बोधन से ही बर्फ बन गयी थी। उस दिन तो घर आनेवाले दूसरे लोग थे, मगर आज नये चेहरे थे। कितने लोग हैं इनके गैंग में? कैसे पार पा सकती है वह इन सबसे? क्यों नहीं डॉक्टर कुछ

सोचते हैं? अपनी जिन्दगी, बेटी की जिन्दगी। कुछ ऊंच-नीचे हो गयी तो कैसे जिन्दा रह पायेगी वह? नहीं, आज तो वह भी कुछ कुछ फैसला ले कर ही रहेगी। अब तक घर का ही आतंक था। अब तो बाहर का भी आतंक। ऐसे आतंक में कैसे किया जा सकता है भला?

मन ही मन में मन की बुझाती अँगीठी से विचारों के एक कोयले ने चिंगारी भड़कायी। सुकन्या ने कमरे में आकर कहा, ''आते-आते बोतल खोलकर बैठ गये? न नहाना, न धोना, न कुछ।''

व्हिस्की गिलास के बदले जैसे लहकती अँगीठी पर पड़ गयी। ज्वाला लपलपा उठी, ''नहीं नहाया-धोया तो क्या हो गया? बदन से मैले की महक आ रही है या पेशाब की? और तुम खुद क्या रात-रानी की सुगन्ध बिखेर रही हो?''

''आप पर नशा चढ़ा चुका है। बाद में बात करेंगे।''

''क्यों? मैं कोई कुत्ता हूँ कि अतू-अतू करके जब पुचकारोगी, मैं दुम हिलाता दौड़ा चला आऊँगा।''

''मैं खाना लगवाती हूँ। नीचे आ जाइए खाना खाने।''

''नौकर हूँ तुम्हारा क्या कि जब जैसे कहोगी, वैसे हुकुम बजाता रहूँगा? नहीं खाना है मुझे। खिलाओ उन सालों, कमीनों को।''

''उनसे मेरा कोई मतलब है क्या कि मैं उन लोगों के पास जाऊँ? नहीं वे तो आपके लिए हैं, आपको ही उनसे डील करना है। हम दोनों तो मुफ़्त में गेहूँ के साथ घुन की तरह पिस रहे हैं।''

'' तो छोड़ दो ये घर। हो जाओ आजाद। किसने कहा है मेरे साथ रहने को? मेरी ज़िन्दगी और मान-प्रतिष्ठा की चक्की में घुन बन कर पिसने को? चलो, अभी निकलो। कोई ज़रूरत नही है यहाँ रहने की।''

''आपसे अभी बात करने का कोई मतलब नहीं है। कल सुबह बात करेंगे।'' सुकन्या बात को टालने की गरज से बोली। दरअसल वह बात करना चाहती थी माफिया की। उन लोगों से निबटने के उपाय पर चर्चा करना चाहती थी। परिवार, पति और बेटी की सुरक्षा के प्रति चिन्तित थी, मगर बात इस पर न होकर पीने-पिलाने से लेकर एक-दूसरे की अहम की टकराहट पर अटक गयी।

डॉ. प्रसाद का भन्नाया दिमाग, व्हिस्की का असर और उस पर से सुकन्या की बातों ने उनके मन के तार को जैसे लहका दिया। वे पिल ही पड़े, ''निकलो, निकलो यहाँ से, अभी का अभी। मुझे उनके साथ जैसे भी डील करना होगा, करूँगा। मगर तुम रहोगी तो मैं जिन्दा भी नहीं रह पाऊँगा। चलो, निकलो।''

शोर सुन कर बेटी भी आ गयी। वह पापा को मनाते हुए बोली, ''पापा, बस कीजिए, प्लीज।''

''नहीं, बस कैसे कर दूँ? जीना मुहाल कर दिया है इसने। इसे लगता है कि एक इसी को तुमसे प्यार है। मैं तो तुम्हारा कोई हूँ ही नहीं। मुझे तुम्हारी कोई चिन्ता ही नहीं है।''

"है पापा, आपको मेरी चिन्ता बहुत है, मगर अभी तो तो आप बस कीजिए। हम सब सुबह में बात करेंगे।"

"तुम अपने कमरे में जाओ।" डॉक्टर प्रसाद ने इतने तीखे व तेज स्वर में कहा कि बेटी चुपचाप कमरे में चली गयी। डॉक्टर प्रसाद ने राइफल निकाली, "जाती हो या मार दूँ गोली?"

"हर्गिज नहीं जाऊँगी और देखती हूँ, कैसे मारते हैं गोली?" सुकन्या भी आज पहली बार इतने तैश में थी। रोज-रोज की धमकी ने आज उसे शायद इतना बोल्ड बना दिया था। उससे भी ज्यादा बाहरवालों की धमकी ने सम्भवतः। आज तो वह भी तय कर ही ले न कि किसे क्या करना है, कैसे रहना है?

अब तक तो राइफल की केवल धमकी दी भर जाती थी। उस रात माफिया और व्हिस्की दोनों एक साथ फूट रही थी। फूट की तरंग में कब गोली राइफल के भीतर डाल दी गयी और तान दी गयी सुकन्या की ओर कि वह कुछ भी समझ नहीं पायी। बस केवल देखती रही राइफल को और सुनती रही आवाज को "मार दें गोली? बोलो, गोली मार दूँ?"

सचमुच, सामने खड़ी मौत अपने-आपसे लड़ने के लिए कितनी अद्भुत ताकत दे देती है। कितना मनोरंजक खेल खेलती है मौत। सामने सीना ताने खड़ी भी हो जाती है, लपलपाती ज्वाला की तरह सामनेवाले को डराती भी है, युद्ध से भाग जानेवाले को सामने से ललकारती भी है, काम को अंजाम न देनेवाले के ऊपर धार-धार बरसती भी है, उसे आपदमस्तक फटकारती भी है, किसी घृणित व्यक्ति को सामने पाकर उसे दुत्कारती भी है और युद्ध में गये जाँबाज सिपाही की तरह हिम्मत भी बँधाती है।

इस ललकार, फटकार और दुत्कार में कब कमरा और उसकी दीवार खून की धारा और सिर के जिन्दा फटे-बिखरे गोश्त से सन गया, लिथड़ गया, किसी को नहीं मालूम। यह आपद्धर्म था। ऐसा आपद्धर्म जिसमें एक की जान बचनी थी, एक की जानी थी, सो एक की गयी, एक की बच गयी। यह निगोड़ी राइफल जाने कैसा अभिशाप लेकर आयी थी- पहले बेटे को खाया, अब पति को। ड्रग माफिया खुश भी था और दुखी भी। खुश इसलिए कि रास्ते का काँटा अपने-आप साफ हो गया। किसी भी डॉक्टर को पटाना अब मुश्किल न होगा। अब तक दूसरे डॉक्टर डरते थे कि कहीं डॉक्टर प्रसाद ने इनके खिलाफ कोई एक्शन ले लिया तो? अब न तो रहा बाँस, लिहाजा न बजेगी बाँसुरी। जो बांसुरियाँ हैं भी, वे सब अब माफिया की धुन पर राग बिखरेंगी। माफिया दुखी भी था तनिक कि ऐसा नेक काम उसके हाथों होने से रह गया। उसके हाथों जाते डॉ. प्रसाद तो बाकियों पर डर का बर्फीला चाकू तेज धार से चल जाता। उसके द्वारा निकली गोली आतंक का पर्याय बनती, मगर यह सब रह गया, लेकिन सोचने पर थोड़ा सुकून भी मिला। जनता की गालियाँ खाने और जिस-तिस की जेब गरम करने की तिकड़म से तो बच गया। हालात के इस बदलाव पर उसकी यह मिश्रित क्रिया-प्रतिक्रिया थी। उसने बड़ा सा पुष्प गुच्छ भिजवाया-डॉक्टर के शव पर डाले जाने के लिए। आखिर बाहरवालों को कैसे पता

कि वह कितना बड़ा माफ़िया है। दुनिया के लिये तो वह एक बड़ा बिजनेसमैन है, समाज में जिसका अपना एक रसूख है। रसूख डॉक्टर प्रसाद का भी था। तो रसूख का सम्मान रसूख तो करेगा ही न।

बदलाव तो अजीब सा आया सुकन्या में। जनम से ही दबी-सहमी सुकन्या के भीतर की बर्फ अचानक पिघली और बरसाती नदी का ज्वार उसमें भर गया। इस उमगते ज्वार में उसका डर समूल बह गया। वह अब तैयार थी हर ज्वार को झेलने, हर झटके को सहने, हर सवाल का जवाब देने को, "जी हाँ, हर दिन की तरह घर आये, मगर बहुत तैश में थे। पीछे-पीछे माफिया के लोग भी पहुँचे थे। नहीं, जी नहीं, मैं किसी को नहीं पहचानती... बस, उनकी बातों से लगा कि वे लोग माफिया से हैं। घर इसके पहले भी आये थे। मुझे और बेटी को भी धमका गये थे। माफ़िया का दबाब बहुत ज्यादा उन पर था। मैं इन्हें समझाना चाह रही थी। इन्हें हिम्मत बँधाना चाह रही थी, मगर वे बेहद तैश में थे। कुछ भी बात नहीं की। मुझे नीचे भेज दिया। नहाये-धोये भी नहीं, बस ड्रिंक लेकर बैठ गये। कितना लिया, पता नहीं। खाने के लिए जब मैं इन्हें बुलाने आयी तो मुझ पर बरसे, माफिया को गाली दी और खुद को निशाना साध गोली..."

और कहानी खत्म हो गयी- जिन्दगी के साथ भी, जिन्दगी के बाद भी। आप यकीन करें या ना करें, सहानुभूति दिखायें या क्रोध करें, जीवन में बहुत से नामालूम झटके आते हैं, चले जाते हैं। बहुत से प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं। यहाँ भी हैं- ढेर सारे झटके, बहुत सारे सवाल, मगर किससे, कैसे, क्यों, कहाँ...कुछ पता भी नहीं। आप कहने को कह लें कि पुलिस तहकीकात कहाँ गयी? कोई व्यक्ति राइफल से अपने सिर का निशाना कैसे साध सकता है? सिर के तो ऐसे टुकड़े हो गये थे कि डॉ. प्रसाद का खूबसूरत, हँसता, मुस्कराता चेहरा खौफनाक गोश्त में तब्दील हो गया था, लेकिन कहा न, अपने समाज में रसूख भी कोई चीज होती है और इज्जत भी। और सदा का सन्तोष-भाव दर्शन की तरह पसरने लगता है- "जानेवाला तो चला गया। अब बाकी की, बेकार की खोजबीन करके क्यों परिवार की मिट्टी बिगाड़ रहे हो, उनकी इज्जत की छीछालेदार कर रहे हो। कैसे साबित करोगे कि बीवी ने ही घरवाले की...? कैसे साबित करोगे कि कहीं कोई दूसरा आदमी इसमें इन्वॉल्व नहीं था? मैडम के साथ इन्वॉल्व नहीं था? कैसे किस आधार पर कहोगे कि...? कुछ झगड़ा भी तो नहीं हुआ था यार और हुआ भी होगा तो ये बड़े लोग बाहर कुछ पता थोड़े ना चलने देते हैं? चुप रहो और मामला रफा-दफा करो। जाने वाला तो आने से रहा। छोड़ो सबकुछ। सन्तोष करो, आगे की सोचो।"

बस अब आगे की सोच है, सोच का गुब्बार है, हालात हैं, हालात के सामने सैकड़ों अनसुलझे सवाल हैं, लेकिन हकीकत तो यह है कि आगे की सोच और हालात में कुछ भी नहीं है, न बर्फ, न बर्फ की चादर, न सिल्ली, न बुरादे, न बर्फ का चाकू, न चाकू की धार, कुछ भी नहीं। बस एक शून्य, शून्य का विस्तार, तन औन मन पर फ़ैली अवसाद की अन्तहीन चादर और किस्सा खत्म! ❑

जयश्री रॉय



वर्जित

तुम ऐसा मेरे साथ कैसे कर सके! अपने प्रति मेरी भावनाओं से तुम अच्छी तरह वाकिफ थे, नहीं? अपनी आक्रमकता में पंजे मारती हुई इस क्षण वह किसी जंगली बिल्ली की तरह सांघातिक दिख रही थी। मैं यकायक बहुत डर गया था। उसकी बिल्लौरी आँखें पिघलते हुए ताँबे की तरह तरल और धुआँयी हुई थीं। तेजाब की दो तीखी रेखाएँ उसके अनार-से दहकते गालों पर सुलग रही थीं। मैं अपनी विवश होती दृष्टि के लिए ओकभर आश्रय ढूँढ़ता हुआ खिड़की के बाहर देखने की एक नाकाम-सी कोशिश करता हूँ–तुम्हें ये अनर्गल बातें नहीं करनी चाहिए राका, होश में आओ!

वह एक बार फिर बिफरकर मेरे सामने आ खड़ी हुई थी–होश में तुम आओ, माई डियर डैड...क्या मिलेगा तुम्हें उन बूढ़ी हड्डियों की गठरी में? देखो मेरी तरफ, ठीक से देखो...अपनी सिल्क की कुर्ती उतारकर वह मेरे आगे निर्द्वन्द्व खड़ी हो गयी थी–सुबह की सुनहरी धूप में सूरजमुखी की तरह दमकती हुई–पन्द्रह बसन्त देखे हैं मैंने, देह से अशर्फियाँ झर रही हैं, ताजे मांस, सुगन्ध और स्वाद से भर रहा हूँ हर पल...और वह औरत! पचास साला हड्डियों में घुन लग गया है, किसी भी दिन वह ढह जाएगी बीमार दरख्त की तरह। क्या बचा होगा उस दीमक लगी हुई देह में!

भोर की नाजुक धूप में उसकी देह की कमसिन गुलाबी उठान बँधी हुई कलियों

की तरह मुस्करा रही थी। शबनम धुली पाँखुरी की तरह मसृन त्वचा की रंगत मोतिया आब से भरी थी। मेरे अन्दर कहीं यकायक केसर की गाँठे खुल गयी थीं। रंग के तीखे शरारे उड़े थे, मुझे लगा था, मेरी साँस घुट रही है। उसकी तरफ देखने से बचने का एक कमजोर-सा प्रयास करते हुए मैंने अपनी नजर दूसरी तरफ फेर ली थी। किसी अज्ञात उत्स से फुटकर एक आग की सुर्ख नदी मेरी शिराओं से संजाल में अनायास फैल गयी थी। मैंने जेब के अन्दर अपनी मुट्ठियों को कसते हुए स्वयं को पत्थरों के एक निर्मम स्तूप के नीचे दबा देने का प्रयास किया था। ये क्षण यातना के थे और मुझे इनसे होकर न जाने कितनी बार गुजरना था...मैंने एकबार फिर हौसला समेटा था, ये लड़ाई वास्तव में इस उद्दण्ड लड़की के साथ नहीं, अपने साथ ही थी और यही सबसे बड़ी विडम्बना की बात थी! मैंने अपनी आवाज़ में यथासाध्य कठोरता घोलने की कोशिश की थी–अपने शब्दों पर ध्यान दो राका, वे तुम्हारी माँ हैं और अब मेरी पत्नी भी!

मेरी आँखों के सामने खिड़की पर नर्म मुस्कराहट से भरी सुबह और ओस से भीगी बगीचे की हरियाली थी, मगर साँसों में जलती हुई चिता की चिराँध! सामने के धुँधियाए दृश्य में उलझी मेरी न देखती हुई आँखें असल में मेरे पीछे खड़ी राका की अनावृत देह पर ही उलची जा रही थीं। गर्म लहू और जवान मांस की सोंधी गन्ध मेरे अन्दर युगों से बड़े यत्न से छिपाए दाँतों, नखें को न्योत रही थी जैसे, मैं सभ्यता के लकदक कपड़ों में अपनी पशुता को आप्राण समेटे खड़ा था, निर्लिप्त और अप्रभावित दिखने की निरन्तर कोशिश में, परन्तु मेरे अन्दर शिराओं, कोशिकाओं का एक पूरा संजाल अपने आदिम संवेगों की तीव्रता और आकस्मिकता में चिटककर टूट जा रहा था। काँच की नाजुक दीवारों में समन्दर की बहसी लहरों को बाँध लेने का-सा था यह क्षण–अपनी दुर्दान्त इच्छा में स्वयं में तहस-नहस होता हुआ, टूटने के कगार पर पहुँचकर अपनी पूरी सत्ता से थरथराता, लरजता हुआ...और ऐसे में इस दुधर्ष लड़की के प्रचण्ड आघात! पत्थरों की दीवार दरक जाए, मैं तो हाड़-मांस का इन्सान ही था। वह भी पुरुष...अपनी देह की मिट्टी में डूबा रूह की मुकद्दस जुबान से अक्सर बेखबर...कब तक झेल पाऊँगा मैं ये टार्चर। अब यही सवाल मुझे रह-रहकर परेशान करने लगा था।

और फिर अचानक वह मेरी पीठ से आ लगी थी–अपनी सम्पूर्ण मांसलता और अखुँआती देह की कामुक गन्ध ज्वर में सराबोर...! इस समय वह सिसक रही थी हल्के-हल्के। साथ में आरोह-अवरोह में थरथराती उसकी देह की नर्म रेखाएँ मेरे सब्र को आजमाइश में डाले हुए थीं। अन्दर एक क्षण के शायद हजारवें हिस्से में मेरे मन के तटबन्ध टूटे थे–आसपास का सबकुछ अपने सैलाब में समेटते हुए, डूबोते, बिखरते हुए...मगर फिर कहीं होश ने दस्तक दिये थे और मैंने बड़ी मुश्किल से स्वयं पर अंकुश कसे थे। अपनी आवाज़ में इस्पात घोलते हुए ठहरी आवाज़ में मैंने उससे

कहा था—अब तुम और बक-बक नहीं करोगी बच्ची और किचन में जाकर अपनी माँ का हाथ बँटाओगी। मेहमान सारे चले गये होंगे, जाकर देखो...!

अपने लाल भभूका हो रहे गालों से आँसू की बूँदें पोंछकर उसने जल्दी-जल्दी अपने कपड़े पहने थे और फिर मुझे आग्नेय नेत्रों से घूरते हुए कहा था—इसके लिए एकदिन तुम बहुत पछताओगे डैड! कब्र में अपने पैर लटकाए बैठी उस औरत के बूढ़े जिस्म में तुम ताउम्र ढूँढ़ते फिरोगे, मगर तुम्हें सुख की एक बूँद भी कभी नहीं मिलेगी...अपनी बात खत्म करके वह एक सुनहरी आँधी की तरह कमरे से बाहर निकल गयी थी। उसके पीछे उसकी देह का कुन्दन कमरे के सुरमई उजाले में देर तक दमकता रहा था। वासना की तीखी गन्ध में हवा बोझिल होती रही थी बार-बार... कुछ देर तक चुपचाप खड़े रहकर अपने लिए एक ड्रिंक तैयार करके मैं टाई की गिरह ढीली करते हुए एकबार फिर खिड़की के पास आ खड़ा हुआ था। बाहर घने जंगलों के बीच यहाँ-वहाँ चमकते घरों की लाल-भूरी छतें अब काफी स्पष्ट होकर दिखने लगी थीं। कुहरे का सफेद आँचल धूप की गर्मी के साथ ऊपर की तरफ झीना हो आया था। ओस नहाए जंगली फूलों की चादर ऊँची-नीची ढलानों पर दूर तक बिछी थी—कहीं गुलाबी और कहीं गहरा कासनी—किसी ताजी, गीली पेंटिंग की तरह, किरणों की सुनहरी तितलियों से झिलमिलाती हुई...मैंने सोचने की कोशिश की थी—आज का दिन मेरे लिए खास है--होना चाहिए। आज मैंने ओसन से शादी कर ली है। पाँच वर्ष की गहरी मित्रता का शुभ परिणय-सूत्र में बन्धन!

ओसन एक विधवा स्त्री थी, जिसके पति की मृत्यु पिछले कारगिल युद्ध में हो गयी थी। वह भारतीय सेना में मेजर के पद पर था। उस समय राका--ओसन की एकमात्र सन्तान की उम्र पाँच साल की थी। पाँच वर्ष पहले जब मैं उनके जीवन में दाखिल हुआ था, राका मात्र दस वर्ष की थी--बन्द मुट्ठी-सी बँधी उस कली की तरह जिसे बसन्त के हल्के स्पर्शमात्र की प्रतीक्षा होती है--हजार रंगों में मुस्कराकर खिल पड़ने के लिए!

एक दिन बिना कुछ सोचे-समझे मैंने उसके अनार के फूल से दहकते हुए होंठों को चूम लिया था और उसी क्षण कुछ अप्रत्याशित अद्‌भुत घटा था, जिसने हम सबकी जिन्दगी को एक सिरे से बदलकर रख दिया था, शायद हमेशा के लिए...माथे पर झूलती रेशमी लटों के पीछे उस छोटी-सी बच्ची की मोतिया आँखें यकायक अजब ढंग से चमक उठी थीं। कत्थई आग की ठंडी लपटों में सुलगती हुई उन आँखों की पिघली, माताल चावनी को मैं आज भी भूला नहीं पाया था। मेरे अन्दर के शान्त जल की सतह पर मानो यकायक एक रूपहली मछली कौंधकर खो गयी थी। रगो-रेश भीगी लकड़ी की तरह धुआँने लगी थी। एक अनाम अनुभूति में मैं न जाने आगे के कितने पलों तक डूबता-उतराता रहा था। उस दिन जिस अहसास को मैंने अपनी देह के हर रन्ध्र से जिया-महसूसा था। उसे कोई पहचान-सा नाम देने का दुःसाहस मैं जुटा नहीं पाया था। हिम्मत नहीं थी, उतनी हिम्मत नहीं थी! और सच कहूँ तो

आज भी नहीं है। भाषा से परे कुछ अनुभूतियों को अनाम रहने देना ही शायद सभ्यता है या सभ्यता की विवशता... आवरण की आवश्यकता जिस्म की नग्नता को ढँकने के लिए ही नहीं, भावनाओं को ढँकने के लिए भी होती है।

उस दिन की मासूम छुअन में शायद एक जीवित पराग था, जो इन कई वर्षों में बढ़कर एक आकाश छूती अमर बेल में तब्दील हो गया है। इस बेल की गुलाबी कलियों के प्याले में एक ही साथ मधु और विष भरे हुए हैं। इनका कड़वा-मीठा स्वाद मन को एक वर्जित सुख की अविवेकी इच्छा से अनायास भर देता है। मैं अपने अन्दर की इस सांघातिक लड़ाई में कब तक और कहाँ तक लहूलुहान होता रहूँगा...अपने ही आमने-सामने हूँ मैं। हथियार भी मेरे हैं और जख्म भी मुझे ही लगे हैं। जब अपने ही हाथ कुल्हाड़ी बनकर स्वयं पर उठते हैं तो प्रतिरोध का क्या रास्ता रह जाता है! खुद से अपने आप को बचाना सायद सबसे ज्यादा कठिन होता है। कई बार मैं स्वयं को अपने आगे हाथ जोड़े खड़ा पाता हूँ।

आज की इस खूबसूरत सुबह को मैं अपनी जिन्दगी के सबसे बेहतरीन लम्हों में शुमार करना चाहता था। धूप में पिघलती हुई एक छायाहीन सड़क की तरह थी मेरी अब तक की जिन्दगी। कहीं राहत या ठहराव नहीं था, मगर इस सिरे में आकर मुझे एक घर, आश्रय मिल गया था ओसन के रूप में। ओसन एक खूबसूरत औरत थी--रूहानी तौर पर। जिस्म में ढलती उम्र ने यहाँ-वहाँ घोंसला डाल लिया था। ऐसी दोस्त जिसे अपने अभाव के गहनतम क्षणों में निःसंकोच याद किया जा सकता है, जिसके कन्धे पर सिर रखकर रोने के लिए इजाजत लेने की जरूरत नहीं पड़ती, जिससे घर के दरवाजे पर दिन के किसी भी समय दस्तक दी जा सकती है।

अपनी पहली पत्नी और इकलौती बेटी की एक कार दुर्घटना में मृत्यु के बाद मैंने भी स्वयं को एक अर्से तक मृत मान लिया था--हर अर्थ में। मेरे लिए रस, रंग, गन्ध की एक पूरी दुनिया यकायक बेमानी होकर रह गयी थी। किसी चीज में कोई अर्थ या आकर्षण नहीं रह गया था। मैं जी रहा था, मगर जिन्दा नहीं था। अपने ही शव को अपने कन्धों पर ढोते फिरने का वह एक सांघातिक दौर था। कभी-कभी लगता था, एक घुन लगे दरख्त की तरह मैं किसी भी पल ढह जाऊँगा। उन्हीं उदास दिनों में लम्बी कतार के बीच एक दिन मुझे ओसन मिल गयी थी। गहरी बारिश की पृष्ठभूमि में खिले एक खूबसूरत इन्द्रधनुष की तरह...अपने उतरते रंगों को किसी तरह समेटते हुए। जीने की एक आखिरी कोशिश में जूझती हुई...जीवन की तटबन्ध टूटी नदी में हम दोनों ने दो तिनके की तरह एक-दूसरे को थाम लिया था। उस समय हम अपने जिस्म की भूख से नहीं, रूह के अकेलेपन से बेहाल थे। प्यार की एक भरी-पूरी दुनिया खोकर एक अनाथ बच्चे की तरह हो गये थे हम दोनों--बूँद भर स्नेह के लिए तरसते हुए, भटकते हुए...

आर्ट कॉलेज की अपनी नौकरी से इस्तीफा देकर पाँच वर्ष पहले मैं अमेरिका से अपने देश के इस छोटे-से हिल स्टेशन पर आ गया था। अपनी बाकी की जिन्दगी

यहाँ चुपचाप गुजार देना चाहता था। यहाँ आने के कुछ दिनों बाद ही मैं ओसन से मिला था। मुझे याद है, उस दिन एक अर्से के बाद मैं किसी बात पर देर तक हँसता रहा था। उस दिन मैंने यह भी महसूस किया था कि बदलते हुए मौसम में कुछ बहुत पहचाना-पुराना-सा है। अन्दर से फिर सबकुछ अच्छा लगना मुझे अच्छा नहीं लगा था। महसूस हुआ था, मैं बेवफा हो रहा हूँ। उसके बाद पूरी शाम मैंने अपनी उदासी को कसकर जबरन ओढ़े रखा था। शायद उस समय मैं खुद को कोई दूसरा मौका देने के लिए तैयार नहीं हो सका था।

मगर कुदरत की मर्जी कुछ और थी। खुशियाँ जब अनवरत दस्तक दे रही थीं, मैं कब तक अपने दरवाजे बन्द करके बैठा रहता और एक दिन ओसन उन बन्द दरवाजों को खोलकर चुपके से अन्दर घुस आयी थी और साथ में राका भी! राका का आना मैंने उस समय देखा नहीं था। बस कुछ अस्पष्ट-से पदचाप थी, जिन्हें सुनने के लिए उस वक्त मैं स्वयं को किसी भी तरह तैयार नहीं कर पाया था। अपनी संस्कृति, संस्कार की मोटी चादरों को हटाकर बाहर निकल पाना मेरे लिए किसी तरह सम्भव नहीं था। मैं ऐसा चाहता भी नहीं था। और आज भी नहीं चाहता। शायद यहीं गनीमत है और मेरी सबसे बड़ी त्रासदी भी।

एक गहरी साँस लेकर मैं खिड़की पर से हट गया था। कमरा हल्की, गर्म धूप से नहाया हुआ था। ईजी चेयर पर बैठकर मैंने अपनी आँखें बन्द कर ली थीं। अचानक बहुत थकावट महसूस करने लगा था। न जाने कब ओसन मेरे पीछे आ खड़ी हुई थी। अपने कन्धे पर उसकी हथेली का दबाव अनुभव करते हुए मैंने चेहरा उठाकर उसे देखा था। आज ओसन की वर्षों से बुझी हुई आँखों में दो उजले सितारे उग आये थे। अब वहाँ उम्मीद भी थी और सपने भी। एक अडोल यकीन के साथ वह मुझे देख रही थी, जैसे हर पलक कह रही हो, मुझे तुम पर पूरा भरोसा है। उन खुशियों से झिलमिलाती आँखों की तरफ देखते हुए मैं एक ही साथ हर्ष और विषाद की दो परस्पर विरोधी भावननाओं से घिर आया था। इस यकीन का बोझ बहुत ज्यादा था मुझ पर। मैं इसे सम्भालना चाहता था, मगर इसके बोझ तले खुद ही दबता जा रहा था।

आज ओसन के हमेशा साफ-सुथरा रहनेवाले चेहरे पर हल्का-सा मेकअप था। आँखों में नीले काजल की पतली रेखा, गालों पर ताम्बई रंग का ब्लशर और होंठों पर मोतिया रंग की फिकी लिपिस्टिक। वह खूबसूरत से ज्यादा भली लग रही थी। अन्दर की खुशी उसके चेहरे पर लुनाई बनकर निखर आयी थी। उसके बदन से जासमीन की हल्की खुशबू उठ रही थी। मैं कुछ बोलकर इस क्षण के मौन जादू को तोड़ना नहीं चाहता था। ओसन के बोलते हुए चेहरे पर भी शायद यही बात थी। हम दोनों देर तक चुप रहे थे। एक भरी-भरी-सी खामोशी हमारे बीच पसरी रही थी।

राका...यू नो, शी इज इन ए बैड मूड, इनसिक्योर महसूस कर रही है—माँ

पराई हो जाएगी...कहते हुए ओसन के शब्द उसके होंठों पर लरजते हुए से ठहर गये थे। आँखों में ममता पिघलकर अनायास घुमड़ आयी थी। आँसुओं को रोकने के प्रयास में उसने जल्दी-जल्दी अपनी पलकें झपकायी थीं। वहाँ धुँध जैसा कुछ गहरा सिमट आया था। उनकी तरफ देखते हुए मेरे अन्दर भी काई-सा कुछ जमने लगी थी। ओसन फितरत से एक माँ पहले है। अपनी बेटी की चिन्ता उसे हर पल लगी रही है। काश! राका अपनी माँ के इस निश्छल प्यार को समझकर उसकी कद्र करना सीख जाती!

ओसन का हाथ पकड़कर मैं डायनिंग हॉल में आ गया था। दोपहर के इस समय लम्बे गलियारे की दीवार पर जड़ी कतारबद्ध खिड़कियों के काँच से गुजरकर आती हुई धूप का रंग इन्द्रधनुषी हो रहा था। फर्श पर गिरकर वह रंगोली की तरह दिख रही थी। महोगनी के भारी टेबल के एक सिरे पर राका बैठी हुई थी—धूप की रंगीन तितलियों से भरी हुई। उसने मेरे अभिवादन का जबाव नहीं दिया था। खाना खाते हुए भी बार-बार काँटा, चम्मच को प्लेट से टकराकर आवाज पैदा करती रही थी। ओसन के टोकने पर वह जमीन पर प्लेट पटककर रोते हुए अपने कमरे में भाग गयी थी। ओसन भी उसके पीछे उठकर चली गयी थी। दिन का खुशनुमा, उजला माहौल यकायक भारी हो उठा था। हवा में तनाव और बोझिलता पसर गयी थी। अपनी कॉफी समाप्त कर मैं बॉल्कनी में निकल आया था। दूर वादियों की नीली शून्यता को घूरते हुए मेरे कान भीतर से आनेवाली आवाजों पर ही लगे हुए थे। अन्दर से रोने-चिल्लाने और हाथ-पैर पटकने की आवाजें बहुत देर तक आती रही थीं। मेरे अन्दर मायूसी का अहसास धीरे-धीरे कोहरे की तरह घिर आया था। शायद इस जन्म में और कभी सुकून नहीं मिल पायेगा। मैंने एक बार फिर से जीने की खुशी पाने की चाह ही क्यों की, जबकि ये सब शायद मेरी किस्मत में लिखी ही न हो।

अचानक ओसन पीछे से आकर मेरी पीठ से लगकर रोने लगी थी। मैंने चुपचाप रहकर उसे रो लेने दिया था। कभी-कभी किसी बात पर जी भरकर रो लेना ही शायद उसका एकमात्र हल होता है। सिसकियों में थरथराती हुई ओसन बार-बार कुछ कहने की कोशिश करती रही थी, मगर उसके शब्द दुर्बोध ही बने रहे थे। काफी देर बार वह थोड़ी शान्त हुई थी। मैंने उसकी दुबली बाँहें सहलायी थीं—सब ठीक हो जाएगा ओसन...हालाँकि क्या ठीक हो जाएगा, ये मुझे भी मालूम नहीं था, मगर सब ठीक हो जाने की उम्मीद तो मुझे ओसन को थमानी ही थी। आज से यह मेरा फर्ज भी हो गया है। ओसन रोने से लाल पड़ गयी अपनी नाक रूमाल से पोंछती हुई लगातार फुसफुसा रही थी—माई पुअर चाइल्ड, शी इज अपसेट, वेरी अपसेट। उस शाम की पार्टी में फिजा में बिखरती हल्की-हल्की हँसी की आवाज, कटलरी की ठुनक और बजते हुए संगीत के बीच दो बिल्लौरी आँखें हमें निरन्तर घूरती रही थीं। उनमें ठण्डी आग की तीखी, नीली लश्कारें भरी हुई थीं। मैं ओसन

को लेकर भीड़ में खो जाना चाहता था, उनसे बहुत दूर हो जाना चाहता था, मगर वे हमारा पीछा हर जगह करती रही थी। ओसन की तरह ही राका ने भी आज सफेद लिबास पहना था। सिल्क के तंग गाउन में उसका पूरा जिस्म अपने तमाम उतार-चढ़ाव के साथ उभर आया था। किसी ने चुटकी ली थी—माँ, बेटी में से ब्राइड कौन है! राका व्यंग्य से मुस्करायी थी—कायदे से तो मुझे ही होना चाहिए था...सुनकर चारों तरफ हँसी की एक लहर उठी थी। सबके सामने ओसन का चेहरा शर्म से फीका पड़ गया था। जाहिर है, राका अपनी माँ को छोटा दिखाने की कोशिश कर रही थी। मेरा दिल ओसन के लिए करुणा से भर आया था। डांस के दौरान भी राका बार-बार मुझे अपने साथ खींचकर ले जाती रही थी और किसी अन्धकार भरे कोने में मुझसे चिपटकर नाचती रही थी। उसकी मांसल देह का उद्‌दण्ड दबाव, साँसों की हरारत और खुशबू के उड़ते भभाके में मेरा दम घुटने लगा था। मैं जितना भी उससे दूरी बनाये रखने की कोशिश कर रहा था, वह मेरे उतने ही करीब आती जा रही थी। थोड़ी ही देर में यह स्थिति मेरे लिए असह्य हो गयी थी। अपनी अनियन्त्रित होती देह के प्रति सजग होकर अचानक मैंने डांस के बीच में ही उससे अपने आप को अलग कर लिया था।

क्या हुआ डैड...? अपनी आँखें में शरारत की कौंध भरकर वह मुस्करायी थी—आई एम आल्वेज एबल टु डु इट टु यु, इज नॉट इट डैड डियर? मेरा चेहरा ग्लानि और शर्म से शायद गले तक रंग गया था। अपनी खीझ में मैं उसपर बुरी तरह झल्ला पड़ा था—बिहेव योरशेल्फ चाइल्ड...ओसन की तरफ लौटते हुए मैंने अपने पीछे राका की जलतरंग की तरह बजती हुई हँसी की आवाज सुनी थी। मुझे लगा था, मैं सबके सामने नंगा हो गया हूँ। ओसन ने मेरा आसक्त चेहरा देखकर मेरा हाथ दबाया था—आर यू ओके हनी?

उस रात जैसे ही मैंने बैडरूम का दरवाजा बन्द किया था, दरवाजे पर तेज दस्तक हुई थी। उस समय ओसन ड्रेसिंग टेबल के सामने खड़ी होकर अपने बाल सँवार रही थी। राका की आवाज़ सुनते ही वह भागकर बाहर चली गयी थी। उनके लिए इन्तजार करते हुए सोफे पर बैठे-बैठे ही मुझे न जाने कब नींद आ गयी थी। आधी रात के करीब मुझे ओसन ने जगाया था—प्लीज हनी, तुम बिस्तर पर सो जाओ, मुझे राका के पास सोना पड़ेगा। वह बहुत बेचैन है। मुझे छोड़ ही नहीं रही है। मैं चुपचाप जाकर बिस्तर पर लेट गया था। सच पूछा जाए तो मुझे बिस्तर पर ओसन का इन्तजार था भी नहीं। ओसन उन भीतरी खूबसूरती से लबरेज औरतों में से थी, जिसे देखकर अपनी माँ की याद हो आती है। जब शारीरिक या मानसिक पीड़ा से आक्रान्त होता हूँ, उसकी उँगलियों का जादू राहत बनकर दिलोदिमाग पर छा जाता है। वह माथे पर बाम लगा सकती है, दर्द से टूटती देह का मसाज कर सकती है, बुखार में दिलोदिमाग पर छा जाती है। बुखार से सिर पर ठंडी पट्टियाँ रख सकती है, मगर जब देह अपनी आदिम चाहना की कैफियत में डूबती है, शिराओं

में इच्छाओं का उन्माद उमड़ता है, तब ओसन जैसी औरतों का ख्याल नहीं आता। उस समय सिर्फ...अनायास मेरी आँखों के आगे संगीत की धुन मे लहराती हुई राका की देह कौंध गयी थी—एक मांसल गीत, एक पारदर्शी संगीत...मक्खन को तराशकर उकेरे गये चित्र की तरह-सुडौल...मैंने अपनी पलकें भींच ली थी। बाँध टूटी नदी के उन्माद के-से इस क्षण को किसी तरह गुजार देना है। अन्दर हजार जुगनुओं का निरन्तर दिपना और हल्की झीसी से भीगता हुआ मन है। अपने ही तटबन्ध को तोड़कर हर पल बह जाने को आमादा, अबाध्य...नहीं, बिल्कुल नहीं! मैं स्वयं को ही जैसे चाबुक दिखाकर शासित करता हूँ। मगर, एक बनैला उछाल और गुर्राहट कहीं देर तक बनी रहता है। मैं लेटे-लेटे अपने सीने पर राका की देह का दबाव महसूस करता हूँ और विवश पड़ा रहता हूँ। इसी तरह लेटे-लेटे न जाने मैं कब सो गया था—एक बेचैन और गड्‌डमड्‌ड सपनों से भरी नींद।

दूसरी सुबह नींद खुली तो ओसन मुझपर झुकी हुई थी। उसका चेहरा ताजा और खिला-खिला था। शायद तभी नहाकर आयी थी। शरीर की त्वचा नम और ठंडी थी। बालों से पानी की बूँदें टपक रही थीं। मेरे अन्दर कहीं सहसा एक नन्हीं लौ आँच देने लगी थी। अच्छा है। मेरे अन्दर का वह हिस्सा जो ओसन के नाम लिखा है, एकदम से खत्म नहीं हो गया है। वहाँ जो कुछ भी है, वह खूबसूरत होने के साथ-साथ मानवीय भी है और एक हद तक जिन्दा भी। ओसन की दुबली बाँहों से उसका सिल्क का गाउन सरकाते हुए मैंने दरवाजे की ओर देखा था—राका स्कूल गयी है, दरवाजा बन्द है, ओसन ने गहरी आवाज में कहा था। उसी क्षण तेज हवा के झोंके के संग खिड़की के बाहर गुलमोहर के फूल झरने लगे थे। एक सुर्ख आँधी-सी चल पड़ी थी। मार्च की हवा में जंगली फूलों की गन्ध के साथ नींद और खुमार-सा घुला था। देह के स्तर पर ओसन के इतना करीब आने का यह मेरा पहला मौका था। अभी हम एक-दूसरे में ठीक से डूबे भी नहीं थे कि किसी ने बाहर से जोर से दरवाजा भड़भड़ाया था।

मैं जानता था, यह राका ही होगी। वह सिर दर्द का बहाना करके घर लौट आयी थी। इसके बाद पेट दर्द, बुखार आदि के बहाने गढ़-गढ़कर वह कई दिनों तक लगातार घर में पड़ी रही थी। ओसन उसकी तबीयत को लेकर बहुत परेशान हो गयी थी। हर समय राका के सिरहाने बैठी रहती थी। मुझे भी समय-असमय उसके पास बैठना ही पड़ता था। एकान्त मिलते ही वह बुखार दिखाने के बहाने मेरा हाथ अपने कपड़े के अन्दर खींच लेती थी। उसकी जिद और शैतानियाँ दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी। कभी-कभी मेरी समझ में नहीं आता था मैं क्या करूँ। ओसन से मैं कुछ कह नहीं सकता था। एक अर्से के बाद उसके जीवन में मुट्ठीभर खुशी आयी थी। उसे छिन लेने का मन नहीं करता था। राका उसकी इकलौती बेटी थी। सच्चाई जानकर वह बिल्कुल टूट जाती। न स्वयं को माफ कर पाती, न हमारे सम्बन्ध को ही फिर कभी सहज ढंग से जी पाती। मेरे लिए समस्या का कहीं कोई

हल नहीं था। एक तरफ मेरी नैतिकता, मेरे संस्कार थे तो दूसरी तरफ राका के सौन्दर्य का दुर्वार आकर्षण और ओसन के प्रति मेरी सहानुभूति और कर्तव्यबोध...जिन्दगी की दोहरी मार ने मुझे थका दिया था। मैं स्वयं को हर तरह से घिरा हुआ महसूस कर रहा था। हम तीनों अपनी-अपनी जगह अपने तौर पर तकलीफें उठा रहे थे। खुशी पाने की फिराक में हम सभी दुखी होकर रह गये थे। कभी-कभी मैं चर्च जाकर चुपचाप बैठा रहता था। जब अपने वश में कुछ न रह जाए, तब हम किसी आसमानी मदद की उम्मीद करने लगते हैं शायद।

राका ने हमें शादी के बाद कभी भी एकान्त में होने का अवसर नहीं दिया था। रातों को भी वह कभी-कभी हमारे बीच आकर डर लगने का बहाना करके सो जाती थी। और फिर पूरी रात मुझे तंग करती थी। ओसन इतनी मासूम थी कि अपनी बेटी की इन हरकतों को बिल्कुल समझ नहीं पाती थी। इसका फायदा उठाकर राका कभी सबके सामने मुझसे लिपट जाती थी तो कभी जबरन चूम लेती थी। गणित समझने के लिए वह मेरे पास अक्सर आकर बैठती थी, और फिर मौका देखकर लगातार शरारतें करती रहती थी। उसके कपड़े भी वाहियात किस्म के होते थे। जिनमें वह ढँकी कम, उघड़ी ज्यादा नजर आती थी। उन कपड़ों में वह जानबूझकर मेरे सामने लापरवाह बनकर अपने जिस्म की नुमाइश करती रहती थी। उसकी इन हरकतों ने मुझे बुरी तरह से परेशान कर दिया था। अब तो वह मुझे बात-बात पर ब्लैकमेल भी करने लगी थी। शायद वह मेरी कमजोरियों को भली-भाँति समझ गयी थी। ओसन दिनभर अस्पताल में रहती थी। वह वहाँ हेड मैट्रन के पद पर थी। काफी जिम्मेदारी का काम था उसका। मुझे परेशानी खासकर तब होती थी, जब ओसन को नाइट ड्यटी पर जाना पड़ता था। उन दिनों राका के हजार जिद करने पर भी मैं अपने बैडरूम का दरवाजा उसके लिए नहीं खोलता था। वह दरवाजे पर बैठकर कभी तो मुझे धमकाती रहती थी तो कभी देर तक सिसक-सिसककर मुझे इमोशनली ब्लैकमेल करने का प्रयत्न करती रहती थी। मैं रातभर सो नहीं पाता था।

दिन के समय भी वह मेरे स्टूडियों में आ धमकती थी। कभी तो अपनी ऊल-जलूल बातों से ही देर तक तंग करती रहती थी तो कभी बैठकर जिद करने लगती थी कि मैं उसका पोट्रेट बनाऊँ। एकदिन तो उसने हद ही कर दी थी। अपने कपड़े उतारकर सामने बैठ गयी थी कि मैं उसका न्यूड पोट्रेट बनाऊँ। मेरे मना करने पर उसने कलापी में घोले हुए सारे रंग तस्वीरों पर फैला दिये थे। उस दिन मैं अपना आपा ही खो बैठा था। गुस्से में उसे थप्पड़ मार दिया था। वह पैर पटकती हुई स्टूडियो से बाहर चली गयी थी। उस रात उसने ओसन से मेरे विषय में न जाने क्या उल्टा-सीधा कह दिया था। ओसन ने बहुत संकोच के साथ मुझसे कहा था कि मैं राका का न्यूड पोट्रेट बनाने की बात दिमाग से निकाल दूँ। एक पिता द्वारा अपनी बेटी का नग्न चित्र बनाना शोभनीय नहीं लगता। मैं अन्दर ही अन्दर कटकर रह गया था। इसके बाद ओसन के व्यवहार में बदलाव आने लगा था। कभी वह मुझे राका के

कमरे में बिना दस्तक दिये न जाने की हिदायत देती तो कभी समझाने लगती कि मैं राका की इनसीक्योरिटी को समझा करूँ और उसे इतना न डाँटू-फटकारूँ। जाहिर है, राका मेरे विषय में ओसन के कान भरने लगी थी। उसका मनगढ़न्त कहानियाँ सुनाना और खतरनाक बात थी। हो सकता था कि आगे वह अपने जुनून में कोई ऐसी बात कर देती जो हमारे सम्बन्ध को तहस-नहस कर दे सकता था। अब उसकी हरकतें मेरे बर्दाश्त से बाहर की बात होती जा रही थी।

मैंने कई बार राका को समझाने की कोशिश की थी कि वह अपना यह पागलपन छोड़ दे तथा इस सत्य तो स्वीकार ले कि मैं उसकी माँ का पति हूँ और इस लिहाज से वह मेरी बेटी के समान है, मगर उसके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी थी। अन्त में मुझे लगने लगा था कि राका को कुछ भी समझाना बेकार है, यह फितूर उसके दिमाग से अब निकलनेवाला नहीं। अब मुझे ओसन से राका के विषय में सबकुछ साफ-साफ कह देना चाहिए। यह समस्या एक टाइम बम की तरह थी, जो किसी भी क्षण फट सकता था।

बहुत सोच-समझकर मैं सही मौके के इन्तजार में रहने लगा था जब ओसन को सबकुछ खोलकर बता सकूँ, मगर हमारे भाग्य में कुछ और ही बदा था शायद। एक दिन वही सब हो गया जिसकी मुझे एक लम्बे समय से आशंका थी। एक दिन किसी इमरजेंसी केस के लिए हस्पताल से ओसन को भोर रात के समय बुला लिया गया था। मैं सो रहा था। ओसन मुझे बिना जगाये चुपचाप उठकर चली गयी थी। इधर बैडरूम का दरवाजा खुला पाकर न जाने कब राका मेरे बगल में आकर लेट गयी थी। उस समय उसके शरीर पर कोई कपड़ा नहीं था। नींद में मैंने उसे ओसन ही समझा होगा, मगर जब धीरे-धीरे उसकी हरकतें बहुत बढ़ने लगती थी, मेरी आँखें अचानक खुल गयी थी। मेरे लिए उस समय संयम में रहना बहुत कठिन था, फिर भी मैंने किसी तरह खुद को सम्भालकर उसे अपने से अलग करना चाहा था, मगर उस दिन तो जैसे राका पर भूत ही सवार हो गया था। वह कुछ भी सुनने, समझने के लिए तैयार नहीं थी। पहले-पहल वह मिन्नतें करती रही। अपने प्यार की दुहाई देती रही, मगर अन्त में किसी भी तरह बात बनती न देखकर जोर-जबर्दस्ती पर उतर आयी। उसने मुझे बुरी तरह नोचना-खसोटना शुरू कर दिया था। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ। मेरा प्रतिरोध धीरे-धीरे कमजोर पड़ता जा रहा था। वह मुझपर हावी होने लगी थी।

और तभी ओसन कमरे में दाखिल हुई थी। न जाने कब वह अस्पताल से लौट आयी थी। उसे सामने देख एकपल के लिए राका सन्न रह गयी थी। मेरी भी जान में जान लौट आयी थी कि अब राका के हाथ से छुटकारा मिल जाएगी। ओसन पत्थर की बुत की तरह हमारे सामने खड़ी थी, उसके चेहरे पर गहरे शॉक के भाव थे और फिर थोड़ी देर चुप रहकर अचानक राका चीखकर रोती हुई अपनी माँ से जा लिपटी थी—मॉम...मॉम...डैड...यू नो...ही वाज ट्राइंग टु रेप मी...उसकी बात सुनकर

मेरे ऊपर जैसे बिजली ही टूट पड़ी थी। इससे पहले कि मैं कुछ कहता या समझ पाता, ओसन ने आगे बढ़कर मेरे गाल पर जोरदार तमाचा जड़ दिया था। उसके बाद जैसे मैं अपने होश ही खो बैठा था। आगे की घटनाएँ जैसे किसी सपने में घटित होती रही थी। ओसन ने पुलिस बुला ली थी। राका ने मेरे विरुद्ध बयान देते हुए मुझपर बलात्कार का आरोप लगाया था। आनन-फानन में एफ आई.आर. दर्ज हो गयी थी। गिरफ्तारी के बाद पुलिस की जीप में बैठते हुए मैंने मुड़कर देखा था, माँ-बेटी एक-दूसरे से लिपटकर खड़ी थी। ओसन की आँखों में दर्द और घृणा की एक ठहरी हुई दुनिया थी और राका की आँखों में ठण्डी आग की एक नीला समन्दर वह चुप थी, मगर मुझे उसकी हँसी स्पष्ट सुनाई दे रही थी।

दूसरे दिन की घटनाएँ और भी भीषण थीं। कोर्ट जाते हुए औरत और बच्चों के लिए काम करनेवाली कई समाजसेवी संस्थाओं की महिलाओं ने मुझे घेरकर बीच सड़क पर जलील किया था। मेरे चेहरे पर कालिख पोत दी गयी थी, बुरी तरह से मारा-पीटा गया था। चेहरे पर थूका गया था। इन सब घटनाओं के बीच मेरे सोचने-समझने की सारी शक्ति ही जैसे खत्म हो गयी थी। मैं बिल्कुल बुत बन गया था। इतना अपमान, ऐसा लाँछन सहने का साहस मुझमें नहीं था। मुझे लग रहा था मैं किसी भी पल जमीन पर गिरकर मर जाऊँगा।

उस रात हवालात के ठण्डे फर्श पर पड़ा मैं तेज बुखार में तड़पता रहा था। भीषण मानसिक तथा शारीरिक पीड़ा ने मुझे एकदम से तोड़ दिया था। राका के व्यवहार तथा ओसन के अविश्वास ने मुझे बुरी तरह से झकझोर दिया था, पता नहीं वह रात कैसे बीती थी। मुझे रह-रहकर राका की आँखें याद आती रही थीं। जब सभी घेरकर मुझे अपमानित कर रहे थे। मैंने राका और ओसन को दूर एक कार में बैठे हुए देखा था। राका उस समय रो रही थी और ओसन उसके सिर पर हाथ फेर रही थी।

सुबह मैं नीम बेहोशी की हालत में पड़ा था, जब पुलिस कांस्टेबल अपने साथ ओसन को मेरे हवालात में ले आया था। मैं उसे एकाएक पहचान नहीं पाया था। एक ही रात में जैसे वह कोई और ही हो गयी थी। रो-रोकर उसकी आँखों के पपोटे सूज गये थे। चेहरा निकल आया था। जैसे वह वर्षों से बीमार हो। उसे देखकर मैं अपना दर्द भूल गया था। वह मेरी तरफ नज़रें उठाकर देख भी नहीं पा रही थी। हम दोनों न जाने कितनी देरतक चुपचाप बैठे रह गये थे। वह धीरे-धीरे सिसकती रही थी। मैंने उसे रोने दिया था। मेरे मन में उसके लिए कोई शिकायत नहीं थी। आखिर जो कुछ भी हुआ था, उसमें उसका कोई दोष नहीं था। एक समय तक चुप रहने के बाद मैंने उसका हाथ अपने हाथ में समेट लिया था। और उसी क्षण वह पूरी तरह टूट पड़ी थी। बिलखते हुए उसने एक कागज का टुकड़ा मेरे हाथ में थमा दिया था। वह एक सुसाइट नोट था। राका ने लिखा था। उसमें उसने अपना सारा कसूर कबूल लिया था। अन्त में मुझसे क्षमा भी माँगी थी। हम दोनों को एक

सुखी वैवाहिक जीवन के लिए शुभकामनाएँ दी थीं। पढ़ते हुए मेरी आँखें धुँधला गयी थीं–ये कब हुआ...!

कल रात...पुलिस के पंचनामा करके जाने के बाद आज मुझे यह पत्र मिला...कहते हुए ओसन एक बार फिर हिचकियों में टूटकर रो पड़ी थी, साथ में मैं भी रोता रहा था। ओसन को क्या कहकर सांत्वना दूँ, समझ नहीं पा रहा था। वह बार-बार मुझसे माफी माँग रही थी। जब प्रेम विकृत हो जाता है, एक रोग, एक आबसेशन बन जाता है, तब उसका हश्र शायद कुछ ऐसा ही होता है। राका के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ था। उसका प्यार, उसकी भावनाएँ कैंसर की तरह दुःसाध्य, दुर्वह हो गयी थीं। उनके साथ उसका जीना शायद ही सम्भव था। उसे मरना पड़ा...जो प्रेम हर सृजन का आधार है, वही गलत फितरत की वजह से विनाश का कारण भी बन सकता है। कभी-कभी किसी बीमार जीवन का एकमात्र हल शायद मौत ही होती है!

मेरी जमानत मजूँर हो गयी थी। ओसन को अपनी बाँहों में समेटे मैं पुलिस स्टेशन से बाहर निकल आया था। हमें राका के अन्तिम संस्कार की व्यवस्था करनी थी। बाहर निकलकर मैंने महसूस किया था, एक ही दिन में हमारी पूरी दुनिया बदल गयी थी। दूर चर्च की घण्टियाँ राका की मृत्यु की घोषणा करते हुए रह-रहकर बज रही थीं। चारों तरफ गहरे शोक की छाया पसरी हुई थी, शोक–एक बहुत खूबसूरत जीवन का बहुत बुरी तरह से असमय जाया हो जाने का, हमेशा के लिए खत्म हो जाने का, हमेशा के लिए खत्म हो जाने का शोक...प्रेम के अधःपतन और लज्जाजनक हश्र का अन्तहीन शोक...

❑

रोहिणी अग्रवाल



'गोदान' का स्त्रीवादी पाठ

"**सा***रा उपदेश गरीब नारियों के ही सिर पर क्यों थोपा जाता है?"*

—कथा-सम्राट प्रेमचन्द!

'गोदान' : हिन्दी साहित्य में मील का पत्थर!!

महानता के उत्कर्ष पर आरूढ़ प्रेमचन्द : सबके चहेते और सर्वाधिक लोकप्रिय!!!

मैं पसोपेश में हूं कि महान व्यक्ति के साथ संवाद कैसे करूं? जमीन पर खड़े व्यक्ति की आवाज दूर ऊँचाइयों पर आसीन व्यक्ति को सुनाई नहीं पड़ती। वह दूरी को बनाए-बढ़ाए रखने वाले कोलाहल में कहीं गुम हो जाती है। अलबत्ता ऊँचाई तक पहुंचती कुछ कमन्दों के सहारे अपनी बात पहुंचाई जा सकती है, लेकिन कमन्दें थामने वाली राजनीतिक-सांस्कृतिक ताकतें महापुरुष को व्यक्ति नहीं रहने देतीं, देवता बना डालती हैं; स्तुति और प्रचार को धर्म। तो क्या मन्त्र-पाठ की तरह आवृत्तियों को ही निष्ठापूर्वक दोहराऊँ? या 'वध' किए जाने के तमाम खतरों को उठा कर कथा सम्राट को उन ऊँचाइयों से खींच लाऊँ और महानता के खोल में संवाद के लिए ललकते साधारण से उत्सुक लेखक से बस एक सवाल पूछ ही डालूं कि जब स्त्री के मन को बिल्कुल नहीं समझते तो उसके बारे में इतनी-इतनी टिप्पणियां क्यों करते हैं आप?

लेकिन नहीं। शालीनता की कुछ सीमाएं हुआ करती हैं। यूं उंगली उठा कर किसी पर भी आरोप लगा देना अपनी ही आवेशजनित दुर्बलताओं और असुरक्षा का

सार्वजनिक स्वीकार है। फिर धनिया तो हिन्दी कथा साहित्य के कुछेक जीवन्त पात्रों में से एक है - विद्रोह की तीखी धार और आत्मीयता की सरस फुहार के साथ सम्बन्धों को ही नहीं, अपने व्यक्तित्व को नयी ऊर्जा देती एक समाजनेत्री; सीधी खरी बात कह कर अपनी डगर पर अकेले चलने का हौसला रखती स्त्री! सचमुच स्त्री में इतना साहस नहीं होता। वह अबला है यानी प्रताड़िता, परावलम्बी। बात-बात पर पति/पिता का मुँह जोहने वाली अवश कातरता! लेकिन मुँहजोर धनिया पति से ही भिड़ने को तैयार! एक बार नहीं, बार-बार। अकेले नहीं, पूरे गांव-समाज के सामने। बस, सच्चाई का पल्लू हाथ में हो, फिर रणचंडी बनने में देर नहीं। रणनीति चाहे न आती हो। क्या होगा अव्यावहारिक ढंग से लड़ाई लड़ने का परिणाम? जनमत ही विरुद्ध होगा न! बड़े 'कॉज़' के लिए निकली धनिया ऐसी क्षुद्रताओं की परवाह नहीं करती। सच्चाई को दाब-ढांक कर दोगलेपन को 'जनती' मर्यादा को वह तार-तार कर देती है। "मैं आज इसे और इसके हत्यारे भाई को जेहल भेजवाकर तब पानी पिऊँगी। इसके भाई ने गाय को माहुर खिला कर मार डाला। अब जो मैं थाने में रपट लिखाने जा रही हूं, तो यह हत्यारा मुझे मारता है।" (पृ. 100) तथा "घर में तलाशी लेने से इसकी इज्जत जाती है। अपनी मेहरिया को सारे गांव के सामने लतियाने से इसकी इज्जत नहीं जाती।... बड़ा वीर है तो किसी मर्द से लड़। जिसकी बांह पकड़ कर लाया है, उसे मार कर बहादुर न कहलाएगा।" (पृ. 105) सचमुच पर्दा प्रथा से त्रस्त स्त्री प्रवंचनाओं के आवरण ओढ़ कर अपनी गति को बाधित और दृष्टि को धुन्धला नहीं करना चाहती।

कितना साहस! कितना आत्मविश्वास!

फिर कैसे सिद्ध करूं मैं अपना आरोप कि प्रेमचन्द स्त्री मानस को बिल्कुल नहीं जानते, बल्कि वे तो धनिया की अभ्यर्थना में सिर झुका कर खड़े हैं और इस 'अकुशल सिपाही' को स्त्री-पुरुष दोनों का सम्माननीय नेता बना देते हैं, लेकिन जाने क्यों पंक्तियों के बीच छिपे कुछ तथ्य चुगलखोर हमदर्द दोस्त की तरह कान में फुसफुसा जाते हैं कि धनिया की दिलेरी एक छद्म आवरण मात्र है, जिसके नीचे 'अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभयदान देती' और 'सोहाग' रूपी तृण के सहारे जीवन-सागर को पार करती किसी भी औसत पतिव्रता स्त्री को देखा जा सकता है। असल में प्रेमचन्द, जो बार-बार धनिया की पीठ ठोंकते हैं, सो भी इसी गुण के कारण कि इस साध्वी ने "होरी के सिवा किसी पुरुष को आंख भर कर देखा भी न था।" (पृ. 112) और पतिव्रता पत्नी का मालिक होने के गुमान में फूला होरी अपनी जिन्दगी के वरक पलट-पलट कर प्रमाण जुटाता चलता है कि कैसे जवान धनिया की एक झलक पाने के लिए गांव के मनचले और साहूकार उसके झोंपड़े के चारों ओर मंडराया करते थे और 'सती' धनिया उन्हें अपनी सूरत तक न दिखाती थी। होरी के अतिरिक्त गदगदपन का एक कारण क्या यह भी नहीं कि स्वयं अपने को टटोलते हुए उसने जवानी क्या, इस अधेड़ावस्था में भी दुलारी सहुआइन के साथ

'रंगीली' बातें करने के रस में भीगते हुए देखा है? जाहिर है, धनिया कितना ही रम्भा ले, उछल-कूद कर ले, होरी आश्वस्त है कि इस कामधेनु का पगहा उसके हाथ में है; कि सांझ-सवेरे उसके थनों में दूध भर-भर आता रहेगा; कि उस दूध के भार से निजात पाने के लिए वह स्वयं दोहन के लिए तैयार मिलेगी। बस, पुट्ठों को जरा सा सहलाने भर की देर है। धनिया की दिलेरी में समर्पण के भार से झुकी यह चारित्रिक निरीहता प्रश्नाकुल आधुनिक समाज को बरगलाने के लिए काफी है कि वह पति की अनुगता मात्र नहीं, परामर्शदाता भी है; कि वह सिर्फ देह और करुणा नहीं, बुद्धि और विवेक भी है।

''स्त्री पृथ्वी की भांति धैर्यवान है'' यानी ''नारी का धरम है कि गम खाय''

व्यवहारकुशल होरी की कायरता के सामने धनिया के व्यक्तित्व की स्वतःस्फूर्तता और निर्भीकता उसे होरी की तुलना में अनायास ही प्रखर और ओजस्वी बना डालती है, अन्यथा होरी और प्रेमचन्द की तरह धनिया भी जानती है कि होरी की सहमति के बिना उसके विद्रोह की ध्वनि, गति और जिन्दगी कुछ भी नहीं। होरी की अपनी निश्चित प्राथमिकताएं हैं–मरजाद, कुल प्रतिष्ठा, भाइयों के साथ खून का रिश्ता और इसके निर्वहण के लिए बंधी हुई पारम्परिक दृष्टि। अपनी इस मिल्कियत के भीतर वह दुर्दान्त है और इस घेरे के बाहर फक्कड़ वैरागी। वहां धनिया हस्तक्षेप कर निर्णय लेती रहे, होरी की बला से, लेकिन उसके अधिकार क्षेत्र में कूदी तो वाही-तबाही– ''मैं जितनी तरजीह देता हूं, उतनी ही यह सिर चढ़ती जाती है।'' लेकिन वही धनिया जब झुनिया और सिलिया को पनाह देती है तो होरी सिर झुका कर डांड भरता है या मिमिया कर दुलारी के सामने सिलिया को न निकाले जाने की विवशता जताता है। ''धनिया उसे रखे हुए है, मैं क्या करूं?'' (पृ. 236) यूं झुनिया को शरण देने के प्रसंग की महीन जांच करें तो भी होरी के मालिकाना अख्तियार धनिया को दूती या माध्यम भर सिद्ध करते हैं, निर्णायक शक्ति नहीं। धनिया झुनिया को आश्रय देने को स्वतन्त्र होती तो क्यों घर के द्वार पर आश्रय मांगती झुनिया को वहीं छोड़ कर खेत में मड़ैया डाले रखवाली करते होरी को बुलाने आती? होरी के प्रत्याशित रोष में अपना रोष मिला कर क्यों उसकी क्रोधाग्नि को वहीं थामे रखने का जतन करती? घर लौटते समय क्रमशः पिघल कर होरी को पिघलाने की युक्तियां क्यों अपनाती? धनिया के गरम-नरम तेवर। झुनिया की ओर से मर्सी अपील हैं - जिसमें वह कहीं शामिल है तो मनुष्यता के नाते, दुराचारी बेटे की मां होने की लाज को ढांपने के नाते; झुनिया के गर्भ में पलते अपने ही वंश के अंश को बचाने के नाते।

होरी धनिया की सब बातें नहीं मानता। उतनी भर मानता है, जितने से उसका स्वार्थ सिद्ध हो या मान और मालिकाना हक बना रहे। हुक्का बन्द होने से धनिया विचलित नहीं हुई, (वह खुले गले से पूरे गांव के जले पर नमक छिड़कते हुए पोते के जन्म पर गीत गाती रही।) विचलित हुआ होरी, बिरादरी में नक्कू बनने के अपमान से बिद्ध होरी महतो! इसलिए उसने घर भी गिरवी रखा और अनाज का दाना-दाना

भी पंचों के पास पहुंचाया। धनिया का ताने देता आक्रामक विरोध उसकी 'कर्मठता' को छू भी न गया। सोना के ब्याह के समय भी यही 'मर्यादा' उसे आत्मप्रवंचना के मायावी जाल में जकड़ कर दूर तक नचाती है और फिर ठक से धराशायी कर देती है। नाच-तमाशा, बाजा-गाजा, हाथी-घोड़े और तीन-तीन सौ बारातियों की आवभगत के लिए रुपया कहां से लाएगा? एक विकल्प है—अगर वह एक बीघा जमीन बेच दे, तो? लेकिन किसान होकर जमीन कैसे बेचे? ''बाप-दादा की यही तो निसानी है, यह निकल गयी तो जाऊँगा कहां?'' दूसरा सदाबहार विकल्प - ऋण! ऋण ही लेता है होरी। दुलारी सहुआइन से। उधार की चकाचौंध पर प्रतिष्ठा का प्रपंच खड़ा करने, लेकिन सोना ने दहेज के खिलाफ लामबन्दी कर दी है। चुपके से भावी पति के पास दहेज न लेने का पैगाम भिजवाया है और भावी पत्नी के मान की रक्षा में मथुरा ने अपने पिता की ओर से होरी को सन्देश भिजवाया है, ''आगे जो हम लोगों में दहेज की बातचीत हुई थी, उस पर हमने सांत मन से विचार किया, समझ में आया कि लेनदेन से वर और कन्या दोनों ही के घरवाले जेरबार होते हैं। ...तुम दान-दहेज की कोई फिकर मत करना, हम तुमको सौगन्ध देते हैं। जो कुछ मोटा-महीन जुरे, बारातियों को खिला देना।'' (पृ. 241) होरी किंकर्त्तव्यविमूढ़ है। ऐसी अनहोनी बात! वर पक्ष की मानें या बिरादरी में नाक ऊँची रखने के लिए रुपयों का खेल खेले? वह मूढ़ की नाईं 'चतुर' धनिया की शरण में है। 'धनिया पति की देह और मन की भाषा पढ़ सकती है। होरी के दिलोदिमाग में धूमधाम से ब्याह कर कुल-मर्यादा बढ़ाने की इबारत साफ लिखी है। वर पक्ष का आदेश और अपनी गरीबी 'व्यावहारिक' ज्ञान बन कर उसे मर्यादा के इस चक्रव्यूह से बाहर निकलने का विवेक देते हैं। होरी इस समय विवेक की बोली-बानी सुनना नहीं चाहता, धनिया जानती है। इसलिए उसकी मूक सहमति को अपना मुखर 'अव्यावहारिक' निर्णय बना डालती है कि 'रुपया हाथ का मैल है। उसके लिए कुल-मरजाद नहीं छोड़ा जाता।' और गद्‌गद होरी हाथ मसल-मसल कर धनिया को कोसने का अवसर 'भुनाने' लगता है—''तू आगे भी चलती है, पीछे भी चलती है।... तेरा मरम भगवान ही जाने।'' (पृ. 242) अलबत्ता रूपा के ब्याह के समय धनिया की जिद और तर्क दोनों उसके सामने बेमानी हो जाते हैं। अपने हमउम्र अधेड़ रामसेवक से उस बालिका का ब्याह रचाते वक्त उसके हाथ नहीं कांपते। कांपते हैं इस सम्बन्ध के एवज में मिले दो सौ रुपए लेते वक्त। मन में अब भी अभिमान है कि समाई होती तो सोना की तरह रूपा के ब्याह में शान-शौकत में कोई कमी न रखता। मन में उठते अपने ही अपराध बोध को निरस्त करने के लिए तर्क है कि वह लड़की कहां बेच रहा है? ऋण समझ कर यह राशि ले रहा है और हाथ में पैसा आने पर चुकता कर देगा। अलबत्ता अपनी दरिद्रता और लाचारी को साफ-साफ समझने और स्वीकारने का निर्भीक भाव अब उसमें है कि ''जब ईश्वर ने उसे इस लायक नहीं बनाया तो कुशकन्या के सिवा और वह क्या कर सकता है? लोग हँसेंगे, लेकिन जो लोग खाली

हँसते हैं और कोई मदद नहीं कर सकते, उनकी हँसी की वह क्यों परवाह करे।'' इस संज्ञान के बाद अब वह निर्विरोध अपने निर्णय को क्रियान्वित रूप दे सकता है, लेकिन धनिया की ओर से उठने वाली असहमति की आशंका को फैला-फुला कर हमेशा की तरह उसे गरियाने का अवसर हाथ से जाने नहीं देना चाहता कि धनिया ''राजी न होगी। गधी तो है ही। वही पुरानी लाज ढोएगी।''

होरी-शासित गृह राजनीति में धनिया की हैसियत मुहरे से ज्यादा नहीं है। पुरुष के मन और समाज की संरचना को जानने वाली धनिया अपनी पराधीन स्त्री नियति को खूब पहचानती है। वह जानती है नैतिकता के दोहरे मानदंड पुरुष को अपनी पत्नी को देवी बना कर बान्धने और दूसरे की पत्नी को कुलटा मान कर गुलछर्रे उड़ाने की छूट देते हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के केन्द्र में हमेशा पुरुष है - कर्त्ता और भोक्ता; टिप्पणीकार और निर्णायक। अनुभव ने धनिया को सिखाया है कि जब-जब स्त्री ने अपने होने को महसूस कर अन्याय के खिलाफ जरा भी कसमसाहट की है, बड़े-बुजुर्गों ने उसकी 'आंच' पर नसीहत के घड़ों पानी उंडेल दिया है, ''नारी का धरम है कि गम खाय।'' (पृ. 41)

पति के घर और आश्रय के बिना उसके वजूद को नहीं स्वीकारता समाज—''जैसे हिन्दू स्त्री पति के साथ घर की स्वामिनी है और पति त्याग दे तो कहीं की नहीं रहती।'' (पृ. 155) पति को पाने की लालसा में विधवा स्त्री यदि झुनिया की तरह किसी गोबर का हाथ पकड़ प्रेम में 'सर्वस्व' दान कर दे तो भगोड़ा गोबर दोषी नहीं, क्योंकि 'लड़कों से इस तरह की भूल-चूक होती रहती है।'' (पृ. 114) दोषी है झुनिया—स्त्री—जिसे पनाह देना ही गांव-समाज को भ्रष्ट कर देना है। प्रेमचन्द यदि सचमुच धनिया को विद्रोहिणी और जांबाज स्त्री छवि में बांधना चाहते तो क्या उसे नैतिकता के इन दोहरे मानदंडों के खिलाफ ठगी गयी स्त्रियों को लामबन्द करने का विवेक न देते? धनिया की अपने साहस के बल पर स्त्री-पुरुष दोनों का नेतृत्व करने की क्षमता का अभिनन्दन तो वे पहले ही कर चुके हैं, लेकिन उसके साहस भरे नेतृत्व को वे इतनी पुख्ता जमीन नहीं देना चाहते। चूंकि वे सर्जक हैं और पात्र उनके हाथ में खेलती कठपुतलियां, इसलिए अपने कुशल नियन्त्रण से बाहर वे उन्हें झांकने ही नहीं देते। पाठक धनिया के दुर्गा रूप के झांसे में आकर शुरू में भले ही उससे किसी सर्जनात्मक विद्रोह की अपेक्षा रखने लगे, प्रेमचन्द उसे तत्परता से पुरुष व्यवस्था में दीक्षित करते चलते हैं। सही बात पर खरा-कड़वा बोलने के आरोप में कुटती-पिटती पुनिया में अपना ही प्रतिरूप देख वह उसकी रक्षा में आगे नहीं आती, होरी की जुबान बन कर उसकी जुबान खींच लेती है—''बहुरिया होकर पराए मर्दों से लड़ेगी तो डांटी न जाएगी।'' (पृ. 29) 'बहुरिया' बनने की सार्थकता क्या अपने स्वत्व को किन्हीं और के हाथों में सौंप देना है? धनिया के पास सवाल उठाने के लिए स्त्री दृष्टि और स्त्री हृदय नहीं है। होता तो रूपा के अनमेल ब्याह के प्रस्ताव पर वह हारी

हुई अप्रत्यक्ष लड़ाई न लड़ती; शिवरानी देवी की कहानी 'साहस' की नायिका की तरह बूढ़े वर की खोपड़ी को चप्पलों से गंजा कर देने का हौसला रूपा में भर देती। धनिया की पराजय वस्तुतः प्रेमचन्द की यथास्थितिवादी मानसिकता की विजय है।

प्रेमचन्द स्त्री मानस को नहीं समझते, क्योंकि वे स्त्री प्रश्नों और स्त्री की मानवीय अस्मिता पर विचार ही नहीं करना चाहते। सेवा और त्याग की देवी बना कर वे उसका स्थान और सीमा सुनिश्चित कर देते हैं, बस। यदि वे उन्मुक्त दृष्टि और उदार सोच के साथ स्त्री को तमाम आरोपित विशेषणों से मुक्त कर मनुष्य रूप में देख पाते तो स्त्री पात्रों को सिरजने में फतवेबाजी और लफ्फाजी जैसी अगम्भीर हरकतें न करते। उनके अपने घर में शिवरानी देवी उनके ठीक विपरीत ध्रुव पर जाकर बेहद आक्रामक ढंग से स्त्री सुधार की कहानियां लिखती हैं, जहां रोने के ठाठ से मुक्त स्त्री अपनी तयशुदा कैद से बाहर निकल कर नयी राहें बना रही है। जाहिर है, अकेले ही, पूरे समाज की आलोचना से बेखौफ। इससे पूर्व 'सीमंतनी उपदेश' की रचयिता अज्ञात हिन्दू महिला, पं. रमाबाई, ताराबाई शिंदे, आनंदी गोपाल, सावित्रीबाई फुले स्त्री को गुलाम बनाने वाली पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विश्लेषण करने के साथ-साथ स्त्री को मनुष्य समझने वाली समाधानमूलक सरणियों और संवेदना की आवश्यकता का प्रसार कर चुकी हैं। स्त्री शिक्षा के समर्थन के साथ-साथ सामाजिक कुरीतियों की समाप्ति के लिए जोर पकड़ता आन्दोलन; वोट के साथ-साथ पैतृक सम्पत्ति में अधिकार के पक्ष में संगठित संघर्ष; स्त्री की राजनीतिक आन्दोलन में भागीदारी के साथ-साथ आर्थिक स्वावलम्बन की प्रखरतर मांग - लेखक-पत्रकार-चिन्तक प्रेमचन्द अपने युग की रग-रग से वाकिफ थे, लेकिन उनके लेखन में उक्त महिलाओं के लेखन सरीखी तड़प, आक्रोश और पुनर्निर्माण की जूझती जिद नहीं। उनकी इकहरी सपाट दृष्टि में यथार्थ का अर्थ है परम्परा और संस्कार, सामाजिक-सांस्कृतिक विडम्बनाओं का यथातथ्य प्रतिबिम्बन।

यथार्थ उर्वर रचनात्मक यथार्थ तभी बनता है जब उसका अतिक्रमण कर उसका पुनर्सृजन किया जाए, अन्यथा वह अपनी सलीब ढोने की मुर्दा कोशिश के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। क्या प्रेमचन्द इस बुनियादी तथ्य से अपरिचित रहे होंगे? न्ना! 'साहित्य का उद्देश्य' निबन्ध में वे साफ लिखते हैं कि ''हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, बेचैनी और संघर्ष पैदा करे।'' (प्रेमचन्द रचनावली, भाग 7, पृ. 510) लेकिन मुझे 'गोदान' में रोजमर्रा की आवृत्तिमूलक जड़ जिन्दगी के दोहराव के अतिरिक्त गति, बेचैनी और संघर्ष के दर्शन कहीं नहीं होते। गति जड़ आवृत्ति में, संघर्ष हताश यान्त्रिकता में और बेचैनी विवश स्वीकार भाव में तब्दील हो यथास्थिति को पुख्ता किए जा रही है। प्रेमचन्द अपने असन्तोष और विरोध को कहां किस रूप में व्यक्त कर रहे हैं? सोना, रूपा और झुनिया - इन तीन स्त्री पात्रों के साथ वे समूचे स्त्री जगत को उत्पीड़ित करने

वाली तीन सामाजिक समस्याओं की विभीषिका को पहचानने और समाज व्यवस्था से टकराने का अवसर पाते हैं। साहित्य के जरिए व्यक्ति और समाज के अन्तर्सम्बन्ध को जानने और मजबूत करने की बात वे 'साहित्य का उद्देश्य' में कह चुके हैं यानी समाज में व्यक्ति की स्थिति सहज करने के लिए उत्पीड़क समाज व्यवस्था से मुक्ति अनिवार्य है। सोना और रूपा उनके सामने क्रमशः दहेज प्रथा तथा अनमेल विवाह के विरोध तथा झुनिया विधवा विवाह एवं अन्तरजातीय विवाह के समर्थन में उठी मानवीय हुंकारों के रूप में उपस्थित हो सकती थीं। मथुरा की फटकार खाकर उसके पिता गौरी महतो का हृदय परिवर्तन शायद इसीलिए होता है कि वे निर्मला की त्रासदी से परिचित हैं, लेकिन निर्मला के सर्जक इससे बेखबर एक और मुंशी तोताराम (यहां 'गोदान' के सन्दर्भ में रामसेवक) के साथ होरी की भेंट करवा देते हैं और रूपा के ललाट पर अपने हाथों निर्मला का भविष्य लिख होरी भीतर से कहीं सन्तुष्ट और सुरक्षित है कि रामसेवक जैसा समर्थ और बली (प्रपंची) आदमी उसका हाथ पकड़ ले तो बेड़ा पार है। नहीं, प्रेमचन्द व्यक्ति और समाज, समस्या और समाज-व्यवस्था को साथ-साथ रख कर नहीं देखते, वे अपने मन्तव्य को सिद्ध करने के लिए घटनाओं, पात्रों और तर्क की एक सीधी पगडंडी बना कर चलते हैं, जिसके अगल-बगल कुछ नहीं। चूंकि 'गोदान' का अभिप्रेत (फोकस) 'निर्मला' से भिन्न है, इसलिए दहेज और अनमेल विवाह की विभीषिका की शिकार रूपा की परिणति निर्मला की त्रासदी को अंगूठा दिखा कर अपने लिए सुख रचती है।

पिता के समवयस पति की बालिका वधू रूपा की गोद में सुख-समृद्धि की बरसात लेखक के दो मन्तव्य सिद्ध करती है। एक, पिता के रूप में होरी की भूमिका पर सफलता की मुहर। (जाहिर है यह अनमेल विवाह के कलुष को धो डालने की व्यग्र कोशिश है।) दूसरे, रूपा को आत्मरतिग्रस्तता की उन्मादी छवि में बांध कर स्त्री प्रश्नों की ओर से पाठक का ध्यान हटाना। लेखक ने रूपा के मनोभावों का वर्णन यों किया है, ''रूपा के लिए वह (रामसेवक) पति था, उसके जवान, अधेड़ या बूढ़े होने से उसकी नारी भावना में कोई अन्तर न आ सकता था। उसकी यह भावना पति के रंग-रूप या उम्र पर आश्रित न थी। उसकी बुनियाद इससे बहुत गहरी थी।... उसका यौवन अपने ही में मस्त था। वह अपने ही लिए बनाव-सिंगार करती थी और आप ही खुश होती थी। रामसेवक के लिए उसका दूसरा ही रूप था। तब वह गृहिणी बन जाती थी, घर के काम-काज में लगी हुई। अपनी जवानी दिखा कर उसे लज्जा या चिन्ता में न डालना चाहती थी। किसी तरह की अपूर्णता का भाव उसमें न आता था। अनाज से भरे बखार और गांव से सिवान तक फैले हुए खेत और द्वार पर ढोरों की कतारें और किसी प्रकार की अपूर्णता को उसके अन्दर आने ही न देती थी।'' (पृ. 330) रूपा के लिए दी गयी यह स्टेटमेंट स्त्री को पतिव्रता की अपरिहार्य छवि में कैद करने की वही सजग कोशिश है, जो बार-बार स्त्री को देवी और कुलटा के दो पालों में विभाजित करके ही दम लेती है। तब सवाल

उठता है कि व्यक्ति (स्त्री) के बरक्स समाज को चीन्हने और समाज के भीतर शून्य होकर रहती स्त्री को मूल्य प्रदान करने के लिए उन्होंने क्या किया? गोबर के मन में झुनिया को 'रखेली' बनाने का विचार है - शहर से लौट कर वह उसे ब्याहता की तरह अपनाता है, लेकिन बाकायदा ब्याह कर ब्याहता का गौरव नहीं देता, जिस कारण दबी जुबान से अब भी लोग झुनिया को कुलटा कहते हैं। क्या इसलिए कि एक साथ विधवा विवाह और अन्तरजातीय विवाह का समर्थन उन्हें अपनी ताकत और स्वीकृति से बाहर की बात लगा? या जात-कुजात की स्त्री को घर में डाल कर घर की चौखट के भीतर शालीन-कुलीन कुलवधू लाने की परम्परा को यथावत् रखने के लिए?

मैं यहां घूंघट के कठोर शासन में रह कर गुल खिलाने वाली झिंगुरीसिंह की पत्नियों या नोखेराम के साथ प्रेम के हरजाईपन को जीती दुहाजू भोला की युवा पत्नी नोहरी का जिक्र नहीं करना चाहती। प्रेमचन्द की दृष्टि में ये कुलटाएं दंडनीय हैं। धनिया को अपनी प्रवक्ता बना कर वे भोला को नोहरी जैसी पत्नी का गंडासे से सिर कलम करने का सुझाव भी देते हैं। परिणाम क्या होगा? फांसी! लेकिन ''फांसी इस छीछालेदर से अच्छी है।'' (पृ. 272) धनिया का यह अभिमत पितृसत्तात्मक व्यवस्था के क्रूरतम रूप का उद्घाटक है, जहां बृहद् परिप्रेक्ष्य में नैतिकता के अर्थ को समझे बिना नैतिकता के कर्मकांड को सतीत्व बना कर स्त्री पर आरोपित कर दिया जाता है और फिर उसे ही कुल की लाज (ऑनर) कह कर उसकी रक्षा में हर अनैतिक-अकरणीय कदम को नैतिक और महिमांडित सिद्ध कर दिया जाता है।

जाहिर है मैं यहां बर्बर कबीलाई मानसिकता की ओर इंगित करती ऑनर किलिंग जैसी आपराधिक घटनाओं की बात करना चाहूंगी। दुराग्रहों और वर्जनाओं को सूक्ति, आप्तवचन या धर्मोपदेश बना कर कितना ही महिमामंडित क्यों न कर लिया जाए, न्याय और स्वाधीनता पाने की प्रबल मानवीय आकांक्षा अन्ततः उनके औचित्य पर प्रश्नचिन्हित करेगी ही। ऐसे में जरूरी है मौजूदा समाज व्यवस्था का पुनरीक्षण; न कि परम्परा की दुहाई देकर उन्हीं दुराग्रहों और वर्जनाओं को मजबूती से पकड़ने का हठ। हठ सृजन की सम्भावनाओं के चुक जाने और प्रतिपक्षी को अपने समकक्ष मनुष्य न समझने के दम्भ से पैदा होता है। प्रतिपक्षी (कमजोर) के सन्दर्भ में सबल पक्ष द्वारा आरोपित वर्जनाओं का पालन जीने की मजबूरी भी बन सकता है (जिनके प्रति देर-सबेर असन्तोष झलकना अनिवार्य है) और देदीप्यमान अभिमान भी। अपने अस्तित्व पर इठलाती धनिया में यह देदीप्यमान अभिमान बन कर फूटा है। ''औरत घी का घड़ा लुढ़का दे, घर में आग लगा दे, मर्द सह लेगा, लेकिन उसका कुराह चलना कोई मर्द न सहेगा।'' (पृ. 272) अभिमन्त्रित धनिया ने अपनी जीवन दिशा तय कर ली है और 'सेवा और त्याग की देवी' के रूप में आकाओं से अपने वजूद की स्वीकृति भी पा ली है। नैतिकता के इसी तेज से दिपदिपा रही है सिलिया, झुनिया और सोना। ये तीनों स्त्रियां तीन अलग-अलग इकाइयां न रह कर धनिया का विस्तार

बन जाती हैं और धनिया पितृसत्तात्मक व्यवस्था की रक्षक स्त्री-चौकीदार का प्रतीक तो है ही। इसलिए नोहरी का सिर कलम करने का सुझाव देते समय अपने सतीत्व के बड़बोले कंट्रास्ट से जहां वह अपने चारों ओर सुरक्षा की बाड़ मजबूत कर लेना चाहती है, वहीं पूरी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की मनोभिलाषा को मूर्त रूप देती है। झिंगुरीसिंह झुनिया को लेकर पहले ही ऐसा मन्तव्य व्यक्त कर चुके हैं और झुनिया के पिता-भाई कुलटा झुनिया को मजा चखाने के लिए कसमसा रहे हैं। गोबर हाथ से छूटे शिकार की तरह शहर में कहीं अन्तर्धान हो गया है और झुनिया को होरी का सामाजिक संरक्षण मिल गया है। औरत पर गिरोह बना कर समाज तभी वार कर पाता है, जब वह अकेली हो, निहत्थी तो होती ही है। इसलिए भोला द्वारा होरी के बैल खोल कर ले जाना एक गहरे प्रतीकार्थ (रोजी-रोटी का जरिया काटना) को संकेतित कर होरी को भौतिक धरातल पर चित कर देना चाहता है। जब ऐसा नहीं होता तो खुलेआम सौदेबाजी होती है—''तुम अपने दो सौ को रोते हो, यहां लाख रुपए की आबरू बिगड़ गयी। तुम्हारी कुशल इसी में है कि जैसे झुनिया को घर में रखा था, वैसे ही घर से उसे निकाल दो। फिर न हम बैल मांगेगे, न गाय का दाम मांगेंगे। उसने हमारी नाक कटवायी है तो मैं भी उसे ठोकरें खाते देखना चाहता हूं। वह यहां रानी बनी बैठी रहे और हम मुंह पर कालिख लगाए उसके नाम को रोते रहें, यह नहीं देख सकता। वह मेरी बेटी है। मैंने उसे गोद में खिलाया है और भगवान साक्षी है मैंने उसे कभी बेटों से कम नहीं समझा, लेकिन आज उसे भीख मांगते और घर पर दाने चुनते देख कर मेरी छाती सीतल हो जाएगी।'' (पृ. 140)

नैतिक दुराग्रहों की यह दुर्दान्त परिणति सामाजिक मान्यताओं और व्यवस्था को पलटने की जरूरत पर बल देती है। प्रेमचन्द के यहां आज की तरह प्रेमी युगल की हत्या का आयोजन नहीं है, लेकिन हत्या की जमीन तैयार करती और हत्या के विकल्प सोच कर आनन्द पाती मानसिकता अवश्य है। विडम्बना है कि झुनिया के सन्दर्भ में जहां धनिया इस बर्बर अमानवीय कृत्य की विरोधिनी है, वहीं नोहरी के सन्दर्भ में उसकी पैरोकार। यह व्यक्ति बदलने से वैकल्पिक दंड विधान बदलने का वैयक्तिक मामला है, जहां सामन्ती सोच के बदलने या मानवीय अधिकारों के लिए लड़ने का जज्बा नहीं। मैं फिर इस सवाल के साथ मुखातिब हूं कि उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र कहने वाले प्रेमचन्द ने 'निप द ईवल इन द बड' (बुराई के अंकुर जमने से पहले ही समूल नष्ट कर डालो) की तर्ज पर इस बर्बरता के खिलाफ रचनात्मक आन्दोलन क्यों नहीं छेड़ा? प्रेमचन्द क्या नहीं जानते कि बुराई पहले एक अमूर्त विचार की तरह व्यक्ति विशेष के मानस में आकार ग्रहण करती है; फिर अन्तर्मन को मथता क्रमिक और अनवरत चिन्तन उस अमूर्त विचार को सच्चाई में बदल डालता है, जिसे समान अभिरुचियों वाले समाज/समूह में शेयर करना सरल हो जाता है। तब सामूहिक/सामाजिक अनुमोदन उस बुराई को एक अवधारणा/वर्जना/मूल्य में बदल कर क्रियान्वयन के रास्ते ढूंढ़ने लगता है। साहित्यकार से इतनी अपेक्षा तो समाज

करता है कि सजग जिम्मेदार नागरिक और दृष्टिसम्पन्न स्रष्टा की तरह वह औसत पाठक से अधिक संवेदनशीलता और क्रियाशीलता के साथ अँधेरे में नकारात्मकताओं का जाल बुनती ताकतों को खींच कर नष्ट कर डाले। उनकी षड्यंत्रकारी दुरभिसंधियों का समर्थन करती मानसिकता को परम्परा और संस्कार के नाम पर प्रश्नांकित किए बिना चित्रित न करे। प्रेमचन्द अपने इस महत् मानवीय दायित्व से किनारा कर जाते हैं। सम्भवतया अनजाने ही। गाय को विष देकर भाग खड़े हुए हीरा के पक्ष में आकर होरी भ्रातृ प्रेम की मिसाल कायम करना चाहता है, लेकिन अपनी उस उग्र उन्मत्त मानसिकता में प्रतिरोधी ताकत धनिया को धकियाते हुए भूल जाता है कि वह पत्नी (स्त्री) पर पति (पुरुष) के अधिकार की बात नहीं कर रहा, शोषित और शोषक, हीन और श्रेष्ठ की दो कोटियों में स्त्री-पुरुष को बांट कर पितृसत्तात्मक व्यवस्था के मंसूबों का दृढ़ कर रहा है।

होरी अभिमानपूर्वक ऐलान कर रहा है कि ''उसके देखते यह तलाशी न होने पाएगी और धनिया से अब उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जहां चाहे, जाए। जब वह उसकी इज्जत बिगाड़ने पर आ गयी है तो उसके घर में कैसे रह सकती है? जब गली-गली ठोकर खाएगी, तब पता चलेगा।'' (पृ. 102) 'घर' का स्वामी होने का दम्भ भरा भाव घर में आश्रय लेने वाली हर स्त्री को अपना खिलौना और गुलाम समझने का बोध अनायास पा जाता है—होरी के मुंह से इस 'सामान्य पुरुष कथन' को कहलवाते समय क्या प्रेमचन्द ने स्त्री/धनिया की ओर से इसका निहित आशय ग्रहण करने का जरा भी प्रयास न किया होगा? शायद नहीं, क्योंकि हीरा को होरी का प्रतिरूप और विस्तार बना कर वे पुनिया को भी उसी तरह पिटवाते रहते हैं, बल्कि हीरा तो सवर्ण नागर समाज की प्रथा को कृषक समुदाय तक ले आना चाहता है कि ''उसका बस होता तो वह पुनिया को पर्दे में रखता। पुनिया किसी बड़े से मुंह खोल कर बातें करे, यह उसे असह्य था।'' (पृ. 28) यह वह मानसिकता है जो स्त्री को ओट में रखते-रखते उसके पूरे वजूद को क्रमशः लुप्त कर देना चाहती है—उससे हास-परिहास और बनाव-शृंगार की नैसर्गिक चाहतों को बरबस छीनते हुए। इस्लामिक देशों में धर्म के नाम पर स्त्री पर इस प्रकार की फतवेबाजी आज चिन्ता का विषय बनी हुई है। 'गोदान' में वे एकाधिक स्थलों पर बनाव-शृंगार के प्रति स्त्री की अभिरुचि को बेहद गर्हित दृष्टि से देखते हैं। स्त्री को मानवीय आकांक्षाओं और प्रकृति से काट कर पुरुष मन्तव्यों, अग्निपरीक्षाओं और लक्ष्मणरेखाओं में ढाल कर मनवांछित आकार देने की यह आदिम पुरुष मनोवृत्ति स्त्री के विषय में भ्रामक धारणाओं का जाल बुनती है कि रूप का जाल फैला कर स्त्री पुरुष का आखेट करती है; कि ''मन के संस्कार और भोग लालसा ही औरतों को वेश्या बनाते हैं। (पृ. 302) कहना न होगा कि ठीक यहीं इस स्थल पर यह आदिम पुरुष मनोवृत्ति अपनी कामुकता और लम्पटता की ओर आंख उठा कर देखना भी नहीं चाहती, बल्कि वृद्धावस्था में युवा पत्नी के लिए ललचाते पुरुष में 'स्निग्धता' के दर्शन करती है और वृद्ध

विवाह, बहुविवाह प्रथा को परम्परा और कुलीनता के नाम पर चलाए/जिलाए रखती है। उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द स्त्री को खिलौना मानने वाले पुरुषों की लम्पट वृत्ति की खबर नहीं लेते, बल्कि 'खिलौने' से खेलने की उनकी बालसुलभ चपलता पर लट्टू हैं। खन्ना विनयी भाव से पौरुष का उद्घाटन कर रहा है, मेहता और मिर्जा खुर्शेद के लिए स्त्री मनोरंजन की वस्तु है। ग्रामीण परिवेश में यह पुरुष रखैल रख रहा है तो शहर में मुक्त भोग की वकालत कर रहा है। सम्भवतया यहां इस तथ्य का उल्लेख बिल्कुल जरूरी नहीं कि शिवरानी देवी से मधुर सम्बन्ध होते हुए भी प्रेमचन्द ने एक स्त्री 'रखी' हुई थी और मृत्युशैया पर क्षमायाचना करते हुए यह सूचना उन्होंने शिवरानी देवी को दी, लेकिन रचयिता की दृष्टि से यह तथ्य प्रेमचन्द की सीमा समझने का एक पुष्ट आधार अवश्य देता है कि क्यों वे चाहते हुए भी स्त्री मानस और स्त्री प्रश्नों पर स्त्री तड़प और स्त्री दृष्टि के साथ विचार नहीं कर सके। यहां मेहता की एक 'आन्तरिक' इच्छा को उद्धृत करना बेहद जरूरी जान पड़ता है कि "अगर कोई पुरुष मेरे और मेरी स्त्री के बीच में आने का साहस करे तो मैं उसे गोली मार दूंगा और उसे न मार सकूंगा तो अपनी छाती में मार लूंगा। इसी तरह अगर मैं किसी स्त्री को अपने और अपनी स्त्री के बीच में लाना चाहूं तो मेरी पत्नी को भी अधिकार है कि वह जो चाहे, करे। इस विषय में मैं कोई समझौता नहीं कर सकता। यह अवैज्ञानिक मनोवृत्ति है जो हमने अपने बनैले पूर्वजों से पायी है और आजकल कुछ लोग इसे असभ्य और असामाजिक व्यवहार कहेंगे, लेकिन मैं अभी तक उस मनोवृत्ति पर विजय नहीं पा सका और न पाना चाहता हूं। इस विषय में कानून की परवाह नहीं करता। मेरे घर में मेरा कानून है।" (पृ. 153)

सवाल उठता है कि 'मेरा घर', 'मेरा कानून' का यह अराजक सिद्धान्त क्या किसी भी रचयिता के प्रतिनिधि पात्र/प्रवक्ता का सत्य होना चाहिए? प्रेमचन्द सरल और ईमानदार हैं कि वे अपने मनोभावों को ढांपने का छल नहीं जानते, लेकिन क्या यह सच नहीं कि 'मेरा घर', 'मेरा कानून' का यह अराजक सिद्धान्त ही समान अभिरुचियों वाले समाज का सामाजिक अनुमोदन पाकर आज ऑनर किलिंग का रूप ले रहा है? क्या यह अनैतिक नहीं कि लिंग के आधार पर विभाजन, विषमता और उत्पीड़न का पोषण करती सामन्ती मानसिकता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की रक्षा में एक गहरी अर्थगर्भित चुप्पी साध ली जाए? स्त्री को थोड़ी सी करुणा, थोड़ी सी ढील, थोड़ा सा ममत्व और थोड़े से अधिकार देते हुए उसे 'स्वाधीन' होने का भ्रम देकर 'पालतू' (कैदी) बना लिया जाए?

हो सकता है इस विश्लेषण में बहुतों को मेरे 'कुपढ़' होने की बू आए। मेरा यह कथन उन्हें आहत कर सकता है कि नैतिकता के दोहरे मानदंडों के प्रति मेहता सहित ग्रामीण समाज की मूक-मुखर सहमति दिखा कर प्रेमचन्द अनायास इस अमानवीय व्यवस्था का समर्थन करते दीखते हैं और यही मूक/विवश/विकल्पहीन समर्थन समय के साथ खाद-पानी पाकर ऑनर किलिंग का रूप ले बैठता है। हो

सकता है वे मेरी दृष्टि को निर्देशित करने की जुगत में मुझे यह देखने का 'विवेक' भी दें कि प्रेमचन्द ही ऑनर किलिंग जैसी समस्या की जड़ों की ओर देखने वाले दूरदृष्टि एवं अन्तर्दृष्टि सम्पन्न पहले कथाकार थे। सम्भव है! मैं कुछ भी स्वीकारने से पूर्व बस एक ही सवाल करना चाहती हूं कि प्रेमचन्द ने स्वयं या किसी पात्र की आड़ में नैतिकता के दोहरे मानदंडों का प्रबल पुरजोर विरोध क्यों नहीं किया? स्त्री को हांक कर पशुओं के बाड़े में बन्द करता यह चाबुक समर्थों के हाथ से छीना न भी जा सके, छीनने की कोशिश तो की ही जानी चाहिए थी। प्रेमचन्द की समस्या है कि वे स्याह-सफेद में अपने मन्तव्यों को व्यक्त करते हैं - खूब मुखर और वाचाल होकर; दो और दो चार समझाने वाली अध्यापकीय मुद्रा में। वे पात्रों, परिस्थितियों और परिवेश को खुद अपना दर्द बयान नहीं करने देते, दर्द को खुद आंसू बहाने नहीं देते, आंसुओं के खारेपन को नुकीला सवाल बना कर पाठकों के अन्तस्तल को बींधने नहीं देते, जैसे रेणु 'मैला आंचल' में करते हैं। महन्त की छत्रछाया में 'कांपती' 'लुटती' अरक्षणीया लछमी की पीड़ा में विवशता के घुटे आंसू नहीं, संघर्ष की प्रचंड ज्वाला है। यदि प्रेमचन्द चुप्पियों को बोलने देते तो शायद स्त्री मानस को देखने का अवसर भी पा जाते। मौन हाहाकार के बीच धधकता ज्वालामुखी - यही तो है स्त्री मानस!

"मैं ऐसी बीवी नहीं चाहता, जिससे मैं आइंस्टीन के सिद्धांत पर बहस कर सकूं या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे" यानी "नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र।"

प्रेमचन्द के पुरुष पात्र सामन्ती मनोवृत्तियों से सिरजे औसत भारतीय पुरुष हैं। स्त्री को समझने की संवेदना उनमें नहीं है। अलबत्ता मालती अपने सर्जक और औसत भारतीय पुरुष दोनों को खूब समझती है। मालती धनिया का विलोम नहीं, लेकिन उससे भिन्न तो है ही। भिन्न इसलिए कि अपनी मुखर वैचारिकता, खुली दृष्टि, ऊँची शिक्षा, आर्थिक स्वालम्बन के कारण उसने अपने व्यक्तित्व को ही नहीं गढ़ा, रुचियों-प्राथमिकताओं, आकांक्षाओं-दायित्वों और सपनों की एक लम्बी फेहरिस्त भी तैयार की है। धनिया की तरह अथक श्रम करने के बावजूद वह न अपने श्रम को अलक्षित होने देती है, न उस पर किसी के मालिकाना अधिकार को सहती है। स्वतन्त्र निर्णय लेने का विवेक, गत्यात्मकता और सोशल एक्सपोजर उसे नैतिक वर्जनाओं और सांस्कृतिक-सामाजिक कुरीतियों के पंजे से निकलना सिखाते हैं। वह कर्त्ता है, अपनी शर्तों पर जीवन जीने की अभ्यस्त, शायद इसीलिए सभी की आंख का कांटा। पं. ओंकारनाथ की तरह सभी उसी को पानी पी-पी कर कोस रहे हैं कि 'बहत्तर घाटों का पानी पी कर भी मिस बनी घूमती है'; कि 'धन और भोग विलास को जीवन का लक्ष्य' बना लेने वाली यह तितली क्या खाकर लिखेगी। लिखने के लिए चाहिए दर्द, विचार, अनुराग और लगन। प्रेमचन्द की तरह उनके पात्रों की सबसे बड़ी दुर्बलता है अधीरता और बिना सोचे-समझे फतवे देने की आदत। सवाल

है कि मालती को 'कोसने' (लेकिन मन ही मन हर 'मालती' को भोगने की चाहना रखने) वाले कितने पुरुषों ने उसे नजदीक से देखा और समझा है? वह इसलिए 'बुरी' है कि जंगल में मिली वनकन्या की भांति गूंगी गुड़िया बन कर उनके इशारों पर नहीं चलती, बल्कि ऐसी व्यक्तित्वहीन, मूढ़ स्त्री की अभ्यर्थना में तल्लीन पुरुष की स्वार्थी दृष्टि को भी उधेड़ कर रख देती है कि ''ऐसी ही लौंडिया मर्दों को पसन्द आती हैं, जिनमें और कोई गुण हो या न हो, उनकी टहल दौड़-दौड़ कर प्रसन्न मन से करें और अपना भाग्य सराहें कि इस पुरुष ने मुझसे यह काम करने को कहा। वह देवियां हैं, शक्तियां हैं, विभूतियां हैं। मैं समझती थी, वह पुरुषत्व तुममें कम से कम नहीं है, लेकिन अन्दर से तुम भी यही बर्बर हो।'' (पृ. 80)

मैं यहां फिर शिवरानी देवी की पुस्तक 'प्रेमचन्द : घर में' से एक उद्धरण देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही हूं। प्रेमचन्द किसी भी औसत गृहस्थ भारतीय की तरह शराब पीकर देर रात लड़खड़ाते घर लौटे हैं। शिवरानी देवी अवाक्! लेकिन हत्बुद्धि नहीं! वे उन्हें उनकी सीमाओं का स्मरण करा देना चाहती हैं, सख्ती से—''आइंदा आप अगर फिर पीकर आए तो मैं जागती हुई भी दरवाजा न खोलूंगी।'' चार-पांच दिन बाद फिर वही, लेकिन इस बार रात के डेढ़ बजे नहीं, आठ बजे लौटे। नशा इतना कि दो बार कै हुई। शिवरानी देवी सहायता के लिए उठी ही नहीं। उठी उनकी भावज। सुबह प्रेमचन्द ने शिकायती स्वर में किस्सा बयान कर जवाब तलब किया, ''रात को मेरी यह हालत थी। तुम कहां थीं?'' शिवरानी देवी ने क्रोध और आवेश दोनों पर संयम रख संयत स्वर में बस इतना ही कहा, ''मैं इन आदतों के फेर में पड़ने वाली नहीं। मैं उसी दिन आपसे कह चुकी हूं।'' (शिवरानी देवी, 'प्रेमचन्द : घर में', पृ. 76) तो क्या धीरज और जीवट वाली इस स्त्री से भयभीत हैं प्रेमचन्द? शायद!! इसीलिए तो मेहता विवेकशील स्वतन्त्र निर्णयसम्पन्न स्त्री का तिरस्कार करने में जमीन-आसमान एक कर देता है कि ''मैं ऐसी बीवी नहीं चाहता जिससे मैं आइंस्टीन के सिद्धान्त पर बहस कर सकूं या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे। मैं ऐसी औरत चाहता हूं जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से।'' (पृ. 135); कि ''नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा हो जाती है। पुरुष आकर्षित होता है स्त्री की ओर जो सर्वांश में स्त्री हो''; कि ''मेरे जेहन में औरत वफा और त्याग की मूर्ति है जो अपनी बेजबानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिल्कुल मिटा कर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है''; कि ''हमारी उन्नत विचारों वाली देवियां उस दया और श्रद्धा और त्याग के जीवन से असन्तुष्ट होकर संग्राम और कलह और हिंसा के जीवन की ओर दौड़ी रही हैं और आप समझ रही हैं कि यही सुख का स्वर्ग है तो मैं उन्हें बधाई नहीं दे सकता''; कि ''स्त्री को पुरुष के रूप में, पुरुष के कर्म में रत देख कर मुझे उसी तरह वेदना होती है जैसे पुरुष को स्त्री के रूप में, स्त्री के कर्म करते देख कर।... ऐसी स्त्री पुरुष के प्रेम और श्रद्धा की पात्र नहीं बन सकती।'' (पृ. 146) इतनी-इतनी दलीलें

देकर पसीने-पसीने होते मेहता से मालती का सिर्फ एक सवाल है, ''सारा उपदेश गरीब नारियों के ही सिर पर क्यों थोपा जाता है? उन्हीं के सिर क्यों आदर्श और मर्यादा और त्याग सब कुछ पालन करने का भार पटका जाता है?'' (पृ. 151) जाहिर है इस सवाल के जवाब में मेहता और प्रेमचन्द दोनों के पास भारी चुप्पी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं, लेकिन यह चुप्पी लाज ढांपती नहीं, राज उघाड़ती है।

इसलिए ताज्जुब नहीं होता कि मेहता और प्रेमचन्द दोनों शुरु से ही मालती के पीछे लट्ठ लिए घूम रहे हैं। मेहता को प्रारम्भिक बातचीत के दौरान अहसास होता है कि 'इस रमणी में विचार की शक्ति भी है, केवल तितली नहीं (और विचारशील स्त्री से पुरुष हमेशा भयभीत रहता है। इसलिए उसे दबाने-मारने की सौ-सौ तदबीरें) और प्रेमचन्द जानते हैं कि लकवाग्रस्त निकम्मे व्यसनी पिता के परिवार का खर्चा वह डॉक्टरी की प्रैक्टिस करके ही चलाती है। विजिट करेगी तो फीस लेगी ही। घोड़ा घास से यारी करेगा तो खाएगा क्या। एक करेला दूसरा नीम चढ़ा। विचारशील भी और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर भी। रोटी का भय दिखा कर उसे लतियाया कैसे जाए? अपने भीतर की इस कुंठा को प्रत्यक्ष करके कि ''नये युग की देवियों की यही सिफत है। वह मर्द का आश्रय नहीं चाहती, उससे कन्धा मिला कर चलना चाहती हैं।'' (पृ. 71) या फिर उस पर तोहमत लगा कर कि वह प्रेम नहीं कर सकती और कि ''अपनी जीवनसंगिनी में जो बात देखना चाहता हूं, वह उसमें नहीं है और न शायद हो सकती है।'' (पृ. 134) दूसरा आरोप घोर वैयक्तिक दुराग्रह है, मालती भला इस पर क्या टिप्पणी करे, लेकिन पहले आरोप का मुंहतोड़ जवाब उसके पास है - आरोप की उसी तमतमाती मुद्रा में कि, ''झूठे हो तुम! बिल्कुल झूठे। मुझे तुम्हारा यह दावा निस्सार महसूस होता है कि तुम नारी हृदय तक पहुंच जाते हो।'' (पृ. 74) औंधे मुंह धूल चाटता मेहता अब आखिरी तुरुप की चाल निकालता है, ''नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र।'' यह मालती की कमजोर नस है। मातृत्व तक पहुँचने के लिए पत्नीत्व की अग्निपरीक्षा से उसे गुजरना होगा और पत्नीत्व (मेहता की अर्धांगिनी) का 'दुर्लभ आसन' गोविन्दी के चरणों में बैठ कर नारी धर्म सीखने के बाद ही मिलना सम्भव होगा। मेहता दो विपरीत नक्षत्रों को आमने-सामने की टक्कर के लिए पाले में ले आया है। शक्ति असन्तुलन इतना कि गोविन्दी के पक्ष में वह स्वयं ही नहीं खड़ा, लेखक भी संग-साथ हैं। मेहता और प्रेमचन्द सुर में सुर मिला कर गोविन्दी की स्तुति में जुटे हैं, जैसे मालती को निरस्त करने के लिए वनकन्या की प्रशंसा में कसीदे काढ़ रहे थे। अकेली मालती क्यों, उस सरीखी पढ़ी-लिखी, आत्मनिर्भर, आधुनिक चेतस महिलाओं पर भी दोनों की वक्र दृष्टि केन्द्रित है। उन्हें भय है कि ये स्त्रियां भोली-भाली, बेजबान भारतीय स्त्रियों को बरगला कर पुरुष देवता के खिलाफ खड़ा कर देंगी। न, भय नहीं, विश्वास। इसी विश्वास की दारुण परिणति के लिए वे रायबहादुर की बेजबान अट्ठारह वर्षीया बेटी मीनाक्षी के कायान्तरण की 'खूंखार' कहानी कहते हैं, जो तीस वर्षीय दुहाजू

व्यसनी कुंवर दिग्विजयसिंह से ब्याही जाने के बाद नारकीय जीवन जी रही है - साधारण हिन्दू बालिकाओं की तरह, लेकिन स्थिति में मोड़ तब आया जब ''पत्रों में स्त्रियों के अधिकारों की चर्चा पढ़-पढ़ कर उसकी आंखें खुलने लगीं।'' मीनाक्षी की खुली आंखों ने जो देखा, उसे प्रेमचन्द साफ-साफ 'पुरुषों के विरुद्ध षड्यंत्र' का नाम देते हैं। उन्हीं के शब्दों में—मीनाक्षी ''जनाना क्लब में आने-जाने लगी। वहां कितनी ही शिक्षित ऊँचे कुल की महिलाएं आती थीं। उनमें वोट और अधिकार और स्वाधीनता और नारी जागृति की खूब चर्चा होती थी, जैसे पुरुषों के विरुद्ध कोई षड्यंत्र रचा जा रहा हो। अधिकतर वही देवियां थीं, जिनकी अपने पुरुषों से न पटती थी, जो नयी शिक्षा पाने के कारण पुरानी मर्यादाओं को तोड़ डालना चाहती थीं। कई युवतियां भी थीं जो डिग्रियां ले चुकी थीं और विवाहित जीवन को आत्मसम्मान के लिए घातक समझ कर नौकरियों की तलाश में थीं। उन्हीं की सलाह से मीनाक्षी ने पति पर गुजारे का दावा किया... वह एक अलग कोठी में रहती थी और समष्टिवादी आन्दोलन में प्रमुख भाग लेती थी, पर वह जलन शान्त न होती थी। एक दिन वह क्रोध में आकर हंटर लिए दिग्विजयसिंह के बंगले पर पहुंची... उसने उन पर सड़ासड़ हंटर बरसाने शुरू किए और इतना मारा कि कुंवर साहब बेदम हो गए।'' (पृ. 299)

मीनाक्षी रायबहादुर की पुत्री है, प्रेमचन्द की पात्र नहीं। इसलिए उपन्यास के महज दो पृष्ठों में वे उसे हंटरवाली स्त्री बना कर स्त्री मुक्ति आन्दोलन के नकारात्मक प्रभावों का आकलन करते हैं। जब प्रमुख पात्र मालती के मन को पढ़ने का अवकाश उनके पास नहीं तो मीनाक्षी की पीड़ा, प्रतिशोध, अपमान और विवशता-विकलता के बीच डूबती-उतराती जिन्दगी को जीने की नैसर्गिक अभिलाषा का पाठ वे कैसे करते? अलबत्ता मीनाक्षी के जरिए वे शिवरानी देवी की कहानी 'समझौता' में पति-पत्नी के बीच होने वाली बहस का जवाब देने की कोशिश करते हैं। यूं मेहता के सुदीर्घ भाषण में भी उसी कहानी की नायिका को परास्त कर देने की बौद्धिक कवायदें हैं। 'समझौता' कहानी का हर पाठ सदा एक ही मानस-बिम्ब रचता रहा है कि प्रेमचन्द और शिवरानी देवी अपनी-अपनी मान्यताओं और आग्रहों के साथ स्वतन्त्र भारत में स्त्री की स्थिति, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की संरचना और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के स्वरूप पर वाद-विवाद कर रहे हैं—यथास्थितिवादी दृष्टिकोण के बरक्स प्रगतिशील दृष्टिकोण; 'अन्या' रूप में स्त्री के अस्तित्व की स्वीकृति के बरक्स स्त्री की मानवीय गरिमा और अधिकारों की कानूनी और नैतिक स्वीकृति। कुछ संवाद अवलोकनीय हैं—

ललिता : ''स्त्री और पुरुष दोनों के हक हर एक बात में बराबर हों। रत्ती भर का भी फर्क न हो। पिता की सम्पत्ति, पति की सम्पत्ति या ससुर की सम्पत्ति पर स्त्री का उतना ही हक हो, जितना पुरुष का होता है। सरकारी नौकरियां दोनों को बराबर मिलें, कौंसिल में स्थान भी बराबर हों, राय देने का अधिकार भी बराबर हो। सन्तान पर भी स्त्री का अधिकार पुरुष के बराबर हो और अपने धर्म और

देह पर भी उसका अपना अधिकार हो - उसी तरह जैसे पुरुष का अधिकार अपनी देह और धर्म पर होता है। स्त्रियां यह कभी स्वीकार न करेंगी कि पुरुष का जो धर्म हो, वही धर्म उन्हें भी मानना पड़े या पिता-माता उसे जिसको चाहे, दान दे दें।''

मोहन : ''इसका अर्थ यह हुआ कि तुम लोगों पर भी पच्छिम का जादू चल गया और तुम भी हकों के लिए लड़ने पर तैयार हो गयीं। स्त्री का महत्त्व और बड़प्पन इसी बात में है कि वह माता है और माता का गुण है त्याग और उत्सर्ग। अगर स्त्री उस पद को त्याग कर पुरुषों के बराबर आना चाहती है तो शौक से आवे, लेकिन उसे बहुत जल्द मालूम हो जाएगा कि इन हकों को लेकर उसने महंगा सौदा किया है।... जब उस तरह के अधिकार की बात आवेगी तो पुरुष भी कहेगा -तुम भी हमारे बराबर काम करो।''

ललिता : ''स्त्रियां जितने त्याग से काम कर सकती हैं, पुरुष नहीं कर सकते; लेकिन तब बच्चे आप ही पैदा कीजिएगा और घर के सब काम-काज भी आपको करने पड़ेंगे।'' ('समझौता', पृ. 152)

यह स्त्री स्वतन्त्र भारत में वेश्यावृत्ति का उन्मूलन करने को कटिबद्ध है, ''जरा स्वराज्य मिलने दो, फिर देखूंगी कैसे चकले आबाद होते हैं?'' और बहुविवाह प्रथा को कानूनन निषिद्ध करवाने के लिए भी, ''चालीस वर्ष के बाद कोई बूढ़ा विवाह न कर सकेगा। अगर अपनी स्त्री के रहते कोई पुरुष किसी दूसरी रमणी से कुत्सित प्रेम करेगा, तो दोनों को सात-सात साल की कड़ी सजा दी जाएगी। जो पुरुष अपनी स्त्री को छोड़ देगा, उसे अपनी आमदनी का तीन-चौथाई स्त्री को देना पड़ेगा। यदि स्त्री पुरुष को छोड़े तो उसे उस पर कोई हक न रहेगा; अपना कमाय खाय। न पुरुष को दूसरा ब्याह करने की स्वाधीनता होगी, न स्त्री को।'' (वही, पृ. 158-159)

'आधी दुनिया' के लिए 'आधी जमीन और आधे आसमान' की पैरवी करती यह स्त्री नौकरियों में 'आधी जगहें' लेकर आर्थिक स्वाधीनता अर्जित करना चाहती है, ''नौकरी करना आसान है या मुश्किल, इसके बारे में स्त्रियां आप लोगों की राय नहीं पूछने जातीं। वे यह जानती हैं कि बिना मुश्किल काम किए उनका यथार्थ आदर नहीं हो सकता। इसीलिए अब वह आसान काम छोड़ कर मुश्किल काम करेंगी। जब पुरुषों को घर के आसान काम करने का तजरबा हो जाएगा, तब उन्हें स्त्रियों की कदर मालूम होगी। अगर पुरुष मुश्किल काम कर सकता है तो स्त्री भी कर सकती है।'' (पृ. 158)

यहीं अनायास यह प्रतीति भी होती है कि 'समझौता' की नायिका ललिता को पटकनी देने के लिए ही तो कहीं प्रेमचन्द ने जबरन मालती के व्यक्तित्व को यू-टर्न देकर उसे पालतू गाय नहीं बना लिया है? ''मेहता ने ठुकरा कर मालती की आत्मशक्ति को जगा दिया है' - प्रेमचन्द कहते हैं और गोबर-झुनिया के चेचकग्रस्त बीमार बेटे मंगल की तीमारदारी में दिन-रात बौराई सी मालती (मातृ छवि) की अभ्यर्थना में अभिमानी मेहता अलौकिक सुख से भर उठा है, ''जब मैंने उसे हाथ बढ़ाकर उसे

पकड़ना चाहा तो देखा, वह आसमान में जा बैठी है। उस ऊँचाई तक तो क्या मैं पहुँचूंगा, आरजू-मिन्नत कर रहा हूं कि नीचे आ जाए।'' (पृ. 304) मालती ने विवाहाकांक्षी मेहता के विवाह-प्रस्ताव को ठुकरा दिया है, लेकिन मेहता और प्रेमचन्द दोनों को इसका जरा भी रंज नहीं, क्योंकि आत्मदान का पाठ पढ़ कर अब वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था के दमनकारी स्वरूप की मुखालफत नहीं करेगी। बेहद चतुराई से दोनों ने मिल कर उसकी चेतना, जागृति, आत्मनिर्भरता, निर्णयकुशलता और विश्लेषणात्मक विवेक को समकालीन सामाजिक सन्दर्भों से काट दिया है। वह मनुष्यता की सेवा के अमूर्त आइडिया के प्रति समर्पित हो चुकी है और लेखक उसके कसीदे काढ़ने में व्यस्त–'मालती नारीत्व के उस ऊँचे आदर्श पर पहुंच गयी थी जहां वह प्रकाश के एक नक्षत्र सी नजर आती थी। अब वह प्रेम की वस्तु नहीं, श्रद्धा की वस्तु थी।'' (पृ. 314) मैं घनघोर विरक्ति और आपत्ति के साथ अन्तिम पंक्ति–''अब वह प्रेम की वस्तु नहीं, श्रद्धा की वस्तु थी''–को रेखांकित करते हुए तीन शब्दों पर विचार करना चाहती हूं–वस्तु, प्रेम, श्रद्धा। तो क्या धनिया हो या मालती, ग्रामीणा हो या शहरी स्त्री, पराश्रिता हो या आत्मनिर्भर, परम्परावादी हो या प्रगतिशील–स्त्री हमेशा वस्तु ही रहेगी उनकी नजर में? मनुष्य का दर्जा क्या कभी नहीं पा सकेगी? हां, वस्तु के साथ विशेषण बदल जाने से उसके मूल्य में परिवर्तन जरूर आ जाएगा? प्रेम की वस्तु यानी भोग्या स्त्री-मात्र देह! श्रद्धा की वस्तु यानी देवी–पत्थर की तरह निस्पन्द या आइडिया की तरह अमूर्त!

हो सकता है मालती के हृदय परिवर्तन के पीछे प्रेमचन्द पर गांधीजी के प्रभाव का जादू सिर चढ़ कर बोल रहा हो। राजनीतिक एवं समाज सुधार आन्दोलन में स्त्री को पुरुष की अनुयायी बना कर गांधी जी उसके लिए अलग कर्मक्षेत्र की नियोजना करते हैं। वे ब्रह्मचर्य के अनन्य पुजारी हैं, इसलिए विवाह उनके सिद्धान्त के आड़े आता है। मनुष्य की सेवा के लिए अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को होम कर देना गांधीवादी दर्शन का सत्व है। क्या इसीलिए जीवन में ओज, ऊर्जा, सौन्दर्य, गति और सक्रियता से भरी मालती अपनी प्रकृति के विरुद्ध जाकर सब कुछ एक महत् उद्देश्य को समर्पित कर देती है–''मित्र बन कर रहना स्त्री-पुरुष बन कर रहने से कहीं सुखकर है।... हमारी पूर्णता के लिए, हमारी आत्मा के विकास के लिए और क्या चाहिए?... अपनी छोटी सी गृहस्थी बना कर अपनी आत्माओं को छोटे से पिंजड़े में बन्द करके, अपने सुख-दुख को अपने ही तक रख कर क्या हम असीम के निकट पहुंच सकते हैं?'' (पृ. 315) लेकिन मालती के इन शब्दों पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। यह मालती का अकृत्रिम परिचय नहीं, औदात्य का ओढ़ाया गया आवरण है, ठीक वैसे जैसे जबरन विधवा को ढोल-नगाड़ों और यज्ञ-धूम के बीच सती कर दिया जाता है। मालती को आइडिया (श्रद्धा की वस्तु) बना कर भले ही प्रेमचन्द फूले न समा रहे हों, किन्तु स्वयं उनकी गिरत में जकड़ी मालती निस्पन्द हो वहीं ढह जाती है। वह मनुष्य नहीं, लेखकीय दृष्टि की प्रतिच्छाया है। हां, मालती

(नयी स्त्री) की वैचारिक आक्रामकता को पूरे उत्कर्ष पर देखना हो तो शिवरानी देवी की कहानियों को पढ़ा जा सकता है या नैतिकता की तंग हदबन्दियों का अतिक्रमण करते स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की महीन बुनावट और उनकी सघन संवेदनशील तरलता को जानना हो तो सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियों का पाठ जरूरी हो जाता है।

''सारा उपदेश गरीब नारियों के ही सिर पर क्यों थोपा जाता है? उन्हीं के सिर क्यों आदर्श और मर्यादा और त्याग, सब कुछ पालन करने का भार पटका जाता है?''

गोविन्दी को लेकर बेशक मेहता और प्रेमचन्द दोनों आदर्श अनुकरणीय स्त्री छवि रचने की बात करते हों, लेकिन गोविन्दी (जिसे उपन्यास के प्रारम्भिक पृष्ठों में कामिनी कहा गया है) के व्यक्तित्व का सूक्ष्म विश्लेषण उसे मालती की तुलना में हर कदम पर बौना साबित करता है। मुंहजोर चपल-चंचल-खुशमिजाज-आत्मनिर्भर मालती के सामने गोविन्दी गम्भीर, उदास, सादगी से परिपूर्ण आत्मसंकुचित महिला है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि दुख को सौन्दर्य प्रसाधन की तरह चेहरे पर पोत कर वह पुरुष के हृदय में करुणा उपजाने की कला जानती है। वह रोती है (आंसू स्त्री की सामाजिक-मानसिक-भावनात्मक दुर्बलता का डंका पीटते हैं) और पुरुष अपने सामर्थ्य के जोश में बल्लियों उछल कर उसके आंसू पोंछ डालना चाहता है। रोती हुई स्त्री उसके पौरुष-बल एवं अहं को दुगुना करती है। फिर यदि इस रुदन का कारण 'परस्त्री' हो तो कहने ही क्या? घर की लक्ष्मण रेखा से बाहर निकल कर पुरुष पर डोरे डालने वाली हर 'कुलटा' को मजा चखाने के लिए उसकी बाहें फड़कने लगती हैं। गोविन्दी की आर्त्त पुकार, ''मालती से मेरा उद्धार कीजिए। इस मायाविनी के हाथों मिटी जा रही हूं'' - ने मेहता के कर्त्तव्य पथ को निर्धारित कर दिया है, लेकिन यहां एक समानान्तर स्थिति की कल्पना करने को जी चाहता है। यदि मेहता विवाहित होता और उसकी पत्नी अपने पति को दिन-रात किसी मिसेज गोविन्दी खन्ना के आंसू पोंछते और सराहते देखती-सुनती तो क्या वह स्वयं गोविन्दी की ही तरह असुरक्षित होकर किसी 'मेहता' (अन्य पुरुष) के कन्धे को तलाशते हुए परित्राण की यही आर्त्त पुकार न लगाती? क्या गोविन्दी के तमाम महिमामंडित पातिव्रत्य को ठेंगा दिखाती हुई वह दूध की जली मेहता-पत्नी गोविन्दी पर ठीक वही लांछन न लगाती, जो गोविंदी मालती पर लगा रही है, ''मेरी दृष्टि में वह वेश्याओं से भी गयी बीती है, क्योंकि वह परदे की आड़ से शिकार खेलती है।'' (पृ. 176)

लेकिन शायद असम्भाव्य कल्पना द्वारा किसी की तुलना या मूल्यांकन सही नहीं। मैं मेहता-पत्नी की सम्भावना को वहीं छोड़ गोविन्दी की स्टेटमेंट्स खंगालने लगती हूं। खन्ना की बेवफाई से क्षुब्ध गोविन्दी घर छोड़ने का निर्णय लेती है, ''दिखा देगी कि वह उनके आश्रय से निकल कर भी जिन्दा रह सकती है।''

कैसे?

जिन्दा रहने के लिए सिर्फ सांस लेना जरूरी नहीं होता। भौतिक जरूरतों के लिए सख्त भौतिक धरातल और तरल भौतिक मुद्रा भी जरूरी होती है। इसके लिए

जरूरी है रोजगार। रोजगार के लिए जरूरी है श्रम - कुशल-अकुशल श्रम और बाहर की दुनिया में अपने वजूद को टिकाए रखने की ताकत। गोविन्दी के पास ऐसे 'अँधेरे' और पसीने से लबालब भविष्य का कोई ड्राट नहीं। बस, धुंधला सा ख्याल है, ''गांधी आश्रम से चीजें लेकर बेचना शुरू कर देगी। शर्म किस बात की?'' न, ख्याल को अमलीजामा नहीं पहना सकती वह, क्योंकि ''शर्म किस बात की'' जैसी 'साहस' भरी उक्ति कहने की बाध्यता ने ही उसे भीरु और दुर्बल बना दिया है, ''लोग उंगली दिखा कर कहेंगे—वह जा रही है खन्ना की बीवी; लेकिन इस शहर में रहूं क्यों? किसी दूसरे शहर में क्यों न चली जाऊँ, जहां मुझे कोई जानता ही न हो। दस-बीस रुपए कमा लेना ऐसा क्या मुश्किल है। अपने पसीने की कमाई तो खाऊँगी, फिर तो कोई मुझ पर रौब न जमाएगा। यह महाशय इसीलिए तो इतना मिजाज करते हैं कि वह मेरा पालन करते हैं। मैं अब खूब अपना पालन करुंगी।'' (पृ. 178) अपना पेट पालने के लिए गोविन्दी ने अभी घर से बाहर कदम नहीं बढ़ाया है, लेकिन बाहर निकलने और पेट पालने की दिक्कतें भयावह रूप धर कर उसके सामने आ खड़ी हुई हैं। उत्कंठा जगती है प्रेमचन्द ने अपनी इस प्रिय पात्र के आत्मसम्मान को बचाए रखने के लिए क्या राह सुझायी? शीघ्र ही उसकी भेंट प्रोफेसर एवं दार्शनिक मेहता से होने जा रही है। गुप्तदान द्वारा जाने कितनी देवियों को डूबने से बचाने वाला यह 'मसीहा' जरूर गोविन्दी सरीखी पति-प्रताड़िताओं को आर्थिक-भावनात्मक स्वावलम्बन की राह दिखाएगा - मन में अटल विश्वस है, लेकिन मेहता-गोविन्दी की यह मीटिंग मालती-निन्दा बनाम गोविन्दी स्तुति तथा स्त्री सुबोधिनी की उपदेशात्मकता में समाप्त हो जाती है। गोविन्दी को घर लौटने की सलाह—पुनः मूषको भव— साथ में बेहतरी का सतरंगा आश्वासन, ''आप मि. खन्ना के विषय में इतना ही समझ लें कि वह अपने होश में नहीं हैं। वह जो कुछ कहते हैं या करते हैं, वह उन्माद की दशा में करते हैं, मगर वह उन्माद शान्त होने में बहुत दिन न लगेंगे, और वह समय बहुत जल्द आएगा, जब वह आपको इष्टदेवी समझेंगे।'' (पृ. 183) सचमुच सीमोन द बउवा ठीक कहती हैं कि पुरुष-पुरुष के विरुद्ध कभी जा ही नहीं सकता, क्योंकि सत्ता को बचाने और असन्तुष्टों को मनाने की राजनीति हर देश-काल में एक सी हुआ करती है। समझ नहीं आता कि तलाक जैसे अधिकार का मुखर विरोध करने वाला मेहता क्यों स्त्री की नौकरी और घर से बाहर उसकी स्वतन्त्र दुनिया के विकल्प को लेकर मौन है? खासकर तब जब उस समय के समाज में नौकरीपेशा स्त्री कोई अजूबा नहीं रह गयी थी। क्या 'मूढ़' गोविन्दी समझ पायी होगी कि मेहता और प्रेमचन्द दोनों उसका 'उपयोग' कर उसे आत्मधिक्कार और हताशा की दलदल में छटपटाते रहने को छोड़ गए हैं? तो क्या वह मान ले कि स्त्री 'उपयोग' और 'उपभोग' की जाने वाली वस्तु मात्र है? मनुष्य नहीं? यदि उसका दमित अहं और लावा बन कर फूटता आत्मसम्मान अपने लिए निष्कृति के मार्ग पाना चाहता है तो यकीनन उसे अपनी ही अन्तःशक्तियों को खंगालना और थहाना होगा, क्योंकि अपनी

लड़ाई खुद अपने हाथ और हथियारों से लड़ी जाती है। तो क्या उसे उपन्यास के पूर्वार्द्ध की मालती से बहनापा गांठ कर 'नारी धर्म' (मनुष्य की गरिमा की रक्षा का संकल्प) का पाठ पढ़ना होगा?

मालती के सम्पर्क में आने के बाद गोविन्दी जान जाती कि कोई भी स्त्री रूप का बाजार लगा कर नहीं बैठती। वह चाहती है अपने निजत्व की रक्षा और पहचान। तब शायद गोविन्दी मेहता के ओढ़ाए तमाम रेशमी आवरणों को उतार परे फेंक देती और आंसुओं के प्रवाह में बह जाने वाली संवेदना को विश्लेषण की वैचारिकता में ढाल कर पाती कि स्त्री की 'देवी' छवि जीते हुए भी वह उस छवि के खिलाफ असन्तोष से कसमसाई रहती थी। मेहता के सामने उसने खुल कर अपनी बात कही भी थी, 'कोला' भूल जाइए कि नारी श्रेष्ठ है और सारी जिम्मेदारी उसी पर है, श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है। नारी में सेवा और संयम और कर्त्तव्य सब कुछ वही पैदा कर सकता है; अगर उसमें इन बातों का अभाव है तो नारी में भी अभाव रहेगा। नारियों में आज जो यह विद्रोह है, इसका कारण पुरुष का इन गुणों से शून्य हो जाना है।'' (पृ. 152) यानी सारी चर्चा नारी धर्म पर ही क्यों? पुरुष-कर्त्तव्य पर क्यों नहीं? (ठीक मालती सा सवाल!) दरअसल मालती या गोविन्दी ही नहीं, प्रेमचन्द की स्त्रियां एकमत हो यह सवाल पूछना चाहती हैं और प्रेमचन्द हैं कि बार-बार इसी सवाल से कन्नी काट जाते हैं। नहीं, इसे आरोप की भाषा में क्यों कहा जाए? प्रेमचन्द की स्त्रियां यदि इस सवाल को उठाने का विवेक पा सकी हैं तो इसलिए न कि प्रेमचन्द स्त्री की स्थिति, असन्तोष और सामाजिक उत्पीड़न को समझते हैं। मनुष्य के रूप में अपनी संवेदना का प्रसार करते हुए वे स्त्री प्रश्नों पर विचार भी करना चाहते हैं और विचार की इस प्रक्रिया में जान जाते हैं कि 'जिसके हाथ में लाठी है, वह गरीबों को कुचल का बड़ा आदमी बन जाता है।' उपन्यास दर उपन्यास स्त्री जीवन में नरक रचती समस्याओं को उठा कर वे उन्हें विस्तार से विश्लेषित करते हैं, भरसक समाधान जुटाते हैं और स्त्री के पक्ष में जनमत बनाने की कोशिश करते हैं, लेकिन जैसे ही सिमटी-सिकुड़ी-बिसूरती-अनुगता स्त्री उत्साह से उमड़ कर स्वयं झंडा हाथ में लेकर जलूस का नेतृत्व करने लगती है कि वहीं वे हतबुद्धि से जम जाते हैं। प्रेमचन्द नैतिकता के दोहरे मानदंडों की रक्षा भी करते हैं और पुरुष की लम्पटता से त्रस्त स्त्री को अपने डैनों तले छिपा भी लेना चाहते हैं। दूध बेचने घर-घर जाती झुनिया की देह के लोभी भ्रमरों की वे झुनिया के साथ कस कर पिटाई करते हैं और उन्हें उल्लू बनाने के लिए उनकी ही भाषा में प्रेम का खेल खेलती झुनिया पर उंगली भी नहीं उठाने देते। पुरुष का निर्लज्ज निमन्त्रण झुनिया से कहीं अधिक उन्हें आहत करता है—स्त्री के सतीत्व पर कलंक लगाने के लिए नहीं, मनुष्यता को कलंकित करने के लिए। ''एक प्रेमी का मन रख दोगी तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाएगा, झूना रानी! कभी-कभी गरीबों पर दया किया करो, नहीं तो भगवान पूछेंगे, मैंने तुम्हें इतना रूपधन दिया था, तुमने उससे एक ब्राह्मण का

उपकार भी नहीं किया, तो क्या जवाब दोगी?'' (पृ. 45) ऐसी निर्लज्ज लम्पटता से कैसे लड़ें वे? समस्याओं को उभार कर भाग खड़े होना - क्या यही स्त्री प्रश्नों पर प्रेमचन्द की दृष्टि का मूल सार है? निरुपाय (?) वे वहां से पलायन कर जाते हैं, लेकिन भागते-भागते भी जिन सूत्रों/सवालों की ओर संकेत करते हैं, वे आज भी स्त्री लेखन का आधारभूत ढांचा तैयार करते हैं। मसलन प्रेम एवं समर्पण को नयी अर्थव्यंजनाओं के साथ खोलता झुनिया का कथन, ''सर्बस तो तभी पाओगे जब अपना सर्बस दोगे...जान देने का अरथ है साथ रह कर निबाह करना। एक बार हाथ पकड़ कर उमिर भर निबाह करते रहना, चाहे दुनिया कुछ कहे।'' (पृ. 43); नैतिकता के दोहरे मानदण्डों को नकार कर पुरुष से एकनिष्ठ समर्पण को अधिकारपूर्वक मांगती मांग, ''मर्द का हरजाईपन औरत को भी उतना ही बुरा लगता है, जितना औरत का मर्द को।... यह चाहो कि तुम तो अपने मन की करो और औरत को मार के डर से अपने काबू में रखो, तो यह न होगा। तुम खुले खजाने करते हो, वह छिप कर करेगी।'' (पृ. 46)। मातृत्व की निरर्थक अभ्यर्थना में वक्त जाया करने की अपेक्षा मातृत्व (पितृत्व भी) के दायित्व को समझने का आह्वान, ''क्यों माता ने पुत्र को ऐसी शिक्षा नहीं दी कि वह माता की, स्त्री जाति की पूजा करता? इसलिए कि माता को यह शिक्षा देनी नहीं आती, इसलिए कि उसने अपने को इतना मिटाया कि उसका रूप ही बिगड़ गया, उसका व्यक्तित्व ही नष्ट हो गया।'' (पृ. 285)

ये प्रश्न और कामनाएं पूरी पितृसत्तात्मक व्यवस्था को ही नहीं, सम्बन्धों और व्यक्तियों को देखने की दृष्टि में परिवर्तन की मांग करती हैं। बेशक मेहता में प्रेमचन्द अपने को अभिव्यक्त करते हैं, लेकिन मेहता प्रेमचन्द का सर्वांश नहीं। दार्शनिकता की आड़ में मेहता जैसी अलमस्ती और उत्तरदायित्वहीनता प्रेमचन्द का परिचय नहीं। मेहता कह सकते हैं कि ''मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता।'' (पृ. 182) लेकिन प्रेमचन्द भूत और भविष्य के साथ अनिवार्य रूप से बन्धे वर्तमान को विच्छिन्न कर खंडों और टुकड़ों में व्यक्ति, वक्त और समाज के अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन नहीं कर सकते। मनुष्य को मुकम्मल रूप से जानने के लिए मुकम्मल वक्त और मुकम्मल दृष्टि चाहिए। पूर्वग्रहों में बंधे प्रेमचन्द मुकम्मल दृष्टि पाने का स्वांग नहीं रचते, अपनी दृष्टिगत सीमाओं को उजागर कर प्रबुद्ध पाठक से इन टांकों और दरकनों को पाट लेने का आह्वान करते हैं, क्योंकि साहित्य आस्वाद की वस्तु नहीं, सृजन की संयुक्त रचनात्मक यात्रा है--विचारशील पाठक की भागीदारी के साथ कृति और समकालीनता के बीच संवाद सेतु बनाती उर्वर सकारात्मक यात्रा।

सन्दर्भ

1. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृ. 274
2. वही, पृ. 225, 236
3. ''न हुक्का खुलता तो हमारा क्या बिगड़ा जाता था? चार-पांच महीने नहीं किसी का हुक्का पिया तो क्या छोटे हो गए?... ले-दे के बाप-दादों की निसानी एक घर बच रहा था, आज

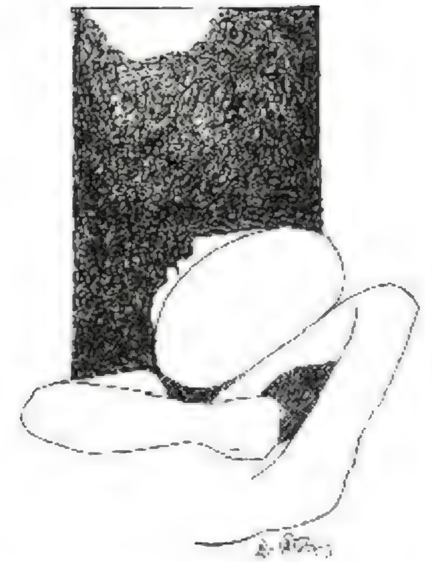
तुमने उसका भी बारा-न्यारा कर दिया। इसी तरह कल यह तीन-चार बीघे जमीन है, इसे भी लिख देना और तब गली-गली भीख मांगना। मैं पूछती हूं, तुम्हारे मुंह में जीभ न थी कि उन पंचों से पूछते... कौन सा पाप किया है जिसके लिए बिरादरी से डरें? किसी की चोरी की है, किसी का माल काटा है? मेहरिया रख लेना पाप नहीं है। हां, रख के छोड़ देना पाप है।'' वही, पृ. 119
4. ''कन्या होरी भी दे सकता था। इसी में उसका मंगल था; लेकिन कुल-मर्यादा कैसे छोड़ दे? उसकी बहनों के विवाह में तीन-तीन सौ बाराती द्वार पर आए थे। दहेज भी अच्छा ही दिया गया था। नाच-तमाश, बाजा-गाजा, हाथी-घोड़े सभी आये थे। आज भी बिरादरी में उसका नाम है। दस गांव के आदमियों से उसका हेल-मेल है। क्या कन्या देकर वह किसे मुंह दिखाएगा? इससे तो मर जाना अच्छा है।'' वही, पृ. 234
5. ''उम्र की ऐसी कोई बात नहीं। मरना-जीना तकदीर के हाथ है। बूढ़े बैठे रहते हैं, जवान चले जाते हैं। रूपा को सुख लिखा है तो वहां भी सुख उठाएगी; दुख लिखा है तो कहीं भी सुख नहीं पा सकती।'' वही, पृ. 323
6. ''साहित्य व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अंग रूप में देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, अपने स्वार्थ साधन का औजार बनाए, मानो उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।'' प्रेमचन्द रचनावली, भाग 7, पृ. 508
7. ''वह चाहे मुझे भूखों रखे, चाहे मार डाले, पर उसका साथ न छोड़ूंगी। उनकी सांसत करा के छोड़ दूं? मर जाऊँगी, पर हरजाई न बनूंगी। एक बार जिसने बांह पकड़ ली, उसी की रहूंगी।'' वही, पृ. 232
8. वही, पृ. 165
9. वही, पृ. 279
10. ऐसी औरत का तो सिर काट ले। होरी ने इस कुलटा को घर रख कर समाज में विष बोया है। ऐसे आदमी को गांव में रहने देना सारे गांव को भ्रष्ट कर देना है।... अगर गांव में यह अनीति चली तो किसी की आबरू सलामत न रहेगी।'' वही, पृ. 116
11. हीरा पुनिया की मरम्मत कर उसे उसकी औकात बता रहा है। उल्लेखनीय है कि किसी भी व्यक्ति को पहले गालियां देना, फिर सार्वजनिक रूप से धुनना और फिर उस पर नाक काटने का आरोप लगाना सांस्कृतिक जालसाजी की ऐसी महीन प्रक्रिया है, जिसमें पीड़क और उत्पीड़ित दोनों ही समान भाव से फंस कर अपनी-अपनी मनुष्यता, विवेक और संवेदना का क्षरण किए जा रहे हैं। प्रेमचन्द महीन षड्यंत्रों को बुनती इस व्यवस्था का न पर्दाफाश करते हैं, न उसके खिलाफ सन्तोष की सुगबुगाहट पैदा करते हैं। है तो एक जड़ जाहिल स्वीकार और प्रतिकार में उठता बोदा स्त्री विद्रोह, जो सिर्फ अपनी खाल बचाने के लिए है, स्थिति का आकलन कर उसे वैचारिक जागृति का सूत्र नहीं देता।
12. सेवासदन
13. मुक्त भोग आत्मा के विकास में बाधक नहीं होता। विवाह तो आत्मा को और जीवन को पिंजरे में बन्द कर देता है।'' वही, पृ. 56
14. अच्छा एक और चोरी सुनो। मैंने अपनी पहली स्त्री के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी। तुम्हारे आने पर भी मेरा उससे सम्बन्ध था।'' शिवरानी देवी, प्रेमचन्द : घर में पृ. 264
15. संसार में ऐसे बहुत कम प्राणी हैं जिनके प्रति मेरे मन में श्रद्धा हो। उन्हीं में से एक आप हैं। आपका धैर्य और त्याग और शील और प्रेम अनुपम है। मैं अपने जीवन में सबसे बड़े सुख की जो कल्पना कर सकता हूं, वह आप जैसी किसी देवी के चरणों की सेवा है। जिस

नारीत्व को मैं आदर्श मानता हूं, आप उसकी सजीव प्रतिमा हैं।''
तथा गोविन्दी अर्थात् ऐसी स्त्री ''जो उपेक्षा और अनादर सह कर भी अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं होती, जो मातृत्व की वेदी पर अपने को बलिदान करती है, जिसके लिए त्याग ही सबसे बड़ा अधिकार है, और जो इस योग्य है कि उसकी प्रतिमा बना कर पूजी जाए।'' पृ. 179

16. स्वयं प्रेमचन्द जानते हैं कि इस विवाह प्रस्ताव को ठुकराने के मूल में है—मेहता के प्रति मालती का मोहभंग। 'आदर्श' की तरह मेहता का अनुकरण करने वाली मालती उसे सौ फीसदी मनुष्य (परफेक्ट ह्यूमन बीइंग) मानती थी - दोनों-दुर्बलताओं-संकीर्णताओं से परे, लेकिन प्रेम को लेकर मेहता की मान्यताएं किसी भी जाहिल कबीलाई व्यक्ति से कम नहीं, ''प्रेम सीधी-सादी गऊ नहीं, खूंखार शेर है जो अपने शिकार पर किसी की आंख भी नहीं पड़ने देता।'' यह कहते हुए मेहता में न संकोच है, न द्वन्द्व बल्कि अपनी प्रभुता पर अलौकिक अभिमान ही है। मालती अपनी अन्तशाक्तियों एवं उदार दृष्टि के बल पर ऊर्ध्व यात्रा करते हुए जिस मुकाम पर जा पहुंची है, वहां प्रेम 'सम्पूर्ण आत्मसमर्पण' है और 'परीक्षक बन कर नहीं, उपासक' बन कर अपने और दूसरे को पाना सम्भव है। मेहता को नकार कर मालती मानो यह तथ्य रेखांकित कर रही है कि स्त्री-हृदय वाले पुरुष (अर्धनारीवर) को पाने के लिए अभी उसे लम्बी लड़ाई लड़नी है।
17. 'नारी हृदय' कहानी संग्रह में संकलित कहानियों में प्रमुख हैं—'वरयात्रा, 'साहस', 'समझौता', 'वधू परीक्षा'
18. 'मंझली दीदी', 'थाती', 'उन्मादिनी', 'अनुरोध', 'मंगला', 'आहुति' तथा 'दृष्टिकोण'

❑

ज्योतिष जोशी



उपन्यास, राष्ट्र-राज्य की अवधारणा और जैनेन्द्र

(एक)

उपन्यास आधुनिक युग की सबसे सशक्त विधा है जिसका उदय यूरोप में और अंग्रेजी भाषा में हुआ। यह वह समय था जब यूरोप में उथल-पुथल का दौर चल रहा था। विभिन्न समाजों में पुराने मूल्य टूट रहे थे और वहाँ नए मूल्यों की स्थापना हो रही थी। मूल्यों के इस नये-नये-पुराने द्वन्द्व के परिणामस्वरूप उपन्यास प्रकाश में आया। इसको अगर हम दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि तत्कालीन समय और समाज की जटिलताओं को उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने की कोई दूसरी विधा कारगर नहीं रह पायी थी। इसीलिए जब इयानवाट अपनी पुस्तक 'उपन्यास का उदय' में यह कहते हैं कि अंग्रेजी उपन्यास तत्कालीन परिस्थितियों की उपज था तो यही बात प्रमाणित होती है। यहाँ यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि उपन्यास का उदय अंग्रेजी समाज में इन्हीं द्वन्द्वों के बीच सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में होता है। उपन्यास के उदय में डेफो, रिचर्डसन और फील्डिंग की भूमिका सबसे प्रभावी मानी जाती है।

भारत में उपन्यास के उदय की स्थितियाँ यूरोप के ठीक विपरीत थीं। उपनिवेशवादी दासता के कारण भारत की हालत खस्ता थी। अंग्रेजी समाज में उपन्यास का उदय उस समय हुआ, जब यूरोप में औद्योगिकीकरण की धूम मची थी और वहाँ एक ऐसा मध्यवर्ग पैदा हो चुका था, जो वहाँ के तत्कालीन समाज को हर स्तर

से प्रभावित कर रहा था। इसके ठीक विपरीत, भारत में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया केवल दिखावा थी और यहाँ सामन्ती व्यवस्था के समानान्तर एक ऐसी व्यवस्था हावी हो रही थी, जो भारतीय समाज का निर्ममता से दोहन कर रही थी। इसके परिणामस्वरूप जो मध्यवर्ग भारत में बना, वह न तो पश्चिम से तालमेल बिठा पा रहा था और न भारत की बुनियादी संस्कृति से जुड़ता था। यह वर्ग सिर्फ़ पश्चिमी संस्कृति के प्रचार-प्रसार का माध्यम बन सकता था और वही बना। भारत में दिनोंदिन बढ़ रही सामन्ती व्यवस्था के कारण उपन्यास का उदय सम्भव न था, लेकिन जैसे-जैसे अंग्रेजी सरकार ने सामन्ती व्यवस्था के प्रभुत्व को समेटना प्रारम्भ किया, यहाँ बन रहे मध्यवर्ग ने तेजी से स्वयं को भारतीय स्थितियों में ढालना शुरू किया, परन्तु इस मध्यवर्ग की विडम्बना यही थी कि यह न तो पश्चिम से सीधे जुड़ पाता था और न भारतीय संस्कृति से। इस तरह का पहला मध्यवर्ग बंगाल में बना। इसी समय माइकेल मधुसूदन दत्त का नाटक 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?' प्रकाश में आया। इस नाटक में हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता पर तीखा प्रहार है और नवनिर्मित मध्यवर्ग की मानसिकता पर व्यंग्य, पर विडम्बना यह है कि इस नाटक में भी उपनिवेशी दासता पर कुछ नहीं मिलता। कहना न होगा कि बंगाल में पैदा हुआ यह मध्यवर्ग उपन्यास के उदय में सहायक हुआ। चूँकि बंगाल में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी देश में सबसे पहले शुरू हुआ, इसलिए यूरोप में आई हलचल का सीधा प्रभाव वहीं पड़ा। ऐसा माना जाता है कि बंगाल के निवासी प्यारेचन्द मित्र का 'अलालेर घरेर दुलाल' पहला भारतीय उपन्यास है। यह उपन्यास वहाँ से निकलने वाले 'मासिक पत्र' में धारावाहिक छपा था, जो 1858 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

बंगाल में मध्यवर्ग के उदय के साथ ही भारत के दूसरे प्रान्तों में ऐसी ही स्थितियाँ बनने लगीं। मध्यवर्ग के फैलाव से दूसरी भारतीय भाषाओं में भी अपने समय के तीखे यथार्थ को व्यक्त करने की विधा के रूप में उपन्यास लेखन का क्रम शुरू हुआ। बंगाल के बाद महाराष्ट्र वह दूसरा प्रान्त था, जहाँ मध्यवर्ग तेजी से उभरा और उपन्यास-लेखन की सम्भावनाएँ बनीं। इतिहासकार विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने अपने 1902 में लिखे लेख 'कादम्बरी' में इस बात की पुष्टि की है। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि आरम्भ में उपन्यास के प्रति जिन लोगों की रुचि थी, उनमें मुख्य रूप से जमींदार, रियासतदार तथा ईनामदार शामिल थे। यही कारण है कि उपन्यासों का आरम्भिक स्वरूप सतही मनोरंजन तक सीमित था। उस समय बड़े लोग उपन्यासकारों को अपने संरक्षण में रखते थे और उन्हें पर्याप्त वेतन भी देते थे। वेदविद् लक्ष्मण शास्त्री हल्वे का उदाहरण यहाँ प्रासंगिक है, जिन्हें खंडेराव होल्कर से उपन्यास लेखन के लिए तनख्वाह मिलती थी।

इस उदाहरण से यह बात आसानी से समझ में आ सकती है कि संरक्षण में पल रहे उपन्यासकार क्या लिख रहे होंगे। उन दिनों लिखे जा रहे उपन्यासों का उद्देश्य या तो मनोरंजन था और नहीं तो पश्चिम के रहस्यमय वातावरण की पुनरावृत्ति।

इन उपन्यासों में रुचि लेने वाला और इनके उदय में प्रभावी भूमिका निभाने वाला मध्यवर्ग चूँकि उन लोगों से बना था जो या तो बड़े-बड़े जमींदार थे और नहीं तो अंग्रेजपरस्त मुलाजिम, इसलिए न तो उनकी रुचि में कहीं यथार्थ था और न प्रकृति में। यही कारण था कि भारत में उस समय अंग्रेजी के घटिया उपन्यासों के अनुवाद की धूम मची हुई थी। उस समय दुर्भाग्य यह भी था कि हमारे यहाँ अंग्रेजी के दोयम दर्जे के उपन्यास ही उपलब्ध थे। उन उपन्यासों को अंग्रेजी समाज में भी हिक़ारत की नज़र से देखा जाता था, लेकिन हमारे यहाँ बड़ी रुचि के साथ हिन्दी, मराठी, गुजराती तथा बांग्ला में इनका अनुवाद होता था। उस समय जिस अंग्रेजी उपन्यास के अनुवाद का ज़्यादा जोर था, वह था-जी.डब्ल्यू.एन.रोनाल्ड का 'लंदन रहस्य'। इसके अनुवाद की धूम से तत्कालीन उपन्यास लेखन का यथार्थवादी दौर बुरी तरह आतंकित था। भारत में उपन्यास की कोई परम्परा तो थी नहीं, यह कारण भी इस दुर्दशा का मुख्य कारक था। भारत में कथा की बहुत समृद्ध परम्परा थी, पर चूँकि उपन्यास नयी विधा था और भारतीयों की रुचि और संस्कार कथा की प्राचीन परिपाटी से बँधे थे, इसलिए भारत में उपन्यास को अपना स्वरूप स्थिर करने में बहुत समय लगा। यहाँ इस बात पर भी गौर करने की ज़रूरत है कि उपन्यास के नामकरण की समस्या कैसे हल हुई।

भारत में कथा की पुरानी परम्परा रही है जिसे 'आख्यायिका' कहा जाता रहा है, लेकिन इस आख्यायिका के भी अनेक नाम रहे हैं। जाहिर है, उपन्यास का आरम्भिक स्वरूप भी आख्यायिका के मूल विधान से भिन्न रहा है। इसकी खोज में अनेक शब्दों का सहारा लिया गया। मराठी भाषा में उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' कहा गया तो गुजराती में 'नवल कथा'। नवल कथा नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें कथा या आख्यायिका की पुरानी परम्परा से हटकर नवीनता या नूतनता का आग्रह है और संकेत भी। 'उपन्यास' नाम का सर्वप्रथम प्रयोग बांग्ला में हुआ। 1862 में भूदेव मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'ऐतिहासिक उपन्यास' में इस नाम का जिक्र किया था। इसी के प्रभाव पर जब बंकिम ने अपनी रचनाओं को 'उपन्यास' कहा तो यह नाम बहुत लोकप्रिय हुआ, जो बाद में हिन्दी सहित अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रचलित हो गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी में उपन्यास नाम और उसका स्वरूप बांग्ला से ही आया है, जो बांग्ला में अंग्रेजी के 'नॉवेल' से प्रभावित है, पर जैसा कि हमारे यहाँ होता रहा है—बुरी-भली किसी भी परम्परा या उन्मेष को अतीत से जोड़कर देखा जाता है और घोषित कर दिया जाता है कि यह तो हमारी परम्परा से ही सम्भव हुआ है। ऐसी घोषणाएँ तब भ्रामक सिद्ध होती हैं जब ऐसा केवल भ्रमवश या पूर्वग्रहों के दवाब में आकर किया जाता है। यह भ्रम आगे जाकर टूटा। हमारे यहाँ इस समय तक ठीक-ठीक गद्य का विकास नहीं हो पाया था। हिन्दी सहित अन्य भारतीय भाषाओं की हालत इस स्तर पर एक जैसी थी, लेकिन वह काल कविता की समृद्धि का काल अवश्य था।

जैसा कि स्पष्ट है, संस्कृत में गद्य के दो रूप पाए जाते हैं—कथा और आख्यायिका। जाहिर है, उपन्यास का स्वरूप इससे बहुत भिन्न है। उर्दू के दास्तान, क़िस्सा और अफ़साना से भी इसका अन्तर इसी तरह से है, लेकिन भारतीय उपन्यास का आरम्भिक दौर जब अंग्रेजी उपन्यासों के अनुकरण से थमा तो दूसरे चरण में वह संस्कृत की कथा-परम्परा की ओर लौटा। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न भारतीय भाषाओं, यथा-बांग्ला, मराठी, गुजराती और हिन्दी आदि में पंचतन्त्र, हितोपदेश, कथा सरित्सागर, बैताल पचीसी आदि के अनुवाद का जोर पकड़ा। इससे लाभ यह हुआ कि उपन्यास के रूप को भारतीय चेतना से जोड़कर उसे भारतीय बनाने में मदद मिली। भारत में उपन्यास लेखन का क्रम तो अंग्रेजी उपन्यासों के अनुकरण पर ही शुरू हुआ, पर धीरे-धीरे इस स्थिति में सुधार आता गया। प्रेस, प्रकाशन और पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाश में आने से उपन्यास-सर्जना में अचानक तेजी आई और विधा के रूप में भी इसे लोगों की ओर से व्यापक लोकप्रियता हासिल हुई। यह कहना शायद गलत न होगा कि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही भारतीय भाषाओं में गद्य का वह रूप बन पाया, जिससे उपन्यास की पूर्व-पीठिका तैयार हो सकी। पत्रिकाओं में इन उपन्यासों के क्रमिक प्रकाशन से पाठकों के बीच वह लोकप्रिय हुआ और कालान्तर में स्वतन्त्र साहित्य विधा बन पाया।

बांग्ला के बंकिम से लेकर उड़िया के फकीर मोहन सेनापति, उर्दू के रतन नाथ सरशार, मराठी के हरिनारायण आप्टे तथा हिन्दी के देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास पहले पत्रिकाओं में धारावाहिक छपे और बाद में पुस्तक की शक्ल में आए। इस हलचल का नतीजा यह हुआ कि विभिन्न भारतीय भाषाओं में इन उपन्यासों के लिए स्वतन्त्र पत्रिकाएँ तक निकलने लगीं। हिन्दी में किशोरीलाल गोस्वामी की 'उपन्यास' तथा बांग्ला में 'बंगदर्शन' सरीखी पत्रिकाएँ इसका अच्छा उदाहरण हैं।

वस्तुतः यह काल भारतीय उपन्यासों के उदय की भूमिका का काल है; इसलिए कि अभी उपन्यास अपनी पहचान नहीं बना पाए थे। विभिन्न भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में पहचान के लिए संघर्ष जारी था। अनुकरण और मौलिकता के इसी द्वन्द्व में भारतीय उपन्यास तब अपनी पहचान बनाने में समर्थ हुए, जब उनमें भारतीय परिवेश का यथार्थ उद्घाटित होने लगा। उपनिवेशवादी शोषण और दमन के खिलाफ आवाज़ उठने के साथ ही भारत की पुरातन समाज-व्यवस्था की रूढ़ियों और जड़ताओं पर सीधा प्रहार होता है, तब से यह उपन्यास, भारतीय उपन्यास कहलाने के अधिकारी होते हैं। इसको अगर दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि जबसे भारतीय उपन्यासों में स्वत्व की खोज की प्रक्रिया शुरू होती है, तब से भारतीय उपन्यास अपनी ज़मीन से जुड़ते हैं। यहाँ हम मुख्य भारतीय उपन्यासों के विकास का क्रम दे रहे हैं—

रानी केतकी की कहानी (हिन्दी)—इंशाअल्ला खाँ (1801), *प्रतापादित्य चरित्र* (बंगला)—रामाराव बसु (1801), *बागोबहार* (उर्दू)—मीर अम्मन (1801), *नासिकेतोपाख्यान*

(हिन्दी)—सदल मिश्र (1803), अलालेर घरेर दुलार (बंगला)—प्यारेचन्द मित्र (1858), मुक्तमाला (मराठी)—लक्ष्मण मोरेश्वर हल्वे (1861), *दुर्गेशनंदिनी* (बंगला)—बंकिमचन्द्र चटर्जी (1865), *कपाल कुन्डला* (बंगला)—बंकिमचन्द्र चटर्जी (1866), *फ़साना-ए-आज़ाद* (उर्दू)—रतननाथ सरशार (1868), *कर्णघेली* (गुजराती)—तुल्जाशंकर मेहता (1868), *मिरातुल उर्स* (उर्दू)—नज़ीर अहमद (1869), *देवरानी जेठानी की कहानी* (हिन्दी)—पण्डित गौरीदत्त (1870), *विष वृक्ष* (बंगला)—बंकिमचन्द्र चटर्जी (1873), *भाग्यवती* (हिन्दी)—पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी (1877), *निस्सहाय हिन्दू* (हिन्दी)—राधाकृष्ण दास (1881), *परीक्षा गुरु* (हिन्दी)—लाल श्रीनिवास दास (1885), *मार्तण्ड वर्मा* (मलयालम)—सी.वी.रमन पिल्लई (1891), *चन्द्रकान्ता* (हिन्दी)—देवकीनन्दन खत्री (1891), *बिबासिनी* (उड़िया)—रमाशंकर राय (1891) *पाँच कमलाम्बम्* (तमिल)—बी.आर.इराजम अय्यर (1893), *चन्द्रकान्ता संतति* (हिन्दी)—देवकीनन्दन खत्री (1896), *उमराव जान अदा* (उर्दू)—मिर्ज़ा हादी रुसवा (1899), *सरस्वतीचन्द्र* (गुजराती)—गोवर्धन राम (1900), *मोनोमोटी* (असमी)—रजनीकान्त बारदोलाई (1900)।

इस सूची से स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासों का विकास भारतीय भाषाओं में धीरे-धीरे होता है। इस धीमी गति में भी साधना और संघर्ष की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। इसी के परिणामस्वरूप उपन्यास निरन्तर विकसित होता गया और आज भी उसकी यात्रा जारी है।

आरम्भिक भारतीय उपन्यासों में तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं—
समाज सुधार और उपदेश,
इतिहास तथा फैंटेसी के माध्यम से नैतिक चेतना के विकास का प्रयास
और *समकालीन समाज का यथार्थपरक चित्रण।*

'परीक्षा गुरु' जैसे हिन्दी के उपन्यासों में पहली प्रवृत्ति दिखाई देती है। दूसरी प्रवृत्ति बंकिम और देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में मिलती है। बंकिम ने इतिहास के माध्यम से नैतिक चेतना के विकास का प्रयास किया तो खत्री ने फन्तासी और तिलस्मी स्थितियों के माध्यम से। तीसरी प्रवृत्ति उड़िया के फकीर मोहन सेनापति के उपन्यासों में मिलती है। यही प्रवृत्ति बाद में भारतीय भाषाओं के उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्ति बन जाती है, जिसके प्रवक्ता प्रेमचन्द से लेकर माणिक बंद्योपाध्याय, यू.आर. अनन्तमूर्ति आदि बनते हैं। इन प्रवृत्तियों की तह में जाने पर मालूम होता है कि उपदेश आरम्भ में भारतीय उपन्यासों की मुख्य शर्त्त ही बन गया था। बंकिम और शरत् के यहाँ भी इससे परहेज नहीं मिलता। नैतिक जागरण की प्रवृत्ति जैसे हिन्दी में रही, वैसी ही अन्य भाषाओं में भी रही। इस दिशा में बंकिम से लेकर हरिनारायण आप्टे, क.मा.मुंशी, राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, वृन्दावनलाल वर्मा तक ख्यात-प्रख्यात लेखक मिल जायेंगे। जिसे मिथक या फंतासी कहा जाता है और जिस पर हिन्दी में देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता संतति' और 'भूतनाथ' आदि उपन्यास रचे गए, उन्हें अगर गौर से परखा जाए तो मालूम होगा कि उसकी

मूल संवेदना खोई हुई वस्तु की खोज ही है। यह खोई हुई वस्तु भारत का स्वत्व है। यही भारत की स्वाधीनता है। खज़ाना और राजकुमारी के प्रतीक गुलाम भारत में भारतीयता ही हो सकता है। राजकुमार का उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न और निरन्तर खण्डहर, किला और जंगलों से गुजरकर नाना यातना सहना ब्रिटिश अत्याचार के प्रतीक हैं। ऐसा ही महसूस होता है। 'आनन्दमठ' तो इतिहास और फन्तासी का मिला-जुला रूप ही है। खत्री के उपन्यास में इतिहास नहीं फंतासी का जोर है। खत्री का 'तारा' नामक उपन्यास इस दिशा में उल्लेख्य है, जिसमें वे चौंकाते नहीं, वास्तविकता का पता देते हैं। लोकप्रियता कोई सस्ती चीज नहीं होती, वह पाठकों के रागात्मक सम्बन्ध से बनती है। खत्री के उपन्यास यदि पाठकों में बहुत लोकप्रिय हुए तो इसका मुख्य कारण यही है कि ये उपन्यास पाठकों की आशाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति करते थे। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि "आकांक्षा जब इतिहास में प्रवेश करती है तो उपन्यास का जन्म होता है।"

भारतीय उपन्यास तब पूर्ण विकसित होता है जब वह 'यथार्थवादी चित्रण' के तीसरे चरण में प्रवेश करता है। इस चरण का आरम्भ उड़िया के फकीर मोहन सेनापति के उपन्यास 'छः बीघा जमीन' से होता है। इसमें स्त्री सहित मजदूर और मध्यवर्ग साक्षात् होते हैं। यहीं से भारतीय उपन्यास का क्रान्तिकारी दौर शुरू होता है। कहना न होगा कि यहीं से भारतीय उपन्यासों की भारतीयता का प्रारम्भ भी होता है। स्पष्ट है कि किसान की ज़िन्दगी का साक्षात्कार ही भारत का साक्षात्कार है। भारत का किसान एक ओर तो औपनिवेशिक दासता से सबसे अधिक पीड़ित और शोषित था तो दूसरी ओर वह अपने ही देश के सामन्तों के द्वारा लूटा जा रहा था। फकीर मोहन सेनापति ने अपने उपन्यास के माध्यम से किसानों के जीवन का सजीव चित्रण कर एक नयी यथार्थवादी परम्परा का प्रारम्भ किया।

यही वह परम्परा थी, जिसको हिन्दी में प्रेमचन्द ने पुख्ता आधार दिया और 'गोदान' जैसे अमर उपन्यास की रचना की। फिर तो यह प्रवृत्ति उपन्यास लेखन का आधार ही बन बैठी। बंकिम सहित दूसरे आरम्भिक उपन्यासकारों से यह प्रवृत्ति छूटी तो नहीं थी, पर उनके कथ्य की अपनी सीमाएँ और संस्कार थे। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बंकिम के ही उपन्यासों ने औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की दिशा में जोरदार पहल की। शिल्प तथा अन्तर्वस्तु के स्तर पर स्वत्व की पहचान की प्रक्रिया बंकिम के उपन्यासों से ही सामने आती है। 'आनन्दमठ' का स्वाधीनता आन्दोलन में सर्वाधिक प्रभाव डालना यह प्रमाणित करने के लिए काफी है कि बंकिम अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय अस्मिता की लड़ाई लड़ रहे थे। उन्होंने भारतीय अतीत की गौरवपूर्ण गाथा को अपनी कृतियों का आधार बनाकर तत्कालीन साहित्यिक परम्परा को भारतीय स्वरूप देने में सहायता पहुँचायी।

यहाँ यह स्मरण दिला देना ही काफी है कि उपन्यास के आरम्भिक दौर में, भारतीय उपन्यास लेखन का क्रम 'ईसाई मिशनरियों' की ओर से शुरू हुआ था।

इसके लेखकों में वे हिन्दू शामिल थे, जो हिन्दू अत्याचारों की प्रतिक्रिया में ईसाई हो गये थे। इन उपन्यासों में भारतीय समाज व्यवस्था की जड़ता और अवैज्ञानिकता का विरोध दिखाई देता है। इन्हें 'ईसाई उपन्यास' नाम से याद किया जाता है। इन उपन्यासों से जो यथार्थवादी चेतना पैदा हुई, वह भी बाद के उपन्यासों के लिए उर्वरक बनी। ऐसे उपन्यासों में 'प्रतापादित्य चरित्र'—रामाराव बसु (1801) और बाबा पद्म जी का 'यमुना प्रयत्न' (1857) उल्लेख्य हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि यूरोप में जिस तरह व्यक्तिवाद आया और वह वहाँ की जड़ सामूहिकता के विरुद्ध खड़ा हुआ और जिसके परिणामस्वरूप वहाँ उपन्यास का उदय सम्भव हो सका; उसी प्रकार भारत में भी औपनिवेशिक दासता के प्रति असन्तोष और विद्रोह की चेतना लेकर उपन्यास तब उदित होते हैं, जब वे पूरी तरह अपनी ज़मीन से जुड़ते हैं। मिथकों और निरर्थक कथाओं की परिधि से निकलकर जब आधुनिकता और परम्परा का तीखा द्वन्द्व चलता है तो समझ में आता है कि व्यक्ति अपना निर्माता तो है ही, समाज का भी है। यहीं से उपन्यास अपना स्वत्व प्राप्त करते हैं जैसा कि मिशेल जेराफा ने लिखा है, 'उपन्यास ऐसी कला है, जिसमें मनुष्य सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपित होकर सामने आता है।'

(दो)

सदल मिश्र, पंडित गौरीदत्त, श्रद्धाराम फुल्लौरी, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास दास, ठाकुर जगमोहन सिंह, प्रताप नारायण मिश्र, देवकीनन्दन खत्री आदि के आरम्भिक प्रयत्नों को फकीर मोहन सेनापति की यथार्थवादी परम्परा में प्रेमचन्द ने एक निश्चित स्वरूप दिया और अपने उपन्यासों में स्वाधीनता की चेतना को प्रसारित किया। भारतीय किसान जीवन के संघर्ष को तत्कालीन सामन्तवाद के तीखे प्रतिरोध के रूप में देखते हुए उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को व्याख्यायित करने की चेष्टा की और गाँधीवाद से कहीं साम्य बिठाकर तो कहीं उससे असहमत होते हुए भारतीय समाज-व्यवस्था को समरस बनाने का आह्वान किया। *कर्मभूमि, रंगभूमि, गबन* और *गोदान* उनके वे अमर उपन्यास हैं, जिनमें उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद पर मंथन किया और स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ समाज की गैर बराबरी के खिलाफ आवाज उठाकर एक ऐसे भारत की मांग की, जिसमें ऐसी व्यवस्था की कामना थी जो हर तरह के भेद-भाव को भुलाकर देश में समरस समाज की स्थापना कर सके। दूसरी भाषाओं में भी भारतीय राष्ट्र के स्वरूप पर बहस शुरू हो चुकी थी, जिसका एक छोर बंकिम के 'आनन्दमठ' से जुड़ता था तो दूसरा छोर रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' से। फकीर मोहन सेनापति की अपनी यथार्थवादी परम्परा थी ही, जिसमें उन्होंने किसानों के जीवन-संघर्ष को भारतीय स्वत्व के रूप में देखा था। इसी कड़ी में हम जैनेन्द्र कुमार के लेखन को देख सकते हैं, जिसमें वे एक ऐसे युग प्रस्तावक के रूप में सामने आते हैं जिनके लेखन, मनन और व्यवहार में एक नये समाज, नये देश और नयी संस्कृति के निर्माण

की बेचैनी है। जो लोग उन्हें अपने आईने में देखने के अभ्यस्त हैं या अधिक-से-अधिक एक विचारक मानने के आग्रही हैं, उनके लिए वे गाँधी मार्ग के अनुकरण से अधिक कुछ खास करते नहीं दिखाई देते। जैनेन्द्र को समझने में यहीं कठिनाई आती है। वस्तुतः जैनेन्द्र कुमार के समूचे लेखन में, चाहे वह कहानियाँ हों, उपन्यास हों या फिर विचार-साहित्य हो, एक सुस्पष्ट समाज-दर्शन है, जिसके भीतर मनुष्य की निजता से लेकर समाज की विकसनशीलता और समूचे देश के उत्कर्ष की सम्भावनाएँ और उन सम्भावनाओं से सम्बद्ध सरणियों की न केवल खोज है, बल्कि उनकी व्याख्या भी है। इस बिन्दु पर देखें तो जैनेन्द्र कुमार केवल एक लेखक नहीं रह जाते, वे एक विजित, पराभूत और अपनी अस्मिता खो चुके देश के कल्पनाशील मौलिक विचारक के रूप में सामने आते हैं। यह मात्र संयोग नहीं है कि वे उन सभी परम्पराओं, रिवाजों और व्यवस्थाओं का पुनरीक्षण करते हैं, जो हमारे भीतर तथा बाहर आबाद हैं और उन पर अपनी समेकित दृष्टि भी डालते हैं। व्यवस्था के पारम्परिक उपांग जहाँ तक सृजनशील हैं, वहाँ तक जैनेन्द्र कुमार उससे सहमति का सूत्र बिठा लेते हैं, पर जहाँ पर भी वे मनुष्य, उनके समाज और उसके सम्पूर्ण विकास में बाधक पाते हैं, उसे निरस्त करते हैं, उसके ढाँचे को ध्वस्त कर डालते हैं। ऐसा करते हुए भी वे शोर नहीं मचाते, हो हल्ला नहीं करते, विनीत बने रहते हैं। यह आप पर निर्भर करता है कि आपको उनका चुनाव ठीक लगता है या नहीं, वे तो अपना निर्णय सुना ही देते हैं।

जैनन्द्र कुमार को गाँधी का मार्ग इसीलिए भाता है कि वह व्यवहार का मार्ग है, समाज को बदलने से पहले वह व्यक्ति से परिवर्तन की माँग करनेवाला मार्ग है। पाखंड की वहाँ नहीं चलती, निरा शोर वहाँ काम्य नहीं है। भेद, प्रभुता, श्रेष्ठता, योग्यता और कुलीनता का वहाँ कोई स्थान नहीं है। अपने मन का वह मार्ग है--जो करना चाहो, वह मन से करो, मन में करो, मन में संकल्प लो, मन को मारो और जीतो, मन को ऐसा विराट बनाओ कि वह समूचे विश्व को समाहित कर ले। विश्व के दुःख से घृणा हो तो मन को ही तड़प उठने को विवश करो। देह को भूल जाओ। भूल जाओ कि वह बड़ी सुन्दर, कमनीय और सुदर्शन है, वह तो नश्वर है, मन में अगर पवित्रता न बची हो तो देह का लोकलुभावन रूप कब तक टिकेगा, वह तो नष्ट होगा और आत्मा को भी कलुषित कर डालेगा। इसीलिए कहते हैं कि मन वह केन्द्रक है जो सम्पूर्ण सृष्टि को नियन्त्रित करता है, उसे देखता है, क्योंकि वह अन्तर्दृष्टि है--मनुष्य का तीसरा नेत्र, अन्तर्चक्षु। जैनेन्द्र कुमार के विचार, उनकी कल्पनाशीलता और उनके आदर्श में गाँधी का, तॉल्सताय की तथा भारतीय चिन्तन परम्परा की सृजनात्मक की गहरी छाप है, पर उनमें एक ऐसी दृष्टि भी है, जो कहीं गहरे उन विचार प्रक्रियाओं को खंगालती भी है, जिनका व्यावहारिकता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं बनता। गाँधी के वे निकट रहे, विचार के स्तर पर उनको स्वीकार भी किया, पर तथ्य यह है कि वह अपने आलोचनात्मक विवेक को सदैव जाग्रत किये रहे। गाँधी

का मार्ग उन्हें वहीं तक प्रिय है, जहाँ तक वह स्वयं उनके विचारों के लिए बाधा नहीं बनता। जहाँ वह बाधा बनता है, जैनेन्द्र कुमार उसे स्वीकार नहीं करते, वरन् उसके प्रतिपक्ष में खड़े होते हैं।

जैनेन्द्र कुमार का दर्शन, इसीलिए एक व्यावहारिक दर्शन है, जिसमें अपने समय की सभी सुचिन्तित धारणाएँ तो हैं ही, पर उनको एक तार्किक 'विजन' के रूप में रखने और उन्हें एक संश्लिष्ट आधार देने का ऐतिहासिक कार्य भी उन्होंने किया। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, धर्म, स्वतंत्रता, राष्ट्रनीति, राजनीति, ब्रह्मचर्य, योग, उद्योग, संस्कृति, साहित्य, युद्ध, क्रान्ति, सामाजिक न्याय, प्रजातन्त्र, लोक कल्याणकारी राज्य, सरकार, नागरिक अधिकार, रोजगार, शिक्षा का स्वरूप, जन-प्रतिनिधि, विकास की आधारभूत संरचना जैसे अनेक विषय जैनेन्द्र कुमार के विवेचन-विश्लेषण के विषय हैं, जिस पर किसी भी एक हिन्दी लेखक ने सम्पूर्णता में विचार किया हो, ऐसा देखने में नहीं आता। इस आधार पर अगर देखें तो वे देश के कुछ ही शीर्ष चिन्तकों में रखे जा सकते हैं, जिनकी भारतीय राष्ट्र को लेकर अपनी सुस्पष्ट दृष्टि है, अवधारणा है या चिन्तनशीलता है। इस सम्बन्ध में हिन्दी में कुछ विचार प्रेमचन्द, अज्ञेय और मुक्तिबोध ने अवश्य प्रकट किए हैं, पर वे स्फुट हैं, जिससे भारतीय राष्ट्र की कोई स्पष्ट छवि नहीं उभरती। राष्ट्र-चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में भारतीय लेखकों में केवल रवीन्द्रनाथ टैगोर ही उनके पूर्वज लेखक-चिन्तक दिखाई देते हैं, हिन्दी का कोई लेखक उनका इस स्तर पर समानधर्मा नहीं है; क्योंकि किसी भी लेखक के यहाँ इतने विस्तार से एक 'नेशन स्टेट' की सम्पूर्ण विवेचना नहीं है। यह सच है कि जैनेन्द्र का राष्ट्र-दर्शन गाँधी, लोहिया, जयप्रकाश के समानान्तर उपस्थित है और अनेक मायनों में विशिष्ट भी है। 'राष्ट्र-राज्य' की अवधारणा पर विचार करते हुए वे लिखते हैं, ''विश्वव्यवस्था के विचार और व्यवहार की इकाई आज राष्ट्र-राज्य है अर्थात् राज्य केन्द्रित और राज्य परिचालित राष्ट्रीय समाज। इसके अतिरिक्त और किसी तरह की व्यवस्थित समाज की कल्पना हमारे पास नहीं है। क्रान्तिदर्शी, तत्त्वज्ञ अथवा कल्पनाशील कवि को छोड़ दें तो राज्य नियन्त्रण के अभाव में मानो हमारी आँखों के आगे व्यवस्थाहीन अराजकता का चित्र उपस्थित हो आता है कि जहाँ मर्यादा रहेगी नहीं और पशुता खुली खेलने लग जाएगी। यों मार्क्स ने कहा और दूसरे मनीषियों ने भी कहा, लेकिन उस शासन, श्रेणीमुक्त समाज की कल्पना को यथार्थ की दिशा में उतारने का प्रयत्न कर जो भी आगे बढ़ा, वह या तो कवि-लेखन-चिन्तक रह गया, नहीं तो उसे सहा नहीं गया, समाप्त कर दिया गया।'' (राष्ट्र और राज्य, पृ. 21)

जैनेन्द्र कुमार के चिन्तन में भारतीय राष्ट्र-राज्य की एक ठोस परिकल्पना है, जिसमें समरसता, सामाजिक न्याय, समता, सह-अस्तित्व की व्यवस्था है और राज्य के अधिक-से-अधिक नैतिक होने पर बल है। राज्य के जन प्रतिनिधियों के लिए जैनेन्द्र कुमार आचार-संहिता निर्धारित करते हैं और उन्हें जनता के प्रति उत्तरदायी बनाते हैं। संविधान या संसद के प्रति उत्तरदायी होने से पहले यदि वे जनता के

प्रति उत्तरदायी नहीं होते तो राज्य-व्यवस्था के सफल होने में संदेह है, वह अधिक-से-अधिक एक व्यवस्था भर होगी, जिसका समरस समाज के निर्माण से कोई कारगर वास्ता नहीं होगा। जैनेन्द्र कुमार अर्थ-व्यवस्था को नीति से उसी तरह सम्बद्ध देखना चाहते हैं जैसा महात्मा गाँधी चाहते थे। जिस अर्थ-व्यवस्था में अधिकाधिक लाभ कमाने की धुन होगी, वह नैतिक नहीं हो सकती। उसके कारण भ्रष्टाचार फैलेगा, मनुष्य की जगह पैसे की प्रभुता स्थापित होगी और पूरा समाज धन-संचय में अपनी अर्थवत्ता गवाँ बैठेगा। वे लिखते हैं; ''उदाहरण के लिए, भारत को ही लीजिए। यह स्वतन्त्र हुआ और बड़ी-बड़ी योजनाओं का निर्माण हुआ। उसके शासक त्यागी पुरुष थे। वे गाँधी के अनुगामी रहे थे, जो महात्मा था, लेकिन योजनाओं के अनुसार जो धड़ल्ले से तरक्की हुई तो मालूम हुआ कि साथ-साथ आपसी सम्बन्धों से बुना हुआ समाज का पट झीना बन रहा है। धन जितना बढ़ा, धन का लोभ उससे अधिक बढ़ा है। और इन सब कारणों से सबसे अधिक बढ़ना और फैलना पड़ा है राज्य के तन्त्र को और उसके लावाजमे को। यह परिणाम इष्ट और प्रत्याशित था, सो नहीं। शायद शासकों-नेताओं को अनिष्ट और अप्रत्याशित ही वह लगा। यद्यपि वह एकदम तर्कसंगत और अपरिहार्य था, पर उपाय न था। बाड़ खुल चुकी थी और अपने ही कृत्यों और कृत्य के परिणामों से बचना सम्भव कैसे हो सकता था। कारण परम-आर्थिक से जीवन-दृष्टि को निरी आर्थिक तक ले आया गया था।'' (राष्ट्र और राज्य, पृ. 31-32)

जैनेन्द्र कुमार के लिए 'राष्ट्रीयता' का उग्रभाव कभी भी वरेण्य नहीं रहा और वे 'राजनीति' के वर्तमान स्वरूप को भी बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देख सके। उनके यहाँ राष्ट्रीयता एक वैश्विक अवधारणा है, जिसे वे किसी सीमा में बाँधने से परहेज करते हैं और यदि वह किसी सम्प्रदाय की विजय-भावना को चिह्नित करने के काम आने लगती है, तब वह अपना अर्थ खो देती है। वे कहते हैं--

''यानी राष्ट्रीयता अपनी जगह सामयिक रूप से सही है, पर जो सामयिक नहीं, ऐसे विचार और भावना पर भी वह यदि आरोप की भाँति लाई जाती है, तब वह सही नहीं रह जाती; क्योंकि तब वह अपने क्षेत्र और काल की मर्यादा का उल्लंघन करती है। अहंकार शुभ नहीं और उग्र राष्ट्रीयता उसी का लक्षण है।'' (परिप्रेक्ष, पृ. 15-16) इसी में वे आगे कहते हैं--''नीति से अलग होकर राजनीति भ्रम है और मानवता से च्युत होकर राष्ट्रीयता भी बन्धन ही है।'' (परिप्रेक्ष्य, पृ. 20)

जैनेन्द्र कुमार ने 'नेशन स्टेट' की व्यावहारिक अवधारणाएँ तो दी ही हैं, उसे एक परमार्थिक व्यवस्था में भी बाँधा है। जैनेन्द्र कुमार जब 'स्टेट' को पूरी तरह नैतिक व्यवस्था में ढालते हैं, तब उन्हें व्यक्ति और समाज की नैतिकता की भी चिन्ता होती है, क्योंकि जिस 'स्टेट' में व्यक्ति और समाज ही नैतिक न रह पायें, वहाँ 'स्टेट' कब तक नैतिक रह सकेगा? व्यक्ति पर दृष्टि जाते ही जैनेन्द्र कुमार का चिन्तक-मन अपनी परम्परा के सृजनशील अवयवों को खंगालता है और विभिन्न दृष्टियों से एक 'नैतिक व्यक्ति' की प्रस्तावना करता है। जैनेन्द्र कुमार को अगर आप उक्त दोनों

स्तरों से अलगाकर देखेंगे तो कठिनाई होगी, क्योंकि उनका व्यक्ति, 'समाज' और 'स्टेट' से पृथक नहीं है। यहाँ साध्य-साधन का प्रश्न है। व्यक्ति अगर छल, छद्म, पाखंड का पुतला बन आए, उसमें मनुष्यता न रहे, वह विकारों से निरा अहंकारी हो उठे, उसमें न आस्था हो, न धर्म, उसमें न प्रेम हो, न भक्ति, उसमें न लोक की चिन्ता हो और न परलोक का भय, तो ऐसा व्यक्ति 'स्टेट' के किस काम का है और तब 'स्टेट' ही अनाचारी क्यों नहीं बनेगा? इसीलिए जैनेन्द्र कुमार के जीवन-दर्शन को जो लोग व्यवस्था की उनकी परिकल्पना से काटकर देखते हैं, उन्हें यह लगता है कि इस व्यक्ति का जीवन-जगत से कोई सम्बन्ध नहीं बनता और जैनेन्द्र कुमार 'तत्वचिन्तन' में उसे उलझाकर निरा धार्मिक बना देने पर उतारू हैं। दरअसल यह बात है ही नहीं; क्योंकि जैनेन्द्र के दर्शन में जीवन की सार्थकता की ही प्रस्तावना है, उसी की खोज का अनवरत प्रयत्न है। राज्य अपनी सार्थकता समाज में पाये, समाज अपनी सार्थकता व्यक्ति में और सब एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायी हों, सब नैतिक और एकनिष्ठ हों--कालचक्र के प्रवाह से उनमें भय हो, मनुष्य और मनुष्य में भेद न हो, जाति-सम्प्रदाय और धर्म की मिथ्या दीवार न खिंची जाए। सबमें अभेद कायम हो, क्या स्त्री, क्या पुरुष; बस अपनी-अपनी चर्या में प्रस्तुत रहें, जैनेन्द्र कुमार का काम्य यही है। ईश्वर, भक्ति, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिंसा, जीवन-तप, यज्ञ, जैसे अनेक पद और प्रत्यय जैनेन्द्र कुमार ने जीवन के वास्तविक ध्येय और उसकी सम्पूर्णता की व्याख्या के लिए चुने हैं, उनका विश्लेषण किया है--समाज या जीवन निरपेक्षता उनका हेतु है ही नहीं।

जैनेन्द्र कुमार के यहाँ प्रस्तावित 'जीवन-मुक्ति' की अवधारणा भी उनकी उत्कट सामाजिकता को प्रमाणित करती है। जीवन-मुक्ति को लेकर उनके यहाँ कोई संशय नहीं है। आधुनिकता के साथ बढ़ते हुए वातावरण में मुक्ति का सीधा सम्बन्ध मनुष्य की उस प्रक्रिया से जुड़ता है, जिसमें व्यक्ति यह मानता है कि उसका जीवन ही सार्वभौम सत्य है और जो नीति-नियम उसके सामाजिक-वैयक्तिक जीवन को स्वीकार्य हो सकते हैं, वही उसकी नैतिकता। हालाँकि सामाजिक व्यवस्था के नियम भी समय और परिस्थितियों पर ही निर्भर करते हैं, लेकिन उनमें सार्वजनिकता का आग्रह अधिक होता है, इसीलिए व्यक्ति जो अपने हित में उचित मानता है, वही समाज माने, यह आवश्यक नहीं है। इसलिए आधुनिक युग में भी मनुष्य की मुक्ति का अर्थ सामाजिक दायित्वों की पूर्ति करते हुए रूढ़ियों, विकारों और मानसिक सन्तापों से मुक्त होकर जीवन का सन्तोष पाना है। जैनेन्द्र कुमार के साहित्य में जीवन की यही मुक्ति काम्य है, जिसमें किसी व्यवधान के लिए कोई अवकाश नहीं हैं। यह 'मुक्ति' वस्तुतः दार्शनिक धरातल पर औपनिषद मुक्ति का आधुनिक रूप है, लेकिन इसमें ब्रह्म और जीवात्मा की जगह मनुष्य और मनुष्य ने ले ली है। सम्बन्धों और मानवीय प्रेम में समर्पण तथा उनका निर्वाह इस 'मुक्ति' का क्षेत्र है। प्रेम तथा मानवीय दायित्वों के लिए जैनेन्द्र कुमार कोई सीमा रेखा नहीं खींचते। वहाँ सब अनुभूति और स्पन्दन के सहारे

एक पूरी जीवन-प्रक्रिया का खुला स्वीकार है। इस खुले स्वीकार में व्यक्तिगत नैतिकता या सामाजिक मूल्य को किसी तरह की क्षति पहुँचती है तो इसकी परवाह जैनेन्द्र कुमार नहीं करते। उनकी दृष्टि में यह सामाजिक नहीं, आत्मिक है और जब आत्मिक है तो वह सामाजिक मर्यादा का ध्यान रखे, यह आवश्यक नहीं है। वे कहते हैं–

''इस सम्बन्ध में नियम रेखा कहाँ-कैसी खिंची जाए, मेरी समझ में नहीं आता। शायद इस जगह कोई भी नियम बना-बनाया नहीं देखा जा सकता। यह प्रश्न सामाजिकता की ओर से निर्णीत होने वाला नहीं है। प्रश्न यह सामाजिकता का नहीं, आत्मिक का है और इसका हल भी व्यक्ति अपने लिए करता है।'' (काम, प्रेम और परिवार, पृ. 56)

यह रेखांकित करनेवाली बात है कि जैनेन्द्र कुमार 'व्यक्ति' की पूर्णता में ही समाज की पूर्णता देखते हैं और 'सामाजिक' पर 'आत्मिक' को प्रतिष्ठित करते हैं। इसका यह निष्कर्ष तो हर्गिज नहीं है कि वे व्यक्ति को समाज से ऊपर मानते हैं या समाज के विकास और उसकी निरन्तरता को चुनौती देते हैं। यहाँ सिर्फ़ यह ध्यान देने की बात है कि पारम्परिक रूप से जड़ हो चुके मूल्य जैनेन्द्र कुमार के 'व्यक्ति' के विकास में बाधक हैं। वस्तुतः वे उसे चुनौती देते हैं और उनके अपने 'नेशन स्टेट' में उसकी स्वीकृति नहीं है।

जैनेन्द्र कुमार के यहाँ 'व्यक्ति' 'समाज' या फिर 'राज्य' के लिए जो नैतिकता प्रस्तावित है, उसके कई सूत्र हैं, जो अनेक स्तरों से जुड़ते हैं। 'सत्य' और 'अहिंसा' से जी जा रही जिन्दगी में प्रेम और सद्भाव का गाँधी-दर्शन जैनेन्द्र कुमार की नैतिक धारणाओं का एक स्रोत तो है, पर वही उनका आधार नहीं है। वे 'सत्याग्रह' 'सविनय अवज्ञा' और 'आत्मदमन' के संकल्प कहीं छोड़ देते हैं तो कहीं स्वीकार करते हैं। उनकी धारणाओं के निर्माण में हिन्दू-दर्शन का भी हाथ है और इसमें वे उपनिषदों से अपना मन्तव्य ग्रहण करते हैं। उपनिषदों के तत्व-चिन्तन का सार है–आत्मिक सत्ता की प्रतिष्ठा, जैनेन्द्र कुमार ने इस सूत्र को अपने दर्शन का एक अवलम्ब बनाया और उसे एक नयी विश्व-व्यवस्था में बाँधने का यत्न भी किया। उनकी नैतिकता से सम्बन्धित चिन्तन को परखने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि उनके चिन्तन में या रचनाओं में व्यक्ति के अन्तस की जिस शुद्धि की बात उठती है, वह सीधे-सीधे जीवन की सार वस्तु की खोज से जुड़ती है। ईश्वर से तादात्म्य और एकात्म की वृत्ति ही इस अन्तदर्शन की मूल प्रक्रिया है, पर यह ध्यातव्य है कि जैनेन्द्र कुमार बार-बार मनुष्य जीवन की निस्सारता देखते हुए ब्रह्म से जीव की एकात्मता की बात करते हुए भी इस तथ्य को लेकर सजग रहते हैं कि इसका अधिक-से-अधिक मनुष्य के नैतिक, आध्यात्मिक विकास से ही सम्बन्ध बने, वह जीवन-जगत से निरपेक्ष न हो उठे।

'ब्रह्म' सार्वभौम संवेदना के रूप में ही यहाँ काम्य है, वह ऐसा नहीं है कि जैनेन्द्र कुमार 'व्यक्ति' और 'समाज' को जीवन-जगत से भागकर उसकी शरण में

जाने को प्रेरित करते हैं। जैनेन्द्र कुमार 'व्यक्ति' के आचरण में इसे प्रतिष्ठा देते हैं। जैनेन्द्र कुमार के यहाँ संकीर्ण और स्वार्थमूलक सांसारिक प्रवृत्तियों को दूर करने के निमित्त 'वैराग्य' का सिद्धान्त यद्यपि स्वीकृत है, पर उसमें गार्हस्थ्य की प्रतिष्ठा है। वानप्रस्थ और संन्यास उनके दर्शन का प्रयोजन ही नहीं हैं। वे गृहस्थ-जीवन में भोग की आत्यंतिकता को जीवन और समाज के लिए हानिकर मानते हैं और 'आत्म' के कल्याण में उसके परिणामों की व्याख्या भी करते हैं। उनके यहाँ 'ब्रह्मज्ञान' का भी प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं है, पर नैतिक सदाचार के अन्तर्गत 'आत्मवत्' मानने की अवधारणा की स्वीकृति है। वहाँ कोई व्यक्ति त्याज्य नहीं है और न ही कोई ऐसा है, जिसे घृणास्पद माना जाए। जैनेन्द्र कुमार के यहाँ वैदिक 'कर्म' आचरण का पर्याय है। उसे नैतिक स्वच्छता के साथ जोड़कर जैनेन्द्र कुमार ने मनुष्य के आत्मिक विकास का सूत्र दिया है। उनके यहाँ 'कर्म' की श्रेष्ठता तो स्वीकृत है, पर मध्ययुगीन सन्तों और भक्तों की तरह योग और भोग की मान्यता अस्वीकृत है। इसके पीछे व्यावहारिक तर्क यही है कि जैनेन्द्र कुमार के चिन्तन का, उनके साहित्य का प्रतिपाद्य 'प्रेम की व्यापकता की प्रतिष्ठा' और 'मानवीय संवेदना का सार्वभौमिक प्रसार' है, इसीलिए उसमें 'श्रेष्ठ कर्म' की अपेक्षा तो है, पर धार्मिक सन्धान की आवश्यकता नहीं है।

'आत्म की खोज' की अवधारणा भी जैनेन्द्र कुमार के सृजन-चिन्तन का एक पक्ष है। अपने को अनवरत खोजना अपने 'आत्म' को जाग्रत रखना तथा अपनी सार्थकता को निरन्तर जाँचना वे 'व्यक्ति' के लिए आवश्यकता मानते हैं। इस 'खोज' के चार तत्व हैं–सद्भाव, श्रद्धा, अहिंसा तथा आत्मदमन। इसे ही अंग्रेजी इतिहासकार आर्नल्ड टॉयनबी 'सर्वोच्च मानव-मूल्य' कहते हैं और गाँधी 'प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव' के रूप में उसे देखते हैं। जैनेन्द्र कुमार अपने 'नेशन स्टेट' में 'प्रेम के नियम' के आधार पर बनी राजनीतिक प्रोद्यौगिकी को ही अपना 'सत्याग्रह' कहते हैं; जैसा कि गाँधी के बारे में कहा जाता है और 'सत्याग्रह' को उनका बल अभिहित किया जाता है।

जैनेन्द्र कुमार प्रेम, विवाह, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, परिवार, दायित्व जैसे प्रश्नों पर विचार करते हुए उसे एक नयी परिभाषा में बान्धते हैं। उनके प्रबन्धन का, उनकी अवधारणाओं का और उनकी व्यवस्था का समाज ऐसा है जिसमें किसी भी प्रकार की जड़ता स्वीकार्य नहीं है। जिस तरह ठहरा हुआ पानी गन्दला होकर अपनी स्वच्छता और पारदर्शिता खो देता है, उसी तरह सम्बन्ध भी जड़ होकर अपनी प्राणवत्ता खो देते हैं। जैनेन्द्र के समाज-दर्शन की धुरी है–प्रेम। उनके यहाँ प्रेम का खुला स्वीकार है। कोई नैतिकता उस पर बाधा नहीं बन सकती। वह सर्वोपरि मूल्य है, वह प्रकृति का अनुपम उपहार है, उसे बान्धेंगे तो विस्फोट होगा, सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। पर ऐसा नहीं है कि कहीं जैनेन्द्र कुमार प्रेम का अराजक होना स्वीकार करें। वे ऐसे प्रेम को स्वीकार नहीं करते, जो समाज-व्यवस्था को तोड़ देने पर आमादा हो और उसमें 'शुभ कर्म' न हो। उनके यहाँ प्रेम 'कामना' का नहीं, 'विश्वास' का नाम

है। 'सहना' भी वह है, क्योंकि जो व्यक्ति प्रेम को अन्त तक सह लेता है, साध लेता है, वह 'मानवोत्तम' बन जाता है। जैनेन्द्र कुमार यह द्योतित करते हैं कि शुद्ध-प्रेम में अधीरता नहीं हो सकती। वह दैहिक नहीं, आत्मिक ही होता है। वे 'विवाह' को समाज-व्यवस्था का आधार स्तम्भ मानते हुए भी उसे 'बन्धन' होने से इंकार करते हैं। अगर उसको एक-दूसरे पर 'बन्धन' ही बने रहना है, तब उसे तोड़ना उनके लिए आवश्यक हो जाता है। 'विवाह को जैनेन्द्र कुमार वस्तुतः' 'अहं का विसर्जन' और 'एक-दूसरे में विलय' के रूप में देखते हैं। उसे एक 'प्रतिज्ञा' के रूप में रखते हुए वे उसे 'सामयिक सुविधा' बना देने का विरोध करते देखे जा सकते हैं।

इसी तरह जैनेन्द्र कुमार स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को भी देखते हैं और उसमें यह अनिवार्य मानते हैं कि अपनी-अपनी अस्मिताओं को सुरक्षित रखने की स्थिति अवश्य बननी चाहिए। स्त्री-पुरुष की समानता, समाज और परिवार की सुरक्षा और विकास में आवश्यक है। इसमें न कोई श्रेष्ठ है और न कोई तुच्छ। जब तक स्त्री-पुरुष समान धरातल पर खड़े न होंगे, तब तक न तो परिवार को बचाना सम्भव है और न ही समाज को, तब राज्य किस ओर जाएगा, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है।

जैनेन्द्र कुमार का चिन्तन जीवन-व्यवहार का दर्शन है। उसमें अकादमिकता या शुष्क सिद्धान्तवादिता नहीं है। जैनेन्द्र कुमार व्यक्ति, परिवार, समाज और राज्य को अपने आदर्शों के रूप में देखते हैं और उसके सर्वांग का विवेचन करते हैं उनके आदर्श का 'व्यक्ति' कैसा हो, 'परिवार' कैसा हो, 'समाज' कितना उदार और विस्तृत हो तथा उनके 'राज्य' की व्यवस्था कैसी हो, उसकी राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, सरकार के कार्य और उसमें निहित मूल्य-तन्त्र कैसा हो, इस पर वे पर्याप्त विचार करते हैं और एक 'टोटल थिअरी' देते हैं। आवश्यक नहीं है कि आज के विश्व में उस 'थिअरी' को महत्व ही मिले या उसे एक अनिवार्य व्यवस्था के रूप में स्वीकृति ही मिले, लेकिन इसे एक 'वैकल्पिक व्यवस्था' के रूप में देखने की सम्भावना अभी तब तक अवश्य बची है, जब तक मनुष्य में आस्था की शक्ति जीवित है, वह पूरी तरह स्खलित नहीं हुई है। भारत को जानने और उसे बनाने-सँवारने का मार्ग इसी मिट्टी से बना मार्ग ही हो सकता है, इसे गाँधी से अधिक समझा किसने? जैनेन्द्र कुमार की चिन्तन प्रक्रिया इसी देश की परम्पराओं और संस्कृतियों के समेकित ज्ञान से सम्भव हुई है, इसलिए उसमें एक विश्वसनीय सूत्र व्यवस्था है, जो परम्परा के सृजनशील अवयवों के उपयोग के साथ-साथ भारतीय जन की गहरी समझ से निर्मित हुई है। उसे एक 'मुकम्मल विचार' के रूप में तो देखा ही जा सकता है।

(तीन)

जैनेन्द्र कुमार ने अपने कथा साहित्य में सर्वथा नये प्रयोग सम्भव किए और एक नयी परम्परा का सूत्रपात किया। उन्होंने अपने उपन्यासों में पारम्परिक ढाँचे को तोड़ा। उपन्यासों में 'कहानी' की रूढ़ि को त्यागा, पारम्परिक औपन्यासिक तत्वों

को दरकिनार किया और उसे नयी जमीन पर प्रतिष्ठित किया। भाषा का व्याकरणिक ताना-बाना भी यहाँ ढीला हुआ। उनका पहला उपन्यास 'परख' 1929 में छपा था, तब उनकी आयु 24 वर्ष की थी। 'परख' के प्रकाशन के पहले हिन्दी में यह सोचना भी शायद ही सम्भव था कि कोई लेखक 'बाल वैधव्य' पर भी लिखेगा, पर जैनेन्द्र कुमार ने उस पर लिखा और उसकी नायिका 'कट्टो' के दुर्भाग्य को समाज-व्यवस्था का पाखण्ड घोषित कर इस तरह प्रस्तुत किया कि यहाँ का सामाजिक ढाँचा चरमरा गया। कट्टो सोचती है, ''लोग कहते हैं वह विधवा है, कम नसीब। लड़की जान गयी है, वह विधवा है, कम नसीब भी होगी, लेकिन फिर हँसने-खेलने, भागने-कूदने का अधिकार वह क्यों नहीं रखती, यह वह नहीं समझ पाती।'' (परख, पृ. 29) उसके इस प्रश्न का हिन्दू समाज के पास कोई उत्तर नहीं था। जैनेन्द्र के राष्ट्र-राज्य में कुरीतियों के लिए कोई जगह नहीं थी, इसलिए उन्होंने पहली बार बाल वैधव्य को एक बड़ी समस्या के रूप में उठाया और उसे राष्ट्रीय बहस के केन्द्र में ला खड़ा किया। स्वाधीन भारत का राष्ट्र-राज्य उन्हें वैसा ही चाहिए था, जिसे उन्होंने 'परख' में प्रस्तावित किया। एक ऐसा भारत जिसमें स्त्री को जीने और पुरुषों के समक्ष खड़ा होने की आज़ादी थी। यह उनके राष्ट्र-राज्य में स्त्री-स्वाधीनता की पहली मुनादी थी।

'सुनीता' जैनेन्द्र कुमार का दूसरा उपन्यास है, जिसने अपने प्रकाशन के साथ हिन्दी में एक बड़े विवाद को जन्म दिया था। भाषा, शिल्प और कथ्य के नए रूप के कारण इस उपन्यास को ऐतिहासिक महत्व मिला। उसमें 'सुनीता' नामक एक ऐसी स्त्री की कथा है जो प्रेम के दोराहे पर खड़ी है। पति से तो वह प्रेम करती ही है, पति के मित्र हरिप्रसन्न की कामना का आदर भी उसके मन में है। वह दोनों का निर्वाह करती है, हालाँकि अपने घर की बुनियाद का भी उसे पता है। वह जानती है कि घर टूटेगा तो वह उजड़ जाएगी। एक भारतीय स्त्री का यह रूप सबके लिए पचाना कठिन हो गया। लोग विचलित हुए, पर उनकी समझ में यह न आया कि स्त्री के अधिकार में उसके पति का भी सहयोग है, एक सीमा तक सहयोग ही नहीं निवेदन भी है कि सुनीता उसके (श्रीकान्त के) क्रान्तिकारी मित्र हरिप्रसन्न को प्रेम देकर डूबने से बचाए और उसे दुनिया से न भागने दे।

'सुनीता' के माध्यम से जैनेन्द्र कुमार ने स्त्री-शक्ति को पहचाना और हिन्दी में पहली बार उसे हाशिए से उठाकर केन्द्र में रखा। सदियों से दलित, उत्पीड़ित स्त्री जैनेन्द्र कुमार की कलम का सहारा पाकर मानो नया जीवन पा उठी। अब वह पुरुष की चेरी नहीं थी, वह एक ताकत थी, जिसका पूरा मान दिए बिना निस्तार नहीं था। वह पुरुष के बराबर खड़ी थी और पुरुष से भी उसकी पवित्रता के प्रश्न पूछ सकती थी। जैनेन्द्र कुमार ने सही मायनों में भारतीय स्त्री को आवाज़ दी। जैनेन्द्र ने 'सुनीता' में स्वाधीनता संघर्ष को दिखाते हुए हिंसा का विरोध किया। हरिप्रसन्न जैसे क्रान्तिकारी को श्रीकान्त ने सुनीता के माध्यम से प्रेम की सीख भी दी। गाँधी

की अहिंसा, प्रेम और सत्य पर बुना गया उपन्यास 'सुनीता' भारतीय राष्ट्र-राज्य की ऐसी प्रस्तावना भी है, जिसमें हिंसा की नहीं, प्रेम की जगह है और अनीति की जगह मानवीय समर्पण प्रतिष्ठित है।

इसी कड़ी में उनका उपन्यास 'त्यागपत्र' उनके लेखन का सर्वश्रेष्ठ बनकर आया। मृणाल नामक एक स्त्री के माध्यम से जैनेन्द्र कुमार ने 'त्यागपत्र' में हिन्दू समाज की पारम्परिक नैतिकता को ध्वस्त कर भारतीय सामाजिक जीवन में स्त्री के लिए नयी नैतिकता की नींव रखी। मृणाल समाज की उन मर्यादाओं की परवाह नहीं करती जो मर्यादाएँ उसकी स्वाधीनता और अस्मिता की अनदेखी करती हैं। यह उपन्यास स्त्री शक्ति के अभ्युदय का, उसके प्रकट होने का आख्यान है। वह जीवन भर अहिंसक संघर्ष करती है और पारम्परिक समाज को उसकी मान्यताओं सहित खारिज कर देती है, वह विद्रोह करती है अवश्य, पर स्वयं को तोड़कर और टूटती रहकर भी वह समाज के हित की कामना करती है। इस उपन्यास में समाज के हाशिए पर रह रहे दलित और वन्चितों की सुधि भी है और उनके जीवन-यथार्थ को देखने की कोशिश भी। जैनेन्द्र की नजर में भारतीय राष्ट्र-राज्य का तब तक कोई भविष्य नहीं है, जब तक वंचितों को उनका अधिकार नहीं मिलता। यह सूत्र भी 'त्यागपत्र' में से निकलता है। यह उपन्यास इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी में स्त्रियों के प्रश्नों पर आगे उठने और चलनेवाले विमर्शों की भी बुनियाद वह बना। 'त्यागपत्र' ऐसी कृति है, जो पाखण्ड पर आधारित समाज-व्यवस्था की चूलें हिला देती है और अनेक संस्थागत समस्याओं से टकराती है। 'विवाह' नाम की जड़ संस्था पर प्रहार करते जैनेन्द्र ऐसे भारतीय समाज की प्रस्तावना भी करते हैं, जिसमें 'विवाह' की बलि लेनेवाली परम्परा को खत्म करने की उद्घोषणा है। यह उनके प्रस्तावित राष्ट्र-राज्य के घोषणा-पत्र का एक अनुच्छेद भी है।

'त्यागपत्र' के बाद जैनेन्द्र कुमार ने 'कल्याणी' नामक उपन्यास लिखा। यह उपन्यास भी स्त्री-प्रश्नों को लेकर लिखा गया है, जिसमें जैनेन्द्र कुमार ने कल्याणी के माध्यम से यह देखने की कोशिश की है कि पुरुष-स्त्री के बीच प्रेम और दाम्पत्य के स्तरों पर समान सम्बन्धों का अभाव क्यों है? क्यों अन्ततः स्त्री पुरुष की अनुचित कामना का शिकार होती है और प्रतिरोध उसमें क्या नहीं करते बनता। 'कल्याणी' के बाद उनके सृजन में लम्बा विराम आता है और लगभग बारह वर्षों तक जैनेन्द्र सृजन से विरत दिखाई देते हैं। इसके बाद वे 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'जयवर्द्धन', 'मुक्तिबोध', 'अनन्तर', 'अनामस्वामी' और 'दशार्क' जैसे उपन्यास लिखते हैं और जीवन-जगत के प्रश्नों को नयी दृष्टि से देखने के साथ-साथ नये चरित्रों को भी रचते हैं, जो बहुत बार हमें अचरज में डालते हैं।

'कल्याणी', 'सुखदा' और 'दशार्क' जैसे उपन्यास स्त्रियों के वैयक्तिक संघर्ष को नया शिखर देते हैं और पहली बार इतनी स्वतन्त्रता कि वह अपने होने को प्रमाणित कर सके। इन स्त्रियों की ओर से जैनेन्द्र कुमार अनेक ज्वलन्त प्रश्नों को उठाते

है। 'कल्याणी' इसी का शिकार होती है। पति उस पर वृथा शक करता है, अपने लाभ के लिए उसका इस्तेमाल भी करता है और इस तरह दोनों एक-दूसरे पर विश्वास खो देते हैं। कल्याणी कहती है, "प्रेम और नहीं, वह विश्वास है। प्रेम में कामना नहीं हो सकती। उसमें इतनी अपूर्णता भी नहीं हो सकती। सच्चे प्रेम का दूसरा नाम है विश्वास। कोई है, जिसका अब भी मुझ पर विश्वास है? विश्वास, मेरे देवत्व में विश्वास।" (कल्याणी, पृ. 140)

'सुखदा' भी स्त्रियों में निर्बाध सफलता और नाम पाने की दौड़ में आतुर भावनाओं के परिणाम का उपन्यास है, जिससे सुखदा का परिवार नष्ट होता है तथा उसके पास अपने डरावने अकेलेपन के सिवा कुछ भी नहीं बच पाता। 'दशार्क' की रंजना जैनेन्द्र कुमार के अन्तिम काल की रचनात्मकता का विस्फोट है जो आज के समय का करारा प्रतिरोध करती है। एक तरह से 'दशार्क' जैनेन्द्र कुमार के सामाजिक क्रान्ति से सम्बन्धित विचारों का संवहन करता है और भौतिकता के पीछे उन्मत्त हुए भारत को फटकारता है। यह वह उपन्यास है जिसमें जैनेन्द्र कुमार 'विवाह' नामक पवित्र संस्था के क्षय पर प्रश्न उठाते हैं और उसे उसी रूप में चलने देने के समर्थक नहीं बनते। 'विवाह' को पैसे ने नष्ट किया है। जरूरतों ने उसकी पवित्रता भंग की है। वह एक 'सुविधा' भर रह गया है, जिसमें अविश्वास, पाखण्ड, शंका और एक-दूसरे को ढोने की लाचारी ही शेष है। 'दशार्क' की रंजना 'विवाह' को केवल एक झीना परदा भर रहने देती है और जरूरत तथा 'पैसे' के लिए स्वयं का व्यापार करती है। वह कहती है, "तुम सोचती हो, विवाह टिकेगा? विवाह रेखा बनाता है कि जिससे व्यभिचार की सृष्टि और पहचान होती है, लेकिन खुद सोचकर देखो कि स्त्री-पुरुष के मिलने में दोष क्या है? लेकिन विवाह उसी में दोष दिखाने लगता है, जिसमें एक-दूसरे का स्वत्व बन जाए, सम्पत्ति बन जाए, वो तो संस्कार है, बाकी व्यभिचार है। तो बुद्धि इस मिथ्याचार को कैसे सहेगी? कैसे न कहेगी कि विवाह बुर्जुआ ढकोसला है, वो एक इजारेदारी है। वो स्थापित स्वार्थ है, वो पट्टा है व्यभिचार को वैध बनाने का।" (दशार्क, पृ. 57)

'जयवर्द्धन' राजसत्ता की वास्तविकता और जनता से उसके सम्बन्धों के साथ-साथ जीवन-व्यवहार के अनेक प्रश्नों पर विमर्श करता उपन्यास है, जिसमें जैनेन्द्र कुमार ने अपने 'नेशन स्टेट' पर गम्भीर बहस सम्भव की है। यह उपन्यास समग्रता में भारतीय राष्ट्र-राज्य पर गम्भीरता से विचार करता है। ध्यान देने की बात यह है कि 'जयवर्द्धन' आज़ादी और देश के पहले आम चुनाव के बाद का उपन्यास है। 1956 में यह प्रकाशित होता है। गाँधीजी की हत्या हो चुकी है और देश के पहले प्रधानमन्त्री के रूप में पंडित जवाहरलाल नेहरू धीरे-धीरे उन मूल्यों, मान्यताओं तथा गाँधी के 'स्वराज' के आदर्शों को दरकिनार करने लगे हैं, जो समूचे स्वाधीनता आन्दोलन के मूल में रहा। भारत भले ही लोक कल्याणकारी राज्य बना दिया गया और मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के जरिए देश के जन-जन की खुशहाली का कोरा संकल्प

लिया गया, पर उस दौर में भी वह खोखला साबित होने लगा था। 'जयवर्द्धन' स्वाधीनता संघर्ष के दिनों में घोषित 'स्वराज' के संकल्प और स्वाधीनता के बाद उस संकल्प के भटकाव पर गम्भीर विमर्श प्रस्तुत करता है। उपन्यास में स्वामी और जयवर्द्धन क्रमशः गाँधी और नेहरू के प्रतीक हैं। पूरे उपन्यास में गाँधी और नेहरू की नीतियों में परस्पर द्वैत का आख्यान है और भारतीय राष्ट्रवाद की पश्चिम-परस्ती का निषेध। एक स्थल पर स्वामी कहते हैं, "वह तो है और भोगवृत्तिक प्रगति, जो पश्चिम की रही है, मुझमें संशय उत्पन्न करती ही है। उस वृत्ति से प्रश्न पदार्थ का बना रहता है। पदार्थ की राशि की सीमा है और भोगवृत्ति रखने पर उसके प्रति लोभ की सीमा रह नहीं जाती है। इसलिए पदार्थ का उत्पादन कितना भी हो, उसका प्रश्न समाप्त नहीं होता और अशान्ति उपजाए बिना भी नहीं रह जाता। युद्ध उसी में से सन्तुष्ट होते गए हैं और मैं किसी कीमत पर भी उस प्रकार की उन्नति और प्रगति को सिर पर लेने को तैयार नहीं हूँ।" ('जयवर्द्धन', पृ. 296)

जैनेन्द्र की भारतीय राष्ट्रवाद से सम्बन्धित स्वाधीनता पूर्व की चिन्ताएँ इस उपन्यास में उठती हैं और राष्ट्रवाद के लगभग सभी बिन्दुओं को छूती हैं। जैनेन्द्र ने उपन्यास की भूमिका में लिखा है, "जयवर्द्धन की अवतारणा की कल्पना जगी और यह रचना बनी तब पण्डित जवाहरलाल नेहरू भारत के शीर्ष पर थे। शीर्ष पर दृष्टि क्या चाहिए, नीति क्या, इस बारे में मेरे मन में विचार चला करते थे। गाँधी जा चुके थे और अनुभव होता था कि कुछ था, तब जो भारतीय जीवन में बाद में अनुपस्थित हो गया। फलतः भारत के यश और वर्चस्व में ह्रास होता गया।"

ध्यान से देखने पर लगता है कि यह उपन्यास महात्मा गाँधी के 'हिन्द स्वराज' के आईने में भारतीय राष्ट्र के शासन, संकल्प, नीति तथा समूचे आचरण को देखता है और उससे भटकाव पर प्रश्न खड़े करता है। जैनेन्द्र की दृष्टि में स्पष्ट है कि गाँधी-नीति पर आधारित राष्ट्रवाद ही स्वराज्य है और उससे विलग हो जाना भारत को उस पश्चिम की पाशविक सभ्यता का अनुचर बना देना होगा, जहाँ श्रद्धा और नीति जैसे मूल्य कभी रहे ही नहीं। अन्धाधुंध पूंजी का विस्तार, सत्ता की केन्द्रीयता, अनुत्तरदायी जनप्रातिनिधिकता और येन केन प्रकारेण सत्ता बचाए रखने की निर्लज्ज व्यवस्था भारतीय राष्ट्र के उस संकल्प को भुला चुकी थी, जो स्वाधीनता संघर्ष का लक्ष्य था। इसी तरह 'अनन्तर' में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की नए सिरे से व्याख्या है तो 'अनामस्वामी' में जीवन की सारता-निस्सारता पर गहन विवेचन। 'मुक्तिबोध' में वे मनुष्य की मुक्ति के बोध को विश्लेषित करने की चेष्टा करते हैं। 'मुक्तिबोध' में राजनेता सहाय के माध्यम से भारतीय राजनीति के भटकाव और उसके खोखलेपन की शल्यक्रिया है। यह उपन्यास उस राष्ट्रवाद को चरितार्थ करने की माँग करता है, जिसमें सही अर्थों में जनतन्त्र का आदर्श हो। जोड़-तोड़ कर संख्या बल के आधार पर सरकारें बनाना और गिराना उस सुराज का मखौल है, जिसमें जन-जन की प्रगति का संकल्प निहित था।

उपन्यास के नायक सहाय ने राजनीति को स्वीकार कर निःस्वार्थ सेवा, त्याग और समर्पण को अपनाया है। पर वे सरकार में मंत्री बनने से अधिक किसी गाँव में किसान का जीवन जीकर अपनी मुक्ति पाना चाहते हैं, लेकिन उनके सभी परिजन और दल के लोग उन्हें ऐसा करने से मना करते हैं। उपन्यास में मुक्ति के मार्ग में आए यह दो मार्ग सहाय के द्वन्द्व के साथ-साथ उपन्यास के द्वन्द्व का भी कारण हैं। काफी सोच-विचार के बाद सहाय को लगता है कि किसान के जीवन की इच्छा यथार्थ से पलायन का मार्ग है और वह जीवन की वास्तविकताओं और दायित्वों से भागने के बराबर ही है। इसलिए वे मंत्री बनना स्वीकार करते हैं। उनके मंत्री बनने और देश के दायित्वों को सहर्ष अपना लेने के बाद हमें यह लगता है कि वे ऐसी व्यवस्था बना सकेंगे, जिसके भीतर रहकर वे एक ऐसे राष्ट्र का संकल्प पूरा करने में सफल होंगे जिसमें स्वराज्य का घोषित लक्ष्य पूरा किया जा सकेगा। यह वे अपने बिना किसी स्वार्थ के परमार्थ के लिए करना चाहते हैं, जिसमें हम सहजता से गीता के निष्काम कर्म का प्रतिपादन देख सकते हैं।

इसमें इस बात का प्रश्न नहीं है कि सहाय अपने लक्ष्य में सफल होते हैं या नहीं, बल्कि महत्त्वपूर्ण यह है कि वे राजनीति को कोरे शासन-तन्त्र से बाहर देखते हैं और उसके मन में यह भाव जागता है कि अगर जनता के व्यापक हितों की रक्षा में शासन असफल होता है तो ऐसे शासन का होना या जाना कोई मायने नहीं रखता। असल बात है, अपने को एक बड़े लक्ष्य में लगाना और भूल जाना कि उससे कोई प्राप्ति भी हो रही है। ऐसे विचार जैनेन्द्र ने 'समय और हम' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक में भी व्यक्त किए हैं जिसमें व्यक्ति का परमार्थ सहित राष्ट्र के हित को सर्वोपरि मानने का आह्वान है।

निष्कर्षतः जैनेन्द्र कुमार का साहित्य चाहे वह विचार का हो या सृजन का, हममें गहरी बेचैनी पैदा करता है। जैनेन्द्र कुमार का जो विचार-जगत है और उससे वह जो एक बड़ी अवधारणा प्रस्तुत करते हैं, 'नेशन स्टेट' की, उनके सृजन में वही मौलिकता, कथ्य में वही समझ और चरित्रों में उसी तरह की चेतना का प्रसार दिखाई देता है। उनके उपन्यास न महज पढ़कर किनारे रख देनेवाले हैं और न कहानियाँ पढ़कर भुला देनेवाली हैं। इसलिए कि उनमें हम कहानी नहीं पढ़ते, नियति-लेख बाँचते है। भाषा वहाँ नहीं होती, आह होती है, जो ध्वनियों से फूटती है और हमें लगने लगता है कि जो जीवन हमें मिला है, जिस समाज में हम रहते हैं और जिन चीजों के निर्वाह में अपना सब कुछ भुला देते हैं, उसे अब सचमुच भूल जाने की जरूरत आ पड़ी है। जैनेन्द्र कुमार ने अपने लेखन से परिवर्तन की खुली माँग की। उनकी माँग में 'क्रान्ति का उद्घोष' नहीं, एक विनम्र निवेदन है, चीख-पुकार वहाँ नहीं है—'आत्म की ध्वनि' है। ग्लानि, चिन्ता, मत्सर, मोह और माया भी उनकी रचनाओं में है, पर सबको समभाव से देखने की तत्परता है। सबमें अपने को विलीन कर जीवन को प्रार्थना बना लेने का दर्शन ही जैनेन्द्र का दर्शन है, उसी में जीवन की

सार्थकता है, उसी में मूल्य और नैतिकता है और कदाचित् इसी पवित्र भाव से जैनेन्द्र कुमार का 'नेशन स्टेट' भी अपना आकार चाहता है।

(चार)

आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों से लेकर प्रेमचन्द के उपन्यास और उसके बाद जैनेन्द्र के उपन्यासों तथा उनके राष्ट्रवादी चिन्तन को देखने से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हिन्दी में स्वाधीनता-पूर्व के उपन्यास अपने-अपने ढंग से स्वाधीनता के बाद के भारत की एक तस्वीर बनाते हैं और अपने वर्तमान में रहते हुए भी स्वाधीनता संघर्ष को गति देते हैं। राष्ट्रवाद का यह खाका निश्चय ही समतामूलक समाज की चिन्ताओं से प्रेरित है और एक ऐसे भारत के निर्माण पर बल है जिसमें किसी भी तरह की ग़ैर बराबरी की जगह न हो, लेकिन यह मानने में कोई हर्ज़ नहीं है कि फ्रेडरिक जेम्सन की मान्यता के अनुरूप तीसरी दुनिया के देशों के उपन्यासों में; जिसमें भारत भी शामिल है, राष्ट्रीय रूपक की पूर्णतः अभिव्यक्ति नहीं होती। इसका प्रत्यक्ष कारण यही है कि तीसरी दुनिया सहित भारत जैसे देश में उपन्यास का उदय यूरोप की तरह राष्ट्रीय अस्मिता को व्यक्त करने के लिए नहीं हुआ। हिन्दी के अधिकतर उपन्यास अपने पूरे विन्यास में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार तथा सामाजिक विषमता के विरुद्ध आवाज़ उठाते देखे जा सकते हैं। बेनेडिक्ट एंडरसन ने इससे पहले तीसरी दुनिया के उपन्यासों को राष्ट्र के आख्यान के रूप में पढ़ने की सलाह दी थी और राष्ट्र को एक कल्पित समुदाय कहा था। एडवर्ड सईद ने अपनी चर्चित पुस्तक 'संस्कृति और साम्राज्यवाद' में ऐसे प्रयासों को खारिज करते हुए ठीक ही संकेत किया है कि इन देशों के उपन्यास चूँकि औपनिवेशिक काल की उपज थे, इसलिए उसमें उपनिवेशवादी ताकतों का समर्थन भी दिखता है। हिन्दी में भी यह स्थिति लम्बे काल तक रही, पर यह जरूर देखा गया कि उपन्यास अपने कथ्य में सामाजिक अधिरचना की समरसता पर बल देते रहे और एक ऐसे राष्ट्र-राज्य को प्रस्तावित करने की चेष्टा की, जिसमें अतीत प्रेम का पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद अपनी जगह नहीं बना पाया और उसकी जगह एक ऐसे समग्र राष्ट्र-दर्शन ने ले ली जिसमें वर्तमान की चिन्ता के साथ भविष्य के स्वप्न की चिन्ता अधिक थी।

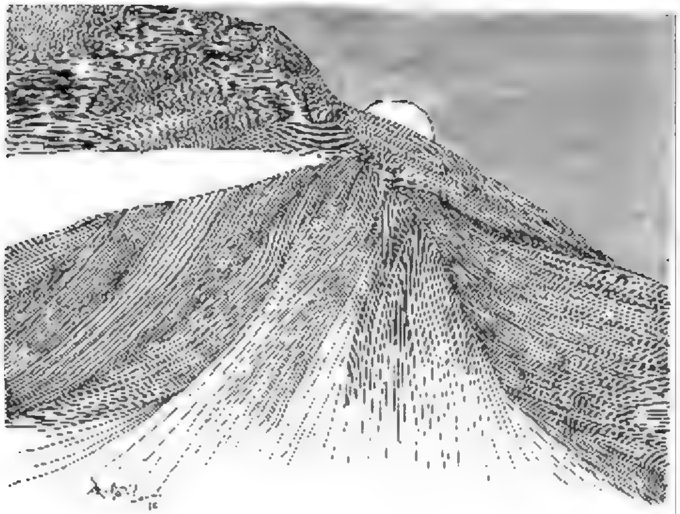
इस स्तर पर देखेंगे तो पाएँगे कि अपने आरम्भ से लेकर अब तक हिन्दी उपन्यास स्वाधीनता-संघर्ष के साथ-साथ स्वाधीन भारत की बदहाली और जातीय अस्मिताओं के संघर्षों को अभिव्यक्त करते रहे हैं। राष्ट्रवाद की अतीत-जीविता भारतीय पहचान के रूप में अपनी जगह आज तक नहीं बना पाई है। अगर जगह बनी है तो उन्हीं विचारों की बनी है जिसमें एक राष्ट्र के रूप में उस भारत की खोज का प्रयत्न है, जिसमें समरस समाज की स्थापना हो, कहीं गैर बराबरी न हो, व्यवस्था और उसका अर्थतंत्र नीति-सम्मत हो, सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन हो और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पहचान से राष्ट्र की पहचान का अनुभव हो। केवल अतीत के

गौरव-गान तक सीमित राष्ट्रवाद का हश्र ही क्रूर साम्प्रदायिकता में होता है जिससे न राष्ट्र का भला होता है, न जन का। कहना न होगा कि ऐसे राष्ट्रवादी उपन्यासों की संख्या हिन्दी में कम नहीं है, पर चूँकि जनता के जीवन-यथार्थ से उनका कोई वास्ता नहीं था; इसलिए उन्हें हाशिए की जगह ही मिल पाई। यूरोप में उपन्यास के जन्म के साथ ही राष्ट्र की अवधारणा प्रकाश में आई थी और यही कारण भी है कि यूरोपीय उपन्यासों में राष्ट्रीय अस्मिता को व्यक्त किया जाना अनिवार्य-सा भी हो गया। एक तथ्य यह भी है कि यूरोप और विकसित देशों में भाषा, समुदाय और विचार की एकरेखीय अस्मिताओं ने वहाँ के राष्ट्र-राज्य को पहचान दिलाई, पर भारत जैसे देश में जहाँ भाषायी बहुलता, सामुदायिक भिन्नता और विविधवर्णी अस्मिताएँ अस्तित्व में रही हैं, वहाँ एक 'मुकम्मल राष्ट्रवाद' की खोज ही नहीं, कल्पना भी बेमानी है। यहाँ के उपन्यास, जिसमें हिन्दी के उपन्यास भी शामिल हैं, भारत के एक राष्ट्र बनने की प्रक्रियाओं पर लिखे गए उपन्यास हैं—इसलिए इनमें राष्ट्रवाद की खोज वैसी हो भी नहीं सकती जैसी खोज पश्चिम के उपन्यासों में सम्भव है। ठाकुर जगन्मोहन सिंह, देवकीनन्दन खत्री, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के उपन्यासों में एक ऐसे भारतीय राष्ट्र-राज्य की प्रस्तावना है जिसमें सही अर्थों में 'स्वराज' की स्थापना हो सके। जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास भी उनके प्रस्तावित राष्ट्र-राज्य की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं और उन पारम्परिक, जड़ और रूढ़ हदबन्दियों को तोड़ते हैं, जो भारत की अतीतजीवी राष्ट्रवाद की मान्यताओं के विरुद्ध है। जाहिर है, ऐसा रचना-समय में 'रूपकों' पर निर्मित उपन्यास पश्चिम में तो लिखे जा सकते हैं; क्योंकि अपनी प्रभुता, साम्राज्यवादिता और वैचारिक श्रेष्ठता को कायम रखने तथा एकरेखीय अस्मिताओं को व्यक्त करने की वहाँ आज भी सम्भावनाएँ हैं, पर भारत में ऐसा सम्भव नहीं है। सम्भव होगा भी कैसे जहाँ का नागरिक जीवन वास्तविक अर्थों में स्वतन्त्रता, समता और न्याय से वंचित है, जहाँ का कथित लोकतन्त्रात्मक गणराज्य अपने बुनियादी संकल्पों को भुलाकर किसी भी तरह से चुनावी दंगल जीत लेने के प्रति कटिबद्ध राजनीतिक दलों द्वारा रौंदा जा रहा है। देश का मतलब उनके लिए किसी भी तरह सत्ता पा लेने से अधिक कुछ नहीं है।

जैनेन्द्र के विचार और उनके उपन्यास जहाँ भारतीय राष्ट्र-राज्य के लिए एक उत्तरदायी शासन की माँग करते हैं, वहीं उत्तरदायी नागरिक और उत्तरदायी समाज की माँग भी; क्योंकि बिना नैतिक नागरिक हुए नैतिक व्यवस्था की हमारी माँग अधूरी है और जाहिर है, तब हम वांछित 'स्वराज' को नहीं पा सकेंगे।

❑

अशोक गुप्ता



सपने में...

मुझे
आज सपने में खरगोश देखना है
मेरी कलम से फुदक कर
दो कविताएँ
भाग निकली हैं दफ्तर की खिड़की से
मैं लिख रहा था
एक सरकारी चिठ्ठी का
कठिन
बेमतलब जवाब
और रोक रहा था कविताओं को
चिठ्ठी में आने से

आज मुझे सपने में खरगोश देखना है,
खरगोश
जरूर कविताओं से ज्यादा तेज दौड़ते हैं
खासतौर पर तब
जब मैं

कविताओं में भी खरगोश जैसा ही
सपना जी रहा था...

जब...

जब मैं सचमुच बच्चा नहीं रहूँगा
जब नहीं किलक पाऊंगा
बादल पर तैरती हुई पतंग देख कर
तब
कट जाउंगा मैं भी
हुंकारती कलाबाजी खाती कनकैया की तरह,
बाजार के हाथों लूट लिया जाऊँगा।

जब मैं सचमुच बच्चा नहीं रहूँगा
जब
नहीं उतावला हो उठूँगा
जमीन पर नाचते हुए लट्टू को देख कर
कि
लत्ती से उछाल कर
लट्टू को अपनी हथेली पर नचाऊँ
तब
कोई और ही निर्मम सा लट्टू
मेरी हथेलियों पर नाचेगा
और क्षत विक्षत हो जाएँगी
मेरी भाग्य रेखाएं।

ऐसा नहीं है
कि
बचपन ने एक पिंजरा बन कर
मुझे कैद कर लिया है
मैं
अपने सर्वस्व में जीता हूँ एक सुन्दर प्रेयसी भी
लेकिन प्रेयसी के पास भी
माँ सी एक गोद है
और मैं उसमें शिशुवत हो जाता हूँ

पुरुष हो चुकने के
पहले,
और बाद भी...

जब मैं सचमुच बच्चा नहीं रहूँगा
तब सारी परी कथाएँ,
खरगोश और तितलियाँ
बारिश की छुवन और ढेर सारे इन्द्रधनुष
सब
मेरी स्मृतियों से गायब हो जाएँगे
बढ़ जाएगा एक और नाम
मक्कारों की सूची में।

जब मैं सचमुच बच्चा नहीं रहूँगा
तब न हँसूँगा
न रोऊँगा
और खड़ा हो जाऊँगा तुम्हारी और पीठ किये
जब देखूंगा तुम्हें कभी
बिलख कर रोते हुए।

जब मैं सचमुच बच्चा नहीं रहूँगा.......

नंगे पाँव

एक

जिन्दगी में खुशियाँ हमेशा दबे पाँव आती हैं
जरूरी होता है इसके लिए नंगे पाँव आना
लाओ मैं देखूं
तुम्हारे पैर में कितने काँटे चुभे हैं.

कल रात
जब बिजली चली गयी थी
और
इन्वर्टर ने इनकार कर दिया था कूलर को ढोना
तब मैं देख रहा था सपना
सपने में तुम्हें

और बर्फ की झीनी सतह पर नंगे पाँव चल रहा था।
तुम बताओ
तब तुम्हें कैसा लग रहा था?

जब तुम्हारे खत
मुझ तक कोई नहीं पहुंचाता
तुम खुद भी नहीं,
तब
कागज की कैद से छूट कर उन खतों के शब्द
मुझ तक चले आते हैं
बेआहट, नंगे पैर
यह तुम भी नहीं जानतीं।

अब तुम यह मत पूछना मुझसे
मैं आज
इतना खुश क्यों दिख रहा हूँ
जिन्दगी में खुशियाँ हमेशा दबे पाँव आती हैं...

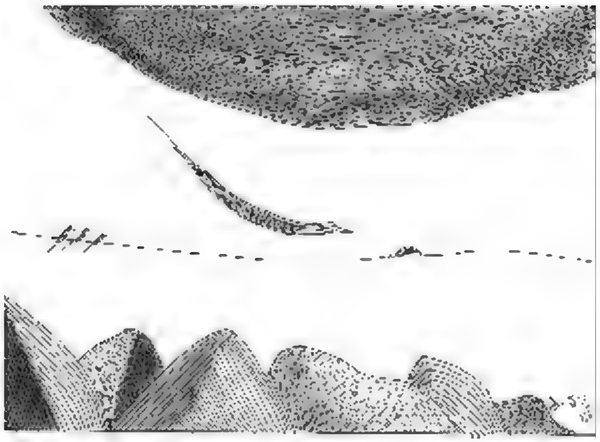
दो

बाहर जब पारा
चालीस डिग्री सेल्सियस को पीछे छोड़ चुका है
और सूरज ने छोटी कर दी हैं पेड़ों की परछाइयाँ
मैं उसी छत पर टहल रहा हूँ
अकेला
नंगे पैर
जिस पर उस रोज हमने चाँद को ललकारा था.
हम दोनों उस चाँदनी रात नंगे पैर थे
और चाँद भी चल रहा था
बराबर हमारे साथ।

इस समय
जब तुम दूर हो मेरी नजर से
तब बताओ,
कहाँ ज्यादा तपिश है
छत पर
या मेरे भीतर...?

❑

गुरमीत बेदी



कटघरे में मौसम

मी लॉर्ड
कटघरे में खड़ा मौसम
रहम का नहीं, सजा का हकदार है
इसे बेकसूर ठहराने की तमाम दलीलें
एकमुश्त खारिज की जाएँ
और इसे तब तक
फन्दे पर लटकाने का हुक्म सुनाया जाये
जब तक जिन्दा हो सके जिस्म में
साजिशों का आखिरी कतरा

मी लॉर्ड
इस मौसम ने झुलसा डाले कई पहाड़
लील ली चाँदनी की तमाम शीतलता
रौंद डाली धरती की तमाम हरियाली
और नदी के पैरों में पहना दीं
हजार-हजार बेड़ियाँ

मी लॉर्ड

इस मौसम के कहर से
धरती भीतर ही भीतर कसमसाती रही
हवा किसी खौफजदा हिरनी सी
लहूलुहान छिपती रही
एक झाड़ी से दूसरी झाड़ी
और पेड़ जड़ों से बन्धे होने का सन्त्रास झेलते रहे

मी लॉर्ड
कटघरे मे खड़े इस मौसम ने
हड़प रखी है न जाने कितनी रौशनियाँ
कितनी ही चीखों के रक्तबीज
आज भी मौजूद हैं इसके भीतर
मी लॉर्ड
हमें सचमुच नहीं चाहिए ऐसा मौसम
जो इस धरती के सपनों को
कब्रिस्तान में बदलता रहे
और व्यवस्था हाथ बाँधे खड़ी रहे
गुलाम की तरह।

हो सके तो

तुम्हारे पास जितने भी रंग हैं
और जितनी कल्पनाएँ
तुम इस कैनवस पर उड़ेल दो इन्हें
मैं कोई एक रंग चुनकर
किसी सपने में भर लूँगा

मैं जब भी खुद को पाऊँगा किसी वीराने में
तुम्हारी किसी कल्पना की उँगली थाम
शामिल हो जाऊँ उस उड़ान में
तब मैं अकेला नहीं हूँगा
मेरे साथ होगी तुम्हारी पदचाप
तुम्हारी हँसी-ठिठोली
तुम्हारी स्वर लहरियाँ
और सबसे बढ़कर तुम्हारी धड़कनों का संगीत

जब भी किसी घाटी के शिखर पर चढ़ते हुए
तेज हवाएँ मुझे नीचे धकेलने को दिखेंगी आतुर

मैं इस कैनवस पर से ही एक उड़नखटोला उठाऊँगा
और हवा में तैरते हुए शिखर पर जा विराजूँगा

जब भी मुझे लगेगा
मौसम के झँझावातों ने
फीके कर दिये हैं, धरती से तमाम रंग
इस कैनवस से उठाकर रंग
मैं हवा में बिखेर दूँगा
इसी कैनवस से उठाकर खुशियाँ
मैं फुटपाथों पर बसी झुग्गी-झोपड़ियों में जाऊँगा
जहाँ बरसों से हवा में नहीं गूँजा कोई गीत
अगर तुम इस कैनवस पर
पंछियों का सदाबहार राग
और चहचहाट भर दोगी
तो हवाएँ कभी नहीं होंगी बोझिल
हो सके तो!

उसने

सूरज को अर्घ्य देते हुए
वह लड़की कितने ही लम्बे सफर पर
निकली होगी मेरे साथ

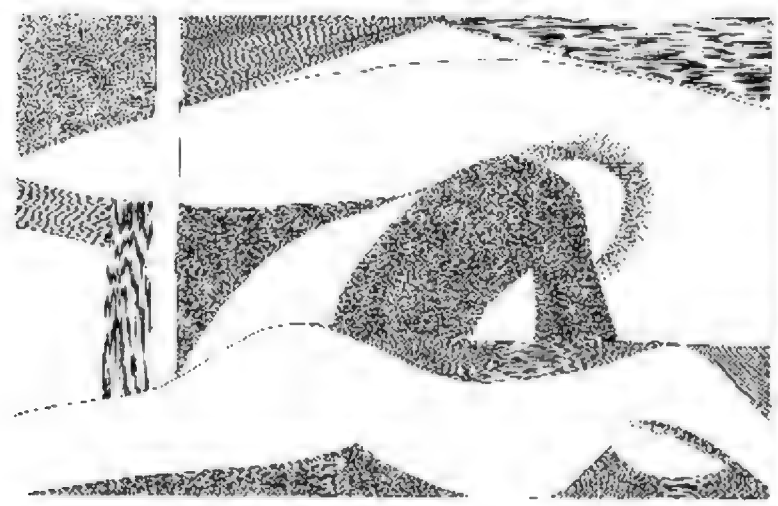
जब उसने लाँघे होंगे घने जंगल
तो देखा होगा मुझे
धूप की रश्मियों की तरह
साथ-साथ चलते

नदी पार करते हुए उसने
मुझे लहरों में रास्ता बनाते पाया होगा

वह जब चढ़ी होगी पहाड़ पर
तो एक ध्वज की तरह
फहरा रहा हूँगा मैं उसके हाथों में

बारिश में उस लड़की ने
ओढ़ लिया होगा मुझे छाते की तरह
और यही छाता बन गया होगा
नंगी धूप में घनी छाँव ❑

सुनील कुमार पाठक



सिनुरिया आम

छोटा–सा सिनुरिया आम
सबसे बाद में पकता है
बम्बइया, जरदवा, किसुनभोगवा
लोढ़वा, कपुरिया, सिपिया, सुकुलवा
सब गाछ से जब उतार दिये जाते हैं।
बगीचे के बगल के खेत में
पूरा पानी भरा होता है आषाढ़ में
तब टपकना शुरू करता है
नीचे से थोड़ा-थोड़ा पीला
और ऊपर से बिल्कुल टेस लाल
छोटका बीजू आम 'सिनुरिया'।

दादी बताती हैं–
इस गाछ पर किसी को चढ़ाकर
आम कभी तोड़वाया नहीं गया
यही कारण है कि
और गाछ किसी-किसी साल

भले नागा दे दें
यह हर साल आता है
पूरा लदर जाता है।

दादाजी बताते हैं—
उनके बाबा उद्भट विद्वान थे
जन्म से ही अन्धे।
फिर भी ज्ञानी इतने कि
ऋग्वेदीय दसों मण्डलों की
सभी ऋचाएँ बिल्कुल कंठस्थ,
इसी वजह बनारस में
मिली थी उपाधि—'वेदमार्त्तण्ड'।
उन्होंने अपने ममहर से आए
कलमी आम की ऑठी से जमे अमोले को
बगीचे में लगवा यह गाछ तैयार करवाया था।
'कलमी' 'बिजू' बनकर छोटा तो हो गया
पर गुद्दे और रस से भरा
सुगन्धित सिनुरिया रंग
जब वेदान्ती बाबा की आत्मा में घुल गया,
उन्होंने घोषणा कर दी—
'कोई भी गाछ पर नहीं चढ़ेगा
जो अपने आप टपकेगा
सो ही फल किसी को भी ठेकेगा।'

बलराम काका दिन भर अगोरते हैं
तब जाकर दादाजी के लिये
रात को रोटी पर
एक-दो सिनुरिया नसीब होता है,
सब पॉक से बीनकर
भगयी में छिपा ले भगती है
भगरासन काका की नन्हकी भगमनिया।

दादाजी कहते हैं—
गाछ बड़ा विशाल हो गया
और दाना बड़ा छोटा है सिनुरिया का,

गछौंधी से आधे कट्ठे की
पूरी फसल मारी जाती है
पके गाछ का तख्ता भी खूब निकलेगा
बबुनी के दोंगे का पलंग
बड़ा बढ़िया बनेगा।

लगता है सिनुरिया से
अब मेरा खानदानी रिश्ता
टूटने ही वाला है,
दादाजी ने ऋग्वेदीय ऋचाएँ नहीं पढ़ीं
अग्नि, वायु, वनस्पतियों को
दैवीय आस्था से नहीं जोड़ा,
आहार-व्यवहार के
अर्थशास्त्रीय विवेक के बल पर ही
अपनी तकदीर आजमायी
और सिनुरिये से खानदानी रिश्ते को
दीदी की लालसाओं में तिरोहित होते देख
असीम सुख–शान्ति पायी,
अपने बाबा की आगाही की मिरजई
अलगनी में टॉग
अपनी पोती के पलंग के सुगढ़पन में ही
'सिनुरिया' को खपाया
जगत की भौतिक रागात्मकता में ही
जीवन का सात्विक रस पाया।

डॉक्टर चाचा पकिया खिलाड़ी है

बिस्तर पर महीनों से पड़े
डॉक्टर चाचा की आँखों में
अब भी रोशनी बाकी है,
अस्सी पार शरीर को कमजोर पैरों के बल
ढोये पहुँच ही जाते थे बगल के शिवाला,
वह तो गाय की सींगों का कमाल था
जिसने तौल दिया उन्हें

और वे जा छितराये।

कहते हैं—
बूढ़े की बच्चों-सी अदाएँ होती हैं
दिमाग खूब दौड़ता है
मन की लाचारी कुछ भी नहीं
बस तन की विवशता
ढकेले जाती है मौत की ओर।

डॉक्टर चाचा
ओ.टी. से जब बाहर आये
चेहरे पर थकान भर थी,
पर वह इतनी भी नहीं कि
वे हार स्वीकार लें
और बोल दें—
'अब तो जीने से मरना ही भला।'

होश मे आये तो दर्द सारा भूलकर
सारा गुबार पहले तो भैया पर निकाला—
'जनानी अस्पताल में
मर्दानी इलाज होता है?
कुर्जी में तो केवल
बच्चा होता है बच्चा
यहाँ टॉग लाया है
पैसा बचाने को।'
सामने खड़ी नर्स को भी बख्शा नहीं—
'टान लो, टान लो
और जो भी खून बचा है।
मोटका सिरींज लाकर निकाल लो।'
खीझ भरे उसके चेहरे को पढ़
फिर झट 'पैट' चेंज करने में भी
देर नहीं लगती डॉक्टर चाचा को
'अरे मजाक न कर रहा था बबुनी।
हमारी बात का बुरा नहीं मानना।'

बुद्धि की बटलोही आज भी है,

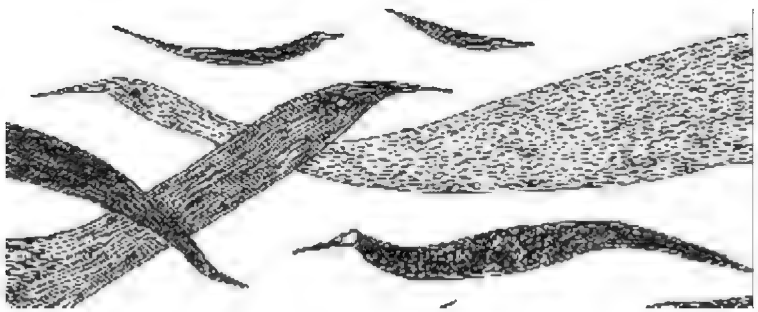
खुद चिड़चिड़ाते भी हैं तो
दूसरे को चिढ़ाने के अन्दाज में
प्रतिक्रिया से बचने के लिये
झट सँभल जाते हैं,
अस्पताल की नर्सों के लिए भी
बड़े 'इंटरेस्टिंग पेशेंट' हैं डॉक्टर चाचा।

छः महीने से बिस्तर से उठे ही नहीं
परिवार में दो-दो शादियाँ गुजरीं
छठ-दीवाली सब पार
डॉक्टर चाचा अब होली का
कर रहे हैं बेसब्री से इन्तजार।

हर त्यौहार के सप्ताह भर पहले से ही
सभी दुश्चिन्त हो जाते हैं,
डॉक्टर चाचा की
अनाकांक्षित मृत्यु की
सभी कर रहे हैं प्रतीक्षा
पर डॉक्टर चाचा
अपने सभी शुभेच्छुओं की
सुविधाकामी सोच से अनभिज्ञ
पूरी मस्ती से
इस कँपकँपाती ठंड को झेलते
एक-एक दिन टालते जा रहे हैं
और भगाते जा रहे हैं
अपनी मौत को वैसे ही
जैसे अपनी बुढ़िया साईकिल के चक्के चढ़ा
भगाते थे दुआरी पर बैठी
हीरा काक की कुतिया को।

डॉक्टर चाचा
कुतिये से अपने खेल की भाँति
मौत से भी कितने दिन
अपना खेल जारी रखते हैं—
यही देखना है,
चूँकि डॉक्टर चाचा पकिया खिलाड़ी हैं। ❑

राहुल झा



शब्द जहाँ लौट आते हैं अनन्त से....

शब्द जहाँ भींगते हैं
और नम हो जाते हैं
वहीं तुम
खिल उठती हो
भिनसारे की धूप की तरह!

शब्द जहाँ हवा के साथ
दूर तक जाते हैं...
और शीतल हो जाते हैं
वहीं तुम--
महक उठती हो
ऋतु के पहले फूल की तरह!

शब्द जहाँ फूलों पर बैठते हैं
और
तितलियों की तरह
रंगीन हो जाते हैं

वहीं तुम--
दमक उठती हो
सागर से निकले स्फटिक की तरह!

शब्द जहाँ मासूम और
तोतले हो जाते हैं
वहीं तुम--
बज उठती हो
जलतरंगी की तरह...!

शब्द जहाँ लौट आते हैं अनन्त से
और शामिल हो जाते हैं जब
किसी कविता की सबसे सुन्दर पंक्ति में
वहीं--
मैं अपना एक कन्धा
तुम्हारे नाम करता हूँ...!

'गायक'

(पंडित भीमसेन जोशी को सुनते हुए)

सुर और संगीत की होड़ में
पूरी धरती
थिरकने लगी है...

चाँद-तारे-ग्रह-नक्षत्र सब झूमने लगे हैं

साज़ और आवाज़ की
आकाशगंगा में

आप कहाँ हैं... भीम?!

हमने विचार उठाये...

हमने विचार उठाये
और उन्हें ज़हर की तरह घोल दिया
हवाओं में...

हमने विचार उठाये
और उन्हें बारूदी सुरंगों की तरह बिछा दिया
पृथ्वी की छाती पर...

हमने विचार उठाये
और विस्फोटकों की तरह उन्हें रख दिया
भीड़ में...

इसक बाद लाज़िमी था
शहर में हादसा

एक भयानक हादसा...

जिसके पीछे विचार
अपनी जीत पर ज़श्न मना रहा था...

** कवि सुधीर सक्सेना की कविता के प्रभाव में।*

तुम्हारी आवाज़...
(श्रेया घोषाल को सुनते हुए)

तुम्हारी आवाज़ के पानी में
घुलती चाँदनी का
वही जीस्तकी रंग है

जो ज़ीस्तकी रंग
कविता की लहराती हुई पंक्ति की
गूँजती आसावरी में है...

श्रेया घोषाल!

तुम्हारी आवाज़
वह लहकता फूल है
जिसकी ओस भींगी पँखुड़ियों पर बैठी।
धूप...

भिनसार का छन्द रचती है..

जिस तरह आता है कोई शब्द...

अकेले फूल के पास
इस तरह उड़ती हुई
तितली नहीं आती...

इस तरह उल्लास के रंग में डूबा
चाँद नहीं आता
न रात आती इस तरह
सर्द अँधेरों के साथ...

छलका दे जो भीतर का पानी
ऐसी लरजती आवाज़ कभी नहीं आती
इस तरह दबे पाँव...चुपचाप

झरनों सी मौसिकी लिये
इस तरह अचानक
शहर में बारिश भी नहीं आती...
जिस तरह आता है कोई शब्द
कोई नहीं आता उस तरह...

प्रश्नाकुलता

वह कौन-सा धागा है...
जो सारी चीज़ों को एक खूबसूरत तरतीब देता है...

वह कौन-सा सूत्र है...
जो सारे सम्बन्धों को
एक साथ...
एक भीगे आँचल से बाँधे रखता है...

वह कौन-सा तार है...
जिसे एक गर्म साँस
छेड़कर..
हवाओं की चुप्पी को तोड़ती है...

वह कौन-सा हमज़ाद-साया है...
जो जीवन के अथाह वीरानों में
साथ देता है...

वह कौन-सी सम्पूर्णता है...
जो पूरी मनुष्यता को
एक हरी छाँव देती है...

आख़िर वो कौन-सी शै है...
जो—
**देह और मन के योजनों अन्धकार में*
बुझने नहीं देती...?!

** उद्‌धृत पंक्ति के लिए कवि आलोक श्रीवास्तव से क्षमा याचना।*

मैं लौट जाना चाहता हूँ...

मैं लौट जाना चाहता हूँ
उस घर की ओर..
जहाँ मेरे आँसू
बरसकर...

सुख के हज़ारों लहकते फूल खिलाते हैं।

मैं लौट जाना चाहता हूँ
उस घर की ओर..
जहाँ मेरे भले मन की नमी
टपककर...

उम्मीद के हज़ारों धड़कते बीज बोती है!

मैं लौट जाना चाहता हूँ
उस घर की ओर...
जहाँ मेरी आकुल आत्मा की व्याकुल पुकार
गोबर लिपे आँगन में
गूँजकर...

धूप के चमकते दानों की तरह बिखरती है!
मैं लौट जाना चाहता हूँ
उस घर की ओर...
जहाँ मेरे काँपते अधरों की
सुर्ख़ चुप्पी...

फरहरे आँचल के पीछे
एक पवित्र दीया बालती है...!

मैं लौट जाना चाहता हूँ
उस घर की ओर...

जीवन की नदी में...

बादलों की मुट्‌ठी से
फिसलकर
रेत की तरह घुल जाता था
चाँद...

नदी में हर बार

जब
नहीं घुला वह
इस बार

तो मैं...
समय की मुट्ठी से फिसला
और रेत की तरह
घुल गया

जीवन की नदी में...

ख़बर

(1)

जो ख़बर...

आदमी को
उसकी आदमीयत के ख़िलाफ
खड़ा करती है

वही इस वक्त...
सबसे बड़ी ख़बर है!

(2)

दरअसल..

उनकी हर ख़बर
एक विषकन्या है...

जो
विचार की देह से लिपटकर
चुपके से... उसे
डँस लेती है...

(3)

वे...
दुनिया के सबसे बड़े दहशतगर्द हैं

जो...
अपनी हर स्याह-सफेद
ज़हर बुझी ख़बरों से
दहशत पैदा कर...

दमकते चाँद की अथाह रश्मियों
और आते बसन्त की पीली गन्ध से

भरी...
हमारी नींद को तार-तार कर देते हैं!

(4)

वे...
हर अच्छी ख़बर को मारकर
एक पानीदार सुबह की
साँस लेती
सम्भावनाओं के दूधिया चेहरे पर
कालिख मल देते हैं...

और शहर की
धड़कती सड़कों पर
एकाएक...

एक बदसूरत सन्नाटा
बिछ जाता है...

एक काली धुँध की तरह!

(5)

यह समझदार ख़बरों की शातिर दुनिया है
यह चमकदार ख़बरों की अश्लील दुनिया है

यह परतदार ख़बरों की चमकीली दुनिया है

काश... ।
इस शातिर.. अश्लील... चमकीली... कपटीली दुनिया के बारे में

मैं
एक उजली और सच्ची ख़बर कह पाता

उजड़ते संसार में हिलती
एक हरी पत्ती की तरह...!

कुछ कविताओं के बहाने...

(1)

अभी मुझे और आहिस्ता...
हर पत्तों के साथ
हिलना है...

अभी तो...
हिलने की
एक हरी आवाज़ आती है...

(2)

चिड़ियों के कलरव से
पेड़ हरा-भरा है...

मैं...,
किस कलरव से
भर लूँ—
अपने इस एकान्त को...!

(3)

इस वृक्ष की शाख पर...

एक ही घोंसला था
फ़ाख़्ता का

आज...
वह भी गिरकर
बिखर गया

तिनका-तिनका...

बेचैनी

(1)

अपनी आत्मा में एक विराट दुःख की तरह
छुपा लिया नदी ने 'चाँद' को...

रेत में धँसी...
सूनी अकेली नाव से ज्यादा
कौन जानता है...
नदी की बेचैनी...!

(2)

हज़ारों साल पहले
एक राजा ने
पहाड़ों की गोद में उतारा था...

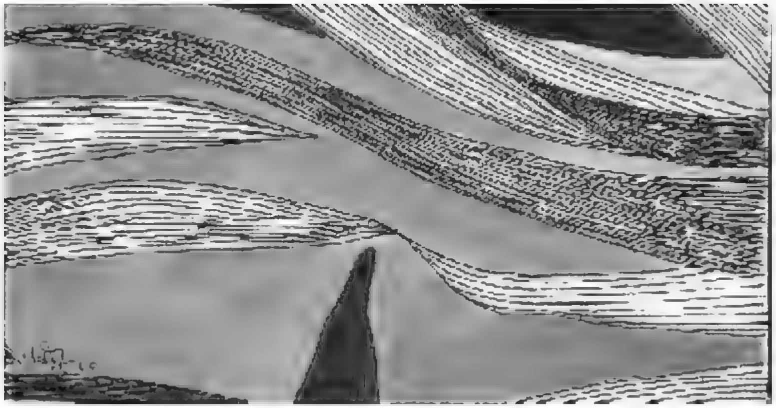
भागीरथी को...

अब एक चाँद ने...

मेरी कविता की बेचैनी में
कौन भरेगा यह पुरातन रंग... ।

❑

प्रभु जोशी



कला आलोचना का बौद्धिक छद्म

'समरूपता' कला के क्षेत्र में अवश्यम्भावी तौर पर आने वाली ऐसी जगह है, जहां हर 'कला' अपने विकास के रूपनिष्ठ दौर में बार-बार लौटती है तथा उसकी इसी आवृति से 'अनुकरण' एवं 'अनुसरण' जैसी प्रवृत्तियों का बोध उत्पन्न होता है। वैसे, अपने आप में यह अत्यन्त रुचिकर विपर्यय है कि लगभग सभी कलाएं अपने जन्म से ही इन्हीं सबके मोह को पहले तो पालती हैं, फिर उससे मुक्ति की कामना में लगातार छटपटाती भी रहती हैं और, कहना न होगा, कि इसी 'मोह और मुक्ति' के बीच अनवरत चलने वाली परिक्रमा में या कहें कि इसी 'भागदौड़' में ही वह कला के 'नये रूप' को जन्म देती है, जिसकी 'अप्रत्याशित भिन्नता' हमेशा से ही रसज्ञों को विस्मित करती आयी है।

मुझे तो कभी-कभी 'रूप' के लिए की जाने वाली यह परिक्रमा, उस खेल की स्मृति दिलाती है, जिसमें लगभग पूरे समय ही एक तरह की 'भागमभाग' मची रहती है और, वह जिसे 'छूना' या कि 'पकड़ा जाना है' 'खो' कहते ही एक-दूसरे भागते हुए में, बदल जाता है। दर्शक यह देख कर हतप्रभ रह जाता है कि 'पकड़ने-छूने वाला कितने-कितने' 'कायान्तरण' करता है। खेल का यह रोमांच ही खेल में उत्तेजना और जादू भरता है।

यों भी देखा जाए तो सभी कलाओं का, थोड़ा-थोड़ा 'खेल' तथा थोड़ा-थोड़ा जादू से एक अप्रत्यक्ष रक्त सम्बन्ध बना ही रहता आया है, क्योंकि, वस्तुतः देखें

तो पाएंगे कि जादू का सारा 'जादुईपन' इसी में होता है कि वह 'घटने के क्षण में' अपने 'घटने के तिर्यक सम्बन्ध' का सर्वथा लोप कर देता है। नतीजतन, देखने वाला इसी 'अप्रत्याशित', इसी 'चुर्रेट' से सहसा चमत्कृत हो जाता है। उसे यह प्रतीति होती है कि कलाओं में अपनी अभिव्यक्ति के बीच कहीं, कुछ ऐसा है, जो इन्द्रियों की सही पकड़ से फिसल जाता है। उस फिसल जाने को ध्यान में रखते हुए, जो-जो जतन किए जाते हैं, वे ही हर बार कलाओं के 'अभिव्यक्त' एक रूप को दूसरे से भिन्न ठहराते हैं। यही वह युक्ति है, जो हर बार कलाओं के कथ्य के 'यकसां' होने के बावजूद 'फार्म' के स्तर पर नितान्त भिन्न या अलग जान पड़ती है।

यह एक दिलचस्प दुर्दैव है कि हमारे यहां, कतिपय ऐसे लोग हैं, जो अपने आयोजनधर्मी-कार्य व्यापार की वजह से कलाओं या कलात्मक गतिविधियों के सन्निकट रहने का सुअवसर औरों की अपेक्षा कहीं ज्यादा पा गये। उनकी, कलाओं से रही आयी 'आसक्ति' इस सबके चलते और बढ़ गयी, जिसका कुछ बढ़-चढ़ कर बखान करने के लिए उनके पास अपने ही संस्थानों से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाएं भी थीं, मगर, वे अपनी कला सम्बन्धी एक खास तरह की दृष्टि के कारण, कला के 'अभिव्यक्त रूप की भिन्नता' के चीन्हने में निरन्तर चूकते रहे हैं। शायद इसी कारण वे 'भिन्नता' को 'अद्वितीयता' जैसे विशेषण से नाथ देते हैं। मेरी समझ में ऐसी त्रुटि उनसे इसलिए भी हुई कि विशेषणों को लगाने की उग्र तथा अदम्य लिप्सा तथा उक्ति-चातुर्य का मोह, उनमें एक ऐसी भाषान्धता को पैदा कर देता है, जो उनसे, आलोचना के लिए अपेक्षित दृष्टि की वस्तुगत सूक्ष्मता का हरण कर लेती है।

मसलन, मैंने बाज दफा यह भी देखा है कि समझ के ऐसे फेर के चलते एक रसज्ञ ने ऐसी उक्ति-चातुर्य की अनियंत्रित इच्छा के आगे परास्त होते हुए कहा—"कुमार गंधर्व, जब गाते हैं, तो वे व्याकरण को व्यर्थ कर देते हैं।" इससे और आगे जाते हुए उन्होंने कहा, "कुमार गंधर्व जब 'बागेश्री' गाते हैं तो वह हर बार दूसरा बागेश्री होता है।" इसके अतिरिक्त एक तीसरी चतुर उक्ति तो और भी दिलचस्प है, जो अपने एक मित्र कवि की कविता के विषय में कही कि उनकी कविता का 'अनुभव-संसार अद्वितीय है।'

बहरहाल, क्रमशः हम इस 'उक्ति-वैचित्र्य' को थोड़ा उलट-पुलट करके इस जीर्ण-व्याधि को विश्लेषित करना चाहेंगे।

तो पहले हम 'व्याकरण को व्यर्थ कर देने' वाली उक्ति का आकलन करते हैं।

आप हम सभी यह जानते हैं कि 'राग-संगीत' का समूचा व्याकरण सप्तक के भीतर ही है अर्थात् सरगम या सात-स्वरों में समाहित हैं। यदि कुमार गन्धर्व इसे व्यर्थ कर देते हैं, तो इसका कदाचित् अभिप्राय यही हुआ कि वे इन स्वरों को लांघ कर इनसे बाहर हो जाते हैं या दूसरे शब्दों में इसका अर्थ हुआ कि कुमार गंधर्व गाते हुए इन स्वरों से 'ऊपर' या 'नीचे' हो जाते हैं और, इनसे ऊंचा, नीचा या बाहर होना, संगीत की दृष्टि में बेसुरापन कहलाता है, तो क्या हम यह मानें कि

हमारे संगीत मर्मज्ञ अपनी विनम्रता में प्रकारान्तर से यह कहना चाहते हैं कि कुमार गंधर्व 'बेसुरेपन' में गाते थे? मुझे यह भी लगा कि कहीं 'सुविज्ञ' रसज्ञ, भाषा का विनम्र दोहन करते हुए, कुमार गंधर्व के 'स्वर-च्युत' होने की ओर तो संकेत करना नहीं चाहते? लेकिन, शायद ऐसा नहीं है। बहरहाल कलाओं के 'रूप' और अभिव्यक्ति के बीच मौजदू तिर्यक सम्बन्ध को अल्पज्ञान या अज्ञानवश न पकड़ पाने का प्रमाणीकरण है, उपर्युक्त उक्तियां।

कहने की जरूरत नहीं कि कुमार गंधर्व उन बिरले गायकों की श्रेणी में आते थे, जो सच्चे अर्थों में राग-संगीत के व्याकरण के आचार्यों की तरह जानकार थे। वे अपनी हर संगीत लिपि स्वयं तैयार करते थे। व्याकरण में तो वे इस कदर निष्णात थे कि किसी भी महान से महान गवैयेये की 'राग की फिरत' को हू-ब-हू प्रस्तुत कर देते थे। कहा करते थे, 'हां मैं नक्काल हूं। किसका गाना कैसा है, पूछो मुझ से, मैं अभी बताता हूं। नौ बरस की उम्र में ये काम खूब किया। चौंकाने के वास्ते। गुणवन्त राग-संगीत के व्याकरण को अग्नि-स्नान कहते हैं। बोलो, मैं करके दिखाता हूं। संगीत का 'म' क्या है, देखो।' फिर वे 'म' को श्रुति स्वरों के सहारे ऐसी अर्थव्याप्ति और भिन्नता देते थे कि आपको यदि स्वर की सही समझ नहीं है तो आप जाने क्या-क्या विशेषण लगा सकते हैं। एक बार उन्होंने कहा, 'उस्ताद करीम खां साहब का 'आलाप' कैसा था, अभी बताता हूं...।' और उन्होंने बताया।

बहरहाल, 'व्याकरण-प्रवीणता' उनकी ऐसी थी कि उनके 'आलाप' से ही उसका पूरा दिग्दर्शन हो जाता है। वे कहते थे 'जिसका आलाप पक्का हो, वह गवैया कभी बूढ़ा नहीं होगा।' कहने की जरूरत नहीं कि राग-संगीत की ऐसी समझ और सामर्थ्य के ही कारण घर छोड़कर घराना बन कर दिखाने वाला अकल्पनीय काम कुमार गंधर्व ने करके दिखाया। उन्होंने एक दशक तक बिल्कुल नहीं गाया और 'लोक' को भी 'शास्त्र' के व्याकरण के बीच करीब खींच कर ला खड़ा किया। जिस कलाकार ने व्याकरण को आपादमस्तक इतना आत्मसात कर लिया हो, उसी से ऐसा शौर्य संभव था। उनके व्याकरण-वैभव के बारे में यह किंवदन्ती सी प्रचलित है कि उन्हें नींद से भी जगाकर पंचम लगाने की कहेंगे तो वे गुनगुनाएँगे नहीं। मौन में ही काँपता था, उनका कण्ठ। इतना सब कहने का अर्थ यह है कि कुमारजी में बिलकुल गणितिक अनुशासन की तरह के सांगीतिक-संस्कार थे, जिसके बलबूते पर वे तमाम विवादों को लांघ कर साबुत खड़े रह सकते थे। वे जानते थे कि संगीत कितना ही अमूर्त दिखता हो, मगर उसका आधार बहुत ठोस और गणितीय है। वर्ना कोई भी तबला वादक उनके साथ संगत ही नहीं कर सकेगा। ताल के व्याकरण में आधा भी मात्र कम ज्यादा हो जाए तो गाने वाला गड़बड़ा जाएगा।

दरअसल हकीकत यह है कि यदि हममें संरचना के स्तर पर संगीत की बिलकुल प्राथमिक समझ न हो तो हम उसके अभाव में कला के आन्तरिक व्यवहार में घटित अप्रत्याशित को समझ नहीं पाते। चूंकि हमारे दृष्टिपथ से वह तिर्यक-सम्बन्ध हमारे

कलागत ज्ञान की अक्षमता के कारण बाहर रह जाता है। नतीजतन, हम अपनी कवि-सुलभ चतुराई के चलते ऐसी मूढ़-उक्तियों के मोह से स्वयं को परे नहीं कर पाते और कहते रहते हैं कुमार गंधर्व व्याकरण को व्यर्थ कर देते थे।

मुझे विडम्बनात्मक तो यह लगता है कि पिछले कुछ वर्षों में सांस्कृतिक आयोजनधर्मी उद्यम के हल्ले में सामने आये संगीत को समझने के ऐसे कई दावेदार मिलेंगे, जिनसे यदि किसी तार-वाद्य पर अंगुली मार कर पूछा जाए कि वे बतायें कि 'म' है, 'ध' है या कि 'प' है और कौन-सा है तो, निस्संदेह उनके संगीत के ज्ञान की सिट्टी और पिट्टी दोनों ही कहीं गुम हुई जान पड़ेगी। ऐसे लोगों के पास से यदि भाषा के आसरे को हटा दिया जाए तो स्वर के मामले में वे बिलकुल ही निरासरे ही हैं, मगर उन्होंने धीरे-धीरे बौद्धिक धूर्तता की एक ऐसी परिष्कृत प्रविधि आविष्कृत कर ली है कि वे उसका कुशल इस्तेमाल करते हुए कुमार गंधर्व के द्वारा मारे गये किसी राग के बारे में, ऐसा शब्द-निवेश करेंगे, जैसे कुमार गंधर्व स्वयं उस राग के बारे में ऐसा व इतना नहीं जानते रहे होंगे।

वे कहेंगे, ''कुमारजी ने उसी दिन 'बागेश्री' क्या गाया, अद्‌भुत! वह जब भी गाते हैं, वह दूसरा बागेश्री होता है।''

इस टिप्पणी का अर्थ यह हुआ कि कुमार गंधर्व हर बार उसका व्याकरण बदल देते हैं, जबकि, मूल-रहस्य यह है कि श्रुति-स्वरों में हेरफेर या राग की फिरत से गायक की गायकी में जो 'अप्रत्याशित का शिल्प' दिखाई देने लगता है, वह जादू, वह खेल... संगीत की संरचनागत समझ के अभाव के कारण आपकी पकड़ में नहीं आता या आपके पल्ले नहीं पड़ता और, आप हैं कि विशेषणों तथा चमत्कृत करने वाले सामसिक पदों को गढ़ने के गुनताड़े में भरकर बोलने लगते, 'अहा, अद्‌भुत! अप्रत्याशित का शिल्प...' हर बार वह दूसरा बागेश्री होता है।

जबकि, संगीत और गणित का परस्पर काफी गहरा रिश्ता है और आप-हम जिस तरह से अंकों को इधर-उधर नहीं कर सकते, ठीक उसी तरह राग के सरगम के व्याकरण में उलटफेर करने से राग का अवयव और सरूप ही बदल जाएगा। अप्रत्याशित का शिल्प उन्हें ही नजर आता है, जो केवल सम पर लौटने के कौतुक को प्रस्तुति की भिन्नता समझने की भूल कर देते हैं और भाषा-निवेश की आत्ममुग्धता में कहते हैं, 'दूसरा बागेश्री'।

बहरहाल, पिछले कुछ वर्षों में ऐसा व्यापक छद्‌म अपनी संक्रामकता के साथ चित्रकला तथा संगीत-समीक्षाओं में बहुतायत से फैला है। इसी के चलते आजकल कला आलोचकों की अनन्त में आवाजाही काफी बढ़ गयी है।

वस्तुतः बात यह है कि श्रुति-स्वरों को वशीभूत करके मध्य-स्वर को छूते हुए 'सम' पर आने का रसिक-लुभावन कौशल कुमारजी में खूब था। उनकी आवाज़ सफेद चार की थी और बागेश्री में पंचम को विशिष्ट प्रॉमिनण्ट बनाकर वे जो चमत्कार करते थे, वह ठीक वैसा ही कहा जा सकता है, जैसे, चित्रकला में रंग की स्पेस-क्रिएटिंग

प्रापर्टी का दक्षता से दोहन करते हुए आप एब्सर्ट्रेक्शन में परसेक्टिव क्रिएट कर दें। दरअसल, संगीत की रचना से अपरिचितों में जरूर इस तरह के लिखे से भ्रम हो जाता है कि टिप्पणीकार को संगीत की बड़ी गहरी समझ है, जबकि संगीत की जो वास्तविक समझ रखते हैं, उन्हें यह अब पूरी तरह स्पष्ट हो चुका है कि ऐसे लोगों का वह सारा लिखा-धरा, संगीत की समीक्षा की श्रेणी में कतई नहीं आता। संगीत के जानकार उसे पढ़कर उद्विग्न नहीं होते। वे बखूबी जानते हैं कि यह सब कवि-हृदय किस्म के रसज्ञ द्वारा संगीत-सभाओं से लौटने के बाद चमकीले मुहावरे में लिखे गये ललित-निबन्ध है। एक भावुक भाषा-निवेश है। उनका सच्चे अर्थों में संगीत-समीक्षा से कोई लेना-देना नहीं है। इनसे संगीत की श्री-वृद्धि सम्भव नहीं। सिर्फ उनकी छवि में चार-छः चांद लग जाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके लिखे हुए की संख्या में कुछ और जुड़ जाएगा। संगीत समीक्षा क्या होती है, यदि यह देखना हो तो स्त्राविंस्की का वह लिखा हुआ पढ़िए, जो उसने बीथोवन की सिम्फनियों पर लिखा है। सिम्फनी या राग की अन्तर्निहित प्रवृत्ति की शुद्ध-संरचनात्मक पहचान के सहारे उसका भावात्मक रूप खोजना, संगीत की समीक्षा का मार्ग खोलता है। रसज्ञ के कोरे भाषा के केलिकर्म को संगीत समीक्षा की अर्हताएं नहीं बनाई जा सकती।

अब दूसरी बहुश्रुत उक्ति पर आएं। 'अनुभव संसार की अद्वितीयता'। यदि इस कथन पर हम थोड़ी गहराई के साथ मनन करें तो यह बात न केवल कविता के विरूद्ध पड़ती है, बल्कि कवि के विरूद्ध भी जान पड़ती है, क्योंकि, देखा जाए तो हम उसी अनुभव-संसार से अपना थोड़ा-बहुत रिश्ता बना सकते हैं, जो या तो हम तक संप्रेषित हो पाता है या फिर जिसका, हमारे अनुभव संसार से कोई क्षीण-सा भी साम्य या सह-सम्बन्ध आता हो और 'अद्वितीयता' ठीक इसके उलट पड़ती है। इसी बात को किंचित् सरल-सी भाषा में पहुंचकर कहें तो होगा यह कि अद्वितीयता का अर्थ है - ऐसा, जिसके जैसा दूसरा कोई नहीं यानी कि हम उसे अपनी संचित-स्मृति के आधार पर रखकर किसी अन्य के बरअक्स शब्द (जिसे अकादमिक कह कर खूब लताड़ा गया है) का सहारा लेकर कहें कि उसका 'साधारणीकरण' ही सम्भव नहीं, क्योंकि उसका सबकुछ ऐसा है, जिसको किसी 'अन्य' से जोड़ पाना सम्भव नहीं। वह पहचान और परख के उपकरणों को व्यर्थ कर देता है। मसलन, 'लुणयब्रिकेंटीटीटू' एक ऐसा ही अभिव्यक्त अनुभव है, जो वास्तविक अर्थों में अद्वितीय है। इसके पहले और पश्चात कोई ऐसा अनुभव व्यक्त नहीं हुआ। इस शब्द 'लुण्यब्रिकेंट' को सुनकर न केवल सुदूर पश्चिम के किसी व्यक्ति की चेतना में कोई छवि निर्मित हो पाएगी, न पूर्व के, क्योंकि यह पहली बार प्रस्तुत हुआ।

अगर हम 'अद्वितीयता' को दृश्य-कलाओं के क्षेत्र में ले जाकर देखें, तो वह भिन्नता के पास भर पहुंचती है। यहां एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा। हालांकि, भाषा या कथन की दुःसाध्य जटिलता इन दिनों चिन्तन के क्षेत्र में काफी पुजायी जा रही है, फिर भी कुछ सरल और अनादृत शब्दों में कहना चाहूंगा ताकि अधिकतम

पाठकों से अधिकतम तादात्म्य कर सकें, तो यह कि इसके लिए एक उदाहरण आवश्यक है। मसलन, मान लीजिए कि निराला की प्रसिद्ध कविता 'राम की शक्ति पूजा' किन्हीं अज्ञात कारणों से नष्ट हो गयी। संयोगवश, चूंकि डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन' को वह अविकल कण्ठस्थ थी, अतः उन्होंने स्मृति के सहारे यदि अक्षरशः पुनः उसको लिख दिया होता तो वह कविता बहरहाल, इसके कारण डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन' की नहीं हो पाएगी, बल्कि वह वही की वही राम की शक्ति पूजा कविता ही होगी, तथा सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की ही होगी। उन्हीं के नाम से जानी जाएगी, लेकिन, दुर्भाग्य से पिकासो की प्रसिद्ध चित्रकृति गुएर्निका नष्ट हो गयी और, भारतीय चित्रकार रामकुमार ने उसे स्मृति के सहारे हू-ब-हू वैसा का वैसा बना दिया तो अब यह गुएर्निका रामकुमार द्वारा बनाई गयी गुएर्निका होगी यानी, वह दूसरी गुएर्निका होगी।

कहने का कुलजमा मकसद यह कि विजुअल आटर्स के क्षेत्र में 'अद्वितीयता' का प्रश्न हल करने की एक क्षीण-सी सम्भावित राह निकल सकती है, चूंकि वहां अपरिचित को न केवल परिचित, बल्कि अति-परिचित भी बनाने का पार्थिव-उपकरण है, लेकिन किसी कवि के 'अनुभव संसार' की अद्वितीयता को व्याख्यायित ही नहीं किया जा सकता। नितान्त अव्याख्येय और असम्प्रेष्य होगा वह। अनुभव की अद्वितीयता सिर्फ किसी सिजोफ्रेनिक या अफेजियन की चेतना में ही सम्भव है। कहीं ऐसा तो नहीं कि हम अपने प्रिय कवि के काव्य-संसार को भिन्न या सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के उत्साह में उसे किसी विक्षिप्त या मनोरोगी के संसार का पर्याय तो नहीं बना रहे हैं, क्योंकि, उनका अनुभव संसार व्यक्त होने के बाद भी सम्प्रेषित नहीं होता। अफेजियन का अभिव्यक्त संसार है, लुण्याकटीटीटू। कुछ-कुछ टोबाटेकसिंह के अनुभव संसार की तरह 'ओपड़ दी गड़- गड़...'।

यहां मुझे अलबर्ट आइंस्टाइन कॉलेज ऑव मेडिसिन, लंदन के क्लीनिकल न्यूरॉलॉजी के प्रोफेसर ओलिवर सेक का कथन याद आता है। वे कहते हैं, 'मनोरोगियों तथा स्नायुजन्य वाक्-विकृति के रोगियों का अभिव्यक्त अनुभव संसार ही अद्वितीय हो सकता है, क्योंकि भाषा में अभिव्यक्त होने के बाद हम उसका किसी से भी कोई साम्य नहीं खोज सकते। उसका साधारणीकरण ही सम्भव नहीं। वह असम्प्रेष्य है। उसका कोई समरुप सम्भव नहीं, अतः उसका अनुकरण और अनुसरण नितान्त अकल्पनीय है।

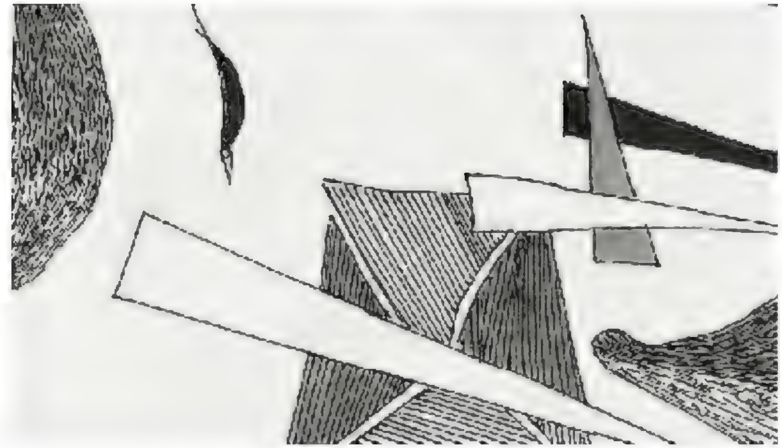
अतः हम अपने निपट और निरबंक उत्साह में विशेषणों का ऐसा अनियंत्रित अपव्यय न करें कि कवि के लिए वह अपव्यय अपशब्द बन जाए। कहना न होगा कि कला या साहित्य विवेचनाओं में शब्द को राजी करके आप उससे मनगढ़न्त अर्थ प्रकट करने के लिए विवश नहीं कर सकते। खासकर विवेचनाओं में विशेषण तो नाभि शब्द की तरह होते हैं और वे अन्ततः तर्क की तुला पर चढ़ कर ही रहते हैं। अर्थ से वे अपने पितृ-सम्बन्धों का प्रमाण चाहते हैं। कवि तो अक्सर अपनी कविता में उनका श्राद्ध करके उन्हें मुक्ति के लिए छोड़ भी देता है लेकिन, आलोचक

से शब्द लौट-लौट कर जवाबदेही मांगने आते हैं। आप उनका मुंह बन्द नहीं कर सकते। इसी के चलते होता यह है कि आलोचक के शब्दों को लोग वापस आलोचक की तरफ ही हांक कर पूछने लगते हैं कि किसी कवि का व्यक्त अनुभव-संसार कैसे कबीर या काका से जुड़ रहा है ? वे उन शब्दों को फिर से 'छू' करने के लिए उकसाने की भी कोशिश करते हैं। इसलिए यदि कोई भी अपने मनमाने अनुभव को जग-जाने अनुभव की तरह स्वीकारने के लिए धमकायेगा तो आलोचना का जनतन्त्र उसे अस्वीकार देगा। वह प्रश्न पूछेगा कि 'अनुभव संसार की अद्वितीयता' किस तरह सम्भव है?

वैसे तर्क-मूलक भाववाद के उपकरणों को जुटाकर आप यह बहस चलाते रह सकते हैं कि एक ही नदी में आप दोबारा नहीं नहा सकते। आजकल ओशो के शिष्य इसे गाहे-ब-गाहे बागुल करते रहते हैं। खासकर कि दैहिकता के दुहराव का नवीनीकरण करते हुए कि आप एक स्त्री से प्रेम करते हैं तो भी वह हर बार दूसरी स्त्री होती है, लेकिन आलोचना में ऐसी चतुर-प्रविधि सन्देह से देखी जाती है। मुझे तो हिन्दी के कुछ कवियों के पुस्तकालयों के गर्भगृहों से ओशो की पुस्तकों की गन्ध आती है। वे कविता में काफी दिनों से 'बाहर का भीतर' और 'भीतर का बाहर' करते रहे हैं। ओशो ने तर्कमूलक भाववाद में बुद्धिज्म को मिलाकर इसी के सहारे विचारों का व्यापार किया और भाषा के पाप से मुक्ति के लिए घाट-घाट नहाये। समीक्षा की भाषा के घाट पर आपको नहाने की तो छूट है, पर उसे प्रदूषित करने की नहीं, लेकिन, यदि कोई अपना रथ हांकता हुआ, उसे अफेजिया के रोगी के मनोसंसार के घाट की तरफ मोड़ दें तो कोई क्या कर सकता है। बहरहाल, ऐसे में हम सिर्फ मौन रहकर प्रार्थना भर कर सकते हैं।

❑

हितेन्द्र पटेल



इतिहास और ऐतिहासिकता पर एक टिप्पणी

इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम ने यह चिन्ता व्यक्त की है कि यह समय मिथकीय इतिहास लिखने के लिए अच्छा समय बन गया है। अफ्रीका के इतिहास के विशेषज्ञ टेरेंस रेंजर ने भी जिम्बाब्वे के इतिहास लेखन में अपने देश के इतिहास पर इतना अधिक जोर दिए जाने पर अपनी परेशानी व्यक्त करते हुए चेताया है कि इस तरह के देशप्रेम से ओतप्रोत इतिहास में इतिहास कम और इसका विद्रूपीकरण अधिक होता है। इन चिन्ताओं के बावजूद इतिहास के साथ साहित्य का सम्पर्क और इतिहास के पारम्परिक स्रोतों से आगे बढकर नये स्रोतों की ओर जाने की जरूरत पर बल देने का सिलसिला भी चल रहा है। वैश्वीकरण के इस दौर में जब सूचना क्रान्ति और टेक्स्ट, सबटेक्स्ट और हाईपर टेक्स्ट आदि का दौर चल रहा है इतिहास के बारे में नये सिरे से सोचना जारी है। तमाम चीजों की तरह इतिहास को भी समाज में टिके रहने के लिए अपने लिए एक बाजार की जरूरत है। यह कितना दिलचस्प है कि आज दुनिया भर में 'हिस्ट्री एंड इंटरटेनमेंट' चैनल के माध्यम से ही लोग इतिहास के बारे में जान और देख रहे हैं। भारत जैसे देशों में तमाम शक्तियाँ इतिहास को अपने अपने तरीके से इस्तेमाल करने की कोशिश कर रही हैं। कोई अपने देश या क्षेत्र को गर्व से भरने के लिए, कोई अपनी जाति को महान सिद्ध करने के लिए और कोई अपने धर्म को महान दिखलाने के लिए इतिहास को लिखने और प्रचारित करने में लगा है।

इतिहास के बारे में कहा गया है कि यह एटम बम से भी खतरनाक हो सकता है। इसके गलत इस्तेमाल से दो सम्प्रदायों को अलगाया जा सकता है, दो देशों के बीच दुश्मनी पैदा की जा सकती है और अपने भूतकाल के प्रति अवैज्ञानिक दृष्टि को प्रचारित किया जा सकता है। इतिहास के इसी विध्वंसक रूप को देखते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था कि वह दिन कितना अच्छा होगा, जिस दिन से स्कूलों में इतिहास को पढ़ाना बन्द कर दिया जाएगा। भारत में मिथकीय इतिहास लेखन का एक सिलसिला तब शुरू हुआ था, जब इस देश में मीडिया क्रान्ति हुई। एक के बाद एक सीरियल बनाए गये और बहादुरशाह जफर, टीपू सुल्तान, पृथ्वीराज चौहान आदि से होते हुए अब लक्ष्मीबाई तक इतिहास को टी. वी. पर लाने का सिलसिला चल ही रहा है। इस तरह के इतिहास को कितना इतिहास माना जाए और कितनी कल्पना, इस पर विचार करना बहुत जरूरी है। यूँ तो अकादमिक इतिहास, इतिहासाश्रित साहित्य, लोकप्रिय इतिहास और लोक स्मृति में सतत परिवर्तनशील ऐतिहासिक स्मृति इत्यादि विषयों पर विगत तीस वर्षों में लगातार गम्भीर बहस हो रही हैं, पर अब लगता है इन भाँति भाँति के इतिहासों ने इतिहासकारों से इतिहास लिखने के विशेषाधिकार को ही चुनौती दे दी है।

इस विषय पर विचार करने के पहले देखा जाए कि इतिहास के इन नये प्रकारों के समर्थक इसे किस तरह से देखते हैं। पिछले तीन-चार दशकों से समाजशास्त्रियों का एक बड़ा दल इस बात को मजबूती से रख रहा है कि इतिहास भी एक प्रकार का आख्यान है, जो लिखने के क्रम में संयोजित होता है और लिखने की सारी कमजोरियों को लेकर चलता है। उन्हें यह कहने में कोई संकोच नहीं होता है कि इतिहास भी एक तरह का साहित्य ही है, जिसकी रचना होती है और हर रचना की तरह इसको रचने वाला इसे अपने तरीके से, अपने समय के हिसाब से ही रचता है। जो लोग इस दृष्टि से देखते हैं, उनके लिए इतिहास कोई ऐसी सच्ची चीज नहीं है, जिसे सच्चा इतिहासकार खोज कर पेश करता है, बल्कि यह एक वृत्तान्त है, जिसे इतिहासकार उसी तरह तैयार करता है, जैसे एक कवि कविता लिखता है।

1857 का इतिहास

1857 के बदलते जाने के सिलसिले को अगर हम ध्यान से देखें तो यह बात कुछ सही प्रतीत होती है। आज 1857 एक हाईपर टेक्स्ट में बदल चुका है, जिसमें हर क्षेत्र की, हर जाति की अपनी अपनी दृष्टि है और आज यह मानने को कोई भी तैयार नहीं है कि 1857 के विद्रोह को उस क्षेत्र ने या उस जाति ने समर्थन नहीं दिया था। और तो और बंगाल के योगदान को रेखांकित करने के लिए जितना कुछ पिछले एक साल में लिखा गया है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि 1857 के विद्रोह के दौरान बंगाल में भी विद्रोह को पर्याप्त समर्थन था!

1857 के इतिहास को कई स्तरों पर समझने की जरूरत है। इसके कई पाठ हैं और कई बार पाठों के बीच खूब घालमेल भी है। इस घालमेल के कारण यह कभी भी कहना सरल नहीं होगा कि 1857 का चरित्र वास्तव में कैसा था। अमृतलाल नागर के इस मूल्यांकन से ही बात शुरू की जाए। वे कहते हैं, ''हमारे देश का इतिहास विदेश के विद्वानों ने रचा है। देशी आलिम फाजिलों ने भी ज्यादातर उन्हीं की नकल करते हुए पोथियां लिखी हैं। गदर के इतिहास का भी वही हाल है। वे गोडसे के हवाले से कहते हैं कि ''यह जाहिर है कि आम जनता अंग्रेजों से भय और घृणा करती थी। भारतीय जनता दिल से चाहती थी कि अंग्रेज इस देश से निकाल दिये जाएँ...। सैनिक क्रान्ति को यदि जन क्रांति का रूप मिला होता तो आज इस देश का इतिहास कुछ और ही बना होता।'' लेकिन वे यह भी मानते हैं कि इसमें ''बड़े लोगों की लड़ाई में आम जनता सिर्फ मजबूरी में ही शरीक थीं। मेरा मन उन लोगों से मेल नहीं खाता, जो सत्तावन के गदर को भारतीय स्वतन्त्रता का युद्ध कह कर उस पुराने किस्म की राजसी लड़ाई को आज के जन स्वातन्त्र्य की चेतना पर लादना चाहते हैं।'' निश्चित ही करवट के लेखक और रामविलास शर्मा के अनन्य मित्र और देशी भावजगत में पगे-बढ़े लखनऊ के नागरजी 1857 के इतिहास से भी वाकिफ थे और उसकी सीमाओं से भी। फिर भी ये परस्पर विरोधी से दीखने वाले भावों की एक साथ उपस्थिति क्यों? इस बिन्दु से ही हिन्दी साहित्य में 1857 के सम्बन्ध में उपस्थित दुचित्तेपन (mbivalence) के इतिहास पर बातचीत की शुरुआत हो सकती है। दरअसल, नागरजी ने जो बात स्पष्ट रूप से करवट (1985) में कह दी है, वही शायद हिन्दी नवजागरण के पुरोधाओं के 1857 के बाद के भारतीय समाज के इतिहास के सम्बन्ध में दृष्टि का सार माना जा सकता है। नागरजी ने लिखा है। ''गदर के बाद अंग्रेजी शासन और शिक्षा के प्रभाव से हमारे समाज में नयी मानसिकता का उदय हुआ था। संघर्ष की प्रक्रियाओं में पुरानी जातीय पंचायतों को नये जातीय 'असोसिएशनों' ने करारे धक्के ही नहीं, दिये वरन कालान्तर में उन्हें ध्वस्त ही कर डाला। इन जातीय संघर्षों से ही नयी राष्ट्रीयता ने जन्म पाया था।''

इस बात को लेकर बहुत बहस हो चुकी है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में 1857 के विद्रोह का उल्लेख 1920 के पहले बहुत ही कम है। लगभग सभी जगहों पर 1857 के इन 'गद्दारों' (इसी नाम से विद्रोहियों को सम्बोधित किया जाता था) के उद्देश्य के प्रति अनादर का भाव ही रहा है। वीर नारियों, जैसे लक्ष्मीबाई और वीरों, जैसे कुंवर सिंह, नाना साहब या तात्या टोपे के प्रति जो सम्मान का भाव साहित्य में जरूर आया है, लेकिन वह उनकी वीरता का सम्मान करने के लिए था, न कि 1857 के विद्रोहियों के उद्देश्य से सहानुभूति प्रदर्शन के लिए। शिष्ट (क्लासिकल) हिन्दी साहित्य के जितने भी उदाहरण अब तक आये हैं, वे इसी तरह के हैं, लेकिन यह भी नहीं है कि ये विद्रोही हिन्दी लेखकों के लिए घृणित लोग ही थे। हिन्दी लेखकों के मन में 1857 के प्रति भाव में एक किस्म की असहजता है। ऐसा क्यों था, यह

अलग से विचार का प्रश्न है। यहां यह देखने का प्रयास किया गया है कि 1857 के इतिहास और इसकी ऐतिहासिकता के बीच जो सतत संवाद चल रहा है, उसकी ओर ध्यान दिया जाए।

1857 की बदलती जीवनियां

1857 के ऐतिहासिक यात्रा के चार खण्ड हैं, चार जीवन हैं। 1857 से बीसवीं शताब्दी का दूसरा दशक, वहां से 1957, 1957 से 1990 के दशक तक और तब से अब तक। इन चारों इतिहास खण्डों में जो प्रश्न उस समय राजनैतिक-सांस्कृतिक धरातल पर ज्यादा महत्त्वपूर्ण थे, उसके आधार पर 1857 के इतिहास को देखा गया। यही वह बिन्दु है जहां से इतिहास और ऐतिहासिकता के बीच के अंतर्संपर्क को 1857 के सन्दर्भ में देखना उचित होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 1857 के दौरान जो कुछ घटित हुआ था, वह लोग भूल नहीं सकते थे। एक मोटे अनुमान के अनुसार बंगाल आर्मी के एक लाख सिपाहियों ने विद्रोह किया था और उन सबको मार दिया गया। एक इतिहासकार ने अनुमान किया है कि दस-ग्यारह लाख आम आदमी मारे गये। इतने लोगों की मृत्यु ने अधिकतर वैष्णव शाकाहारी बनिया- ब्राह्मण हिन्दी लेखकों के मन को न छुआ होगा, यह सम्भव नहीं लगता, लेकिन यह भी सम्भव नहीं है कि सिर्फ भय से नवजागरण युगीन हिन्दी लेखकगण चुप्पी साधे रहे हों।

भारतेन्दुयुगीन महान हिन्दी लेखकों ने समय-समय पर महान नैतिक साहस का परिचय दिया है। खुद भारतेन्दु बहुत जीवट वाले लेखक थे। जिन शब्दों में इन लेखकों ने देश की दुर्दशा और धर्म और भाषा पर किसी तरह के आक्रमण का विरोध किया है। वह उल्लेखनीय है, लेकिन इस नवजागरण का 1857 से जोड़ बनना सम्भव नहीं है। रामविलास शर्मा जैसे विद्वानों की ट्रेजिडी यही है कि वे परम्परा और आधुनिकता के जिस सम्मिलित पाठ के आधार पर भारतीय नवजागरण को समझने की कोशिश करते हैं, उसमें राष्ट्रवाद का एक पूंजीवादी पाठ ही तैयार हो सकता है। वे एम. एन. राय, आर. पी. दत्त, पी. सी. जोशी, ऐजाज अहमद आदि से अलग पाठ बनाते हैं, लेकिन वह पाठ भयानक अन्तर्विरोधों को जन्म देता है। कुल मिलाकर मार्क्सवादी दृष्टि से विचार करने वाले 1922 के मानवेन्द्र नाथ राय से लेकर 2007 में ऐजाज अहमद तक 1857 के बारे में जो राय रखते हैं, उसकी बुनियादी समस्या पर विचार किए बिना 1857 के चरित्र को लेकर कोई बहस सम्भव नहीं। मानवेन्द्र राय की राय को देखें, ''दरअसल, यह विद्रोह अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध नहीं, बल्कि उस सरकार द्वारा लाए गये प्रगतिशील सामाजिक, राजनैतिक विचारों के विरुद्ध था।'' ऐजाज अहमद की स्पष्ट राय है कि 1857 का विद्रोह राष्ट्रीय नहीं था। वे कहते हैं, ''राष्ट्र तो केन्द्रीय राजसत्ता बनाती है या फिर पूंजीवाद बनाता है।'' वे मानते हैं कि ऐसा नहीं था। यहां तक तो वे वही कह रहे हैं, जो रजनी पाम दत्त जैसे लोग पहले कहते थे, लेकिन इसके बाद वे थोड़ा और आगे बढ़कर कहते हैं, ''इस आधार

पर 1857 का कोई मूल्यांकन सही नहीं हो सकता कि अगर किसी ने अंग्रेजों के साथ तिजारत की तो वह राष्ट्रद्रोही हो गया और जिसने नहीं किया, वह देशभक्त हो गया।'' पूंजीवाद एक साथ अच्छाई भी है और बुराई भी है। अपने इस साक्षात्कार में एजाज साहब ने इस बात का उल्लेख किया है कि (बंगाल में) इतना अपराध-बोध है 1857 को लेकर... कि अंग्रेजों का साथ दिया। वे इस बात का उल्लेख इस रूप में कर रहे हैं मानो यह बोध बेमानी हो। बुनियादी रूप से एजाज अहमद सही मार्क्सवादी व्याख्या कर रहे हैं। औपनिवेशिक संघर्ष, पूंजीवाद और राष्ट्रवाद की जिस समझ के साथ मार्क्सवादी चिन्तन 1857 जैसे 'प्राक-आधुनिक' आन्दोलन को समझने की कोशिश करता रहा है, उसमें विद्रोह को राष्ट्रीय मानना सम्भव ही नहीं है। आजकल इरफान हबीब के नेतृत्व में 1857 का जो एक पाठ तैयार हो रहा है, वह 1857 के विद्रोह की परिधि का विस्तार और इसके भीतर समन्वयवादी प्रवृत्ति को दिखलाकर भारत में राष्ट्रवाद की सैद्धान्तिकी का विस्तार करने का उपक्रम है, जिसकी अपनी समस्याएँ और सम्भावनाएँ हैं। रामविलास शर्मा ने 1857 सम्बन्धी अपने शोध में जो किया है, वह 1857 की एक राष्ट्रवादी व्याख्या है, जिसे मार्क्सवादी शब्दावली में रखा गया है। हालांकि इस बात से उनकी बात का महत्त्व कम या अधिक नहीं होता।

1857 का इतिहास, दलितवादी विमर्श और 'ऐतिहासिक' का प्रश्न

जो लोग यह मानते हैं कि इतिहास एक आख्यान ही होता है और हर आख्यान की तरह यह भी सजाया हुआ (कांसटिच्यूटेड) होता है। उनके लिये 1857 का बदलता जाता इतिहास परेशान करने वाला नहीं है। यह तो समय सापेक्ष होता ही है। हर समय की मुख्य विचारधारा (आप चाहें तो एपिस्टेमा (episteme) कह लें) उस समय की दृष्टि को प्रभावित करता ही है। वर्तमान युग पूरी तरह से न सही, लेकिन अंशतः दलितवाद का युग है। इस समय हाशिये की श्रेणियां इतिहास में अपना हिस्सा मांगने की कोशिश कर रही है। यह तय मानिये कि जिस तरह का इतिहास राष्ट्रवादी विचारधारा के प्रभुत्वकाल में हमें सच्चा लगता था, अब वह अधूरा ही लगना चाहिए। जिस तरह से 1857 के सन्दर्भ में नये नायक-नायिकाओं के आने का सिलसिला चल रहा है और जिस तरह ये नायक पुराने नायकों को अपदस्थ करने की कोशिश कर रहे हैं, उससे 1857 का इतिहास पूरी तरह से वर्तमान का प्रश्न बनने लगा है। इतिहास की जिस समझ को लेकर हम आज तक चलते आ रहे हैं, वह हमारे सामने बनते हुए इस इतिहास के सामने हमें असुविधा की स्थिति में डाल रहा है। ये नायक क्या फर्जी हैं और क्या इन्हें दलित उभार के युग में बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जा रहा है? इस प्रश्न का उत्तर देना इतिहासकार के लिए जरूरी नहीं है। इसका उत्तर तो आने वाला समय ही देगा, लेकिन इतिहासकार को कुछ प्रश्न अपने से अपने विषय से जरूर पूछना चाहिए। पहला प्रश्न है- इतिहास क्या सिर्फ वही है जो आधुनिक शिक्षित लोग विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित होकर तैयार करते हैं या यह एक अनवरत

सिलसिला है, जिसमें समाज का हर व्यक्ति जाने-अनजाने हर समय शामिल रहता है। पहले यह माना जाता था कि संस्कृति के निर्माता महान लोग होते हैं, जो संस्कृति के आदर्शों को समाज के सामने प्रस्तुत करते हैं, जिसका बाकी लोग सिर्फ अनुगमन करते हैं। अब लोग मानने लगे हैं कि इसका निर्माण एक सामुदायिक प्रयास से होता है और इसका कोई पाठ नहीं होता, यह एक प्रक्रिया है। क्या इतिहास को भी इसी तरह से देखा जा सकता है? क्या इतिहास वही है, जो प्रशिक्षित इतिहासकार बनाते हैं और जिसे राज्य के संस्थान सही मानकर स्कूल-कॉलेज या यूनिवर्सिटी में पढ़ाते है? इस प्रश्न का एक उत्तर तो यह हो सकता है कि 'इतिहास माइथालाजी नहीं है' और न ही यह कोई गल्प है, जिसका ताना-बाना कल्पना के सहारे बुना जा सकता हो, लेकिन यह उत्तर देना अब यथेष्ट नहीं।

1857 और भारतीय सिनेमा इतिहास लेखन के सन्दर्भ में विचार करते हुए ललित जोशी ने लिखा है कि ''पेशेवर इतिहासकार इतिहास को आम आदमी तक पहुंचाने में नाकाम रहा है।'' यह नाकामी इसलिये भी मिली, क्योंकि इतिहास आम आदमी की सांस्कृतिक जरूरतों को पूरा करने में सफल नहीं हो सका है। लोग जब अपना चित्र समाज के इतिहास में देखना चाहते हैं और उसमें कहीं भी अपने समुदाय को नहीं देख पाते तो वे अपना इतिहास अपने और अपनों के भीतर समेटने-फैलाने लगते हैं। इस क्रम में एक ही समय में बहुत सारे इतिहास समानान्तर रूप में चलने लगते हैं। कुछ इतिहास लोक के दायरे में छूट जाते हैं, जहां समय-समय पर ये घटते बढ़ते, बदलते हुए सामुदायिक स्मृति में चलते रहते हैं। कुछ शायद मिट भी जाते हैं। समाज विज्ञानी इन स्मृतियों के साथ कैसा व्यवहार करें, इस सम्बन्ध में एक राय कभी नहीं रही। कुछ लोगों का अब भी मानना है कि इतिहास इन स्मृतियों को सामुदायिक कल्पना के इतिहास के रूप में दर्ज तो कर सकता है, लेकिन इसे इतिहास के प्राथमिक स्रोत के रूप में इस्तेमाल नहीं कर सकता, लेकिन रोचक पक्ष यह है कि जिस ऐतिहासिक बोध ने आम लोगों को ज्यादा प्रभावित किया है, उसमें इस सामुदायिक कल्पना का प्रभावी प्रयोग है। एक बीच का रास्ता हिन्दी और उसके पहले मराठी और बांग्ला के उपन्यासकारों ने निकाला था, जहां इतिहासाश्रित कल्पना का प्रयोग किया जाता था। इस इतिहास को अकादमिक इतिहासकार जो भी मानें, आम शिक्षित आदमी भी इसे ही इतिहास मान कर चलता है।

1857 के सन्दर्भ में ये प्रश्न इसलिये भी उठाये जा रहे हैं, क्योंकि हाल के वर्षों में इतिहास प्रशिक्षित लोगों ने नये नायकों को इतिहास पटल पर लाना शुरू किया। जो नये नायक-नायिकाएं उभरे, वे ऐतिहासिक थे, पर इतिहास के कितने थे यह विवाद का विषय बना हुआ है। जरा कुछ नामों पर गौर किया जाये- रणजीत राम, उदा देवी, मातादीन भंगी, पूरन कोरी, झलकारी बाई, चेतराम जाटव, बल्लू मेहतर, बाँके चमार, वीरा पासी, अवंती बाई, जुल्फिकार, मैकू मल्लाह, धरमन बी, अजीजन बाई, इब्राहिम खान, लखिया, रज्जब अली, मियां खान, गौस खान आदि वे नाम हैं,

जिनका उल्लेख महान नायकों-नायिकाओं- लक्ष्मीबाई, नाना साहब या कुँअर सिंह के साथ करने में बहुत सारे लोगों को असुविधा होगी। ये सारे नाम ऐतिहासिक हैं और इन लोगों का उल्लेख स्रोतों में भी मिलता है, लेकिन जिस दृष्टि से 1857 के विद्रोह को देखा जाता रहा है, उसमें इनका उल्लेख क्रान्ति के कोरस में असंख्य आवाजों की तरह तो आ सकता था, लेकिन नायक के रूप में नहीं। आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन का सबसे सम्भावनाशील इलाका शायद यही है, जिसमें इन हाशिये के पात्रों को मुख्य धारा में लाने की चेष्टा होती है। बद्रीनारायण ने इसे लक्षित किया है कि दलित उभार के इस युग में इन दलित नायक-नायिकाओं ने सवर्ण और स्वीकृत नायक-नायिकाओं को अपदस्थ करना शुरू किया। इसके साथ ही अनेक ऐसे प्रयास हुए हैं जिनमें जातीय नायक नायिकाओं को केन्द्र में रखकर 1857 के इतिहास को लिखने का कार्य हो रहे हैं। हाल ही में गुर्जर आन्दोलन के बाद गुर्जर नायक-नायिकाओं को लेकर गुर्जर भारती नामक पत्रिका के दो अंकों में कुछ अन्य नायक-नायिकाओं का जिक्र किया गया है।

इस तरह के इतिहासों के आ जाने से ऐतिहासिकता के दायरे के फैलाव पर चिन्तित होने वाले लोगों की संख्या भी कम नहीं है। बहुत सारे लोगों को यह लगता है कि इस तरह अगर इतिहास को 'अप्रोप्रिएट' किया जाने दिया गया तो इतिहास 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की तर्ज पर यह मानना होगा कि जिसकी क्षमता उसी का इतिहास! आज दलित शक्तिशाली हुए जा रहे हैं तो इतिहास उनकी तरह का लिखा जा रहा है, कल कोई अन्य शक्तिशाली हुए तो इतिहास उनकी तरह से लिखा जाएगा। 1857 के लिए यह एक चुनौती है। कोई भी समुदाय या क्षेत्र 1857 को अप्रोप्रिएट करने से नहीं चूकना चाहता।

विकल्प क्या हो?

इस विकल्प पर बात करने के पहले एक-दो उदाहरणों पर गौर करना उचित होगा। अशोक कुमार अंशुमन ने 1857 के विद्रोह के पहले मुजफ्फरपुर जेल के एक विद्रोह-लोटा विद्रोह का वर्णन किया है। 1856 में प्रशासन ने कैदियों को पीतल के लोटे की जगह मिट्टी के बर्तन उपयोग का आदेश दिया गया था, क्योंकि आशंका थी कि लोटे का उपयोग कैदी हथियार के रूप में कर सकते थे जैसे कि ''अंग्रेज मजिस्ट्रेट का सिर फोड़ना या अंग्रेज जेलर का थोबड़ा बिगाडना।'' इस आदेश के बाद आरा जेल में कैदियों का विद्रोह हुआ, जिसे दबाने के लिए गोलियां चलानी पड़ीं। बाद में सरकार को यह आदेश वापस लेना पड़ा। इसे छोटी घटना के रूप में देखकर आगे बढ़ जाया जा सकता है, लेकिन यह युक्तिसंगत नहीं होगा। अगर इस बात को ध्यान में रखा जाए कि यह लोटा आन्दोलन चौका, जाति और जेल से भी जुड़ा हुआ है। इस आन्दोलन का वर्णन करते हुए इतिहासकार ने लिखा है, 1855 में एक आन्दोलन, लोटा आन्दोलन शुरू हो गया था। यह आन्दोलन आरा, तिरहुत, पटना

से होता हुआ बनारस की जेलों तक पहुंच गया था। प्रत्येक व्यक्ति की जुबान पर यही बात थी कि यदि (कुंवर सिंह) मिट्टी के बरतन से पानी पी लेंगे तो किसी राजपूत को ऐतराज नहीं होगा।'' दरअसल, एक चौका आने से ऊंची जाति के कैदी लोगों को लगा कि उनका धर्म भ्रष्ट होगा और वे इसके खिलाफ हो गये। अगर 2007 में 1857 के इतिहास पर लिखने वाले इतिहासकार की यह सूचना सही है कि ''बिहार की जेलों में अब भी एक चौके की प्रथा लागू नहीं है। पटना में सिपाहियों की बैरकों में अब भी सिपाहियों के लिए जाति आधारित चौके की प्रथा जारी है।'' तो यकीन मानिये इतिहासकार का एक दायित्त्व यह भी होगा कि वह देखे कि उस समय जेलों में जो छोटी जाति के लोग थे, वे उस आन्दोलन को किस रूप में देखते थे। साथ ही सुरेश पज्जिम और बृजबिहारी जैसे 'छोटे' इतिहासकारों द्वारा उपलब्ध उन तथ्यों की तरफ देखने की भी जरूरत होने लगेगी, जिसमें इस बात पर बल दिया गया है कि 1857 दरअसल दलित विद्रोह था और इस विद्रोह में ज्यादातर विद्रोही दलित जाति के ही थे। कुछ अन्य इतिहासकारों ने भी 1857 के विद्रोह में दलित भागीदारी को रेखांकित किया है। ताप्ती राय ने दिखलाया है कि बुंदेलखण्ड में विद्रोह उच्च जातियों तक सीमित नहीं था। बागियों में कुरमी, काछी, सेंगर, चमार और बनिया जातियों के बहुतायत लोग शामिल थे। पटना विद्रोह में दंडित लोगों में घसीटा, छेदी ग्वाला आदि को फांसी देने का उल्लेख है। छोटी जातियों की भागीदारी का एक उदाहरण यह भी है कि जब विद्रोह के बाद बिहिया, भोजपुर, दनवार और पीरो परगना के 130 गावों में हथियार जब्ती हुई तो अगर राजपूतों के घरों से 656 हथियार निकले तो ग्वालों के घरों से 593 हथियार मिले। इस तरह की बहुत सारी कहानियां और तथ्यों का संयोजन तब हुआ है, जब दलितवाद का दौर शुरू हुआ है। ये सारे तथ्य पहले भी थे, लेकिन उन पर इतिहासकारों का ध्यान क्यों नहीं गया। इस प्रश्न का उत्तर देना इतिहास लेखन की समस्याओं को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

इतिहास में जिसे कम महत्त्वपूर्ण समझ कर छोड़ दिया जाता है, वह कभी बाद में वैकल्पिक आख्यान का रूप भी ले सकता है। 1857 के अध्ययन के दायरे में ऐसे बहुत सारे प्रश्न आ सकते हैं, जिनके उत्तर 1857 के विद्रोह के परिणाम को ध्यान में रखकर नहीं ढूढ़े जा सकते। उदाहरणार्थ 1857 के पहले लोगों के बीच अंग्रेजी शासन के प्रति असन्तोष का इतिहास। 1958 में कालिकिंकर दत्त ने 1857 में एक जिम्मेदार अंग्रेज अधिकारी के हवाले से यह कहा था कि पटना विद्रोही शहर के रूप में रहता आया था और चौत सिंह के विद्रोह के साथ बिहार में अंग्रेज विरोधी विद्रोहों का सम्पर्क था। दत्त ने साक्ष्यों के आधार पर एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है कि ''सरकारी नौकरी में अँगरेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को अपेक्षाकृत रूप से अधिक महत्त्व देने के कारण भी ...बहुत सारे लोग असन्तुष्ट थे। दूसरी ओर देहातों में ईसाई पादरियों की हरकतों से क्षोभ और उत्तेजना पैदा हुई थी।'' 1853 में जार्ज कैम्पबेल द्वारा लिखित 'इंडिया एज इट' में बी के हवाले से दत्त ने बिहार में ईसाई

पादरियों के प्रचार को व्यापक असन्तोष के कारण के रूप में देखने की कोशिश की थी। मुजफ्फरपुर के रहनेवाले भगीरथ और उनके साथियों- केवल पाठक, रामेश्वर सिंह, अली जान और रामफल (ग्वाला) की कथा तो हमें 1857 के पहले और बाद के दौर में बिहार में आदि विद्रोहियों की कथा को नया विस्तार देते लगते हैं, जिनका हमारे इतिहास में कोई विवरण नहीं मिलता। एक इतिहासकार ने लिखा है कि मुंगेर में गिरफ्तार पाँच सिपाहियों ने किस तरह लगातार लड़ाई लड़ी थी, जिनकी कथा भागलपुर के सेशन जज के फैसले में दर्ज तो है, लेकिन भागलपुर के महाविद्रोह के नायकों में इन पाँच नायकों की चर्चा कहीं नहीं मिलती। इन्होंने नीमच, दिल्ली, कानपुर, कैमूर, पलामू में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाइयाँ लड़ी थीं। इन्हें मुंगेर के पहाड़ी गांव से गिरफ्तार किया गया था। ये बागी कुंवर सिंह की सेना के साथ थे, फिर बाद में जगदीशपुर पर अंग्रेजों का कब्जा हो जाने के बाद ये नेपाल जाना चाहते थे। उस समय तक नाना साहब नेपाल पहुँच चुके थे। मुंगेर के 'कुंवर सिंह के एक जासूस' मौजी राम की कथा भी बहुत रोचक है। अली करीम की कथा तो और भी दिलचस्प है।

ये सब बातें 1857 के सन्दर्भ में एक दिलचस्प सम्भावना की सूचना देते हैं। कुछ दिनों पूर्व अचानक डॉ. बासुदेव चटर्जी ने पिछले साल लिखा था, ''बिहार में विद्रोह के इतिहास को लिखने के लिए इतिहासकारों की सख्त जरूरत है।'' कुछ दिनों पूर्व क्लेर एंडरसन ने विद्रोह के कैदियों पर ऐतिहासिक साक्ष्यों के हवाले से महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है, जिसमें कैदियों के जीवन और संघर्ष और जेलों पर आक्रमण आदि के हवाले से नये प्रश्नों को सामने रखा है। 1857 के सन्दर्भ में तो लगता है कि इसके बारे में कल्पनाशील और गहरे विश्लेषण के लिए इतिहासकारों के साथ-साथ उपन्यासकारों की ज्यादा जरूरत है। इतने दिलचस्प विवरण नेपाल, तिरहुत के विभिन्न इलाकों के हमें मिल रहे हैं, उनके आधार पर तो असंख्य इतिहासाश्रित उपन्यासों की रचना सम्भव है। ये उपन्यास किस प्रकार हमारी मदद कर सकते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण दूंगा। वृन्दावन लाल वर्मा ने कई वर्षों तक लक्ष्मीबाई की कथा कहने के लिये शोध किया और जब उनकी कथा लिखने बैठे तो तय किया कि जो वह कहना चाहते हैं, वह इतिहास में नहीं कही जा सकती, उसके लिए उपन्यास लिखने की जरूरत है। यह बात अलग है कि जितना इतिहास वर्माजी के उपन्यास में है, उतना लक्ष्मीबाई के किसी भी इतिहास में नहीं है। इसी तरह बुंदेले हरबोलों के मुख से सुनी कहानी के आधार पर लिखी सुभद्राकुमारी चौहान की कविता में जो लक्ष्मीबाई का इतिहास है, वह ही तो सच्चा इतिहास है, भले ही अकादमिक इतिहासकार उसे सही न मानें। आप चाह कर भी मनोरंजन प्रसाद की कविता में आये कुंवर सिंह को लोगों की ऐतिहासिक स्मृति से अलग नहीं कर सकते। भले ही अकादमिक इतिहासकार कहते रहें कि यह तो सुभद्राकुमारी चौहान पर लिखी कविता के आधार पर यहां के नायक का काव्यात्मक स्तुतिगान है। इतिहासकार बोलते रहें कि जो भव्य तस्वीर कुंवर सिंह की तमाम जगहों पर छप रही है, वह एक अंग्रेज

कलाकार की कल्पना मात्र है, पर लोक छवि कुंवर सिंह मर्दाने की ऐसी है कि मँझोले कद के कुंवर सिंह की असली छवि की तुलना में यही छवि ज्यादा ऐतिहासिक लगती है। क्या लोग हुक्का गुड़गुड़ाती लक्ष्मीबाई के चित्र को असली लक्ष्मीबाई मानने को तैयार होंगे, जो हर हाल में ज्यादा इतिहास-सम्मत है? अगर राष्ट्रवाद के दौर में जब इन छवियों को राष्ट्रीय कल्पना ने आकार दिया और इसे ऐतिहासिक बनाया तो क्या लोगों ने पूछा था कि यह इतिहास का विद्रूपीकरण है? वह राष्ट्रीय दौर था और इस ऐतिहासिक कल्पना को इतिहास मानने में राष्ट्रहित दिखाई देता था, इसलिए यह जायज था। अब बात दूसरी ओर जा रही है और राष्ट्रीय कल्पना की जगह दलित कल्पना ने इतिहास रचना शुरू किया है तो फिर अचानक ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता का इतना आग्रह क्या उचित है? शायद इसके उत्तरों से इस बात को बल मिले कि 1857 के इतिहासों की ओर बढ़ने का दौर शुरू होना चाहिए। इतिहास वह है, जो बनाया जाता है और 'ऐतिहासिक' एक सतत चलने वाली प्रक्रिया है। क्या हम इतिहास को लोगों के हवाले करने के लिये तैयार हैं, जो अपने तरीके से, अपनी सामुदायिक स्मृति के आलोक में अपनी ऐतिहासिकता के बोध का निर्माण करते हैं? और फिर अगर ऐसा किया गया तो इसमें वैसा इतिहास क्या बच पाएगा, जिसे हम सही मायनों में इतिहास मान सकें ?

❑

रामदेव सिंह



हिन्दी कहानी की बेचैन आत्मा उर्फ द ग्रेट संजीव भाई!

पिछले कई वर्षों से संजीव भाई से नहीं मिला हूँ यानी जब से वे दिल्ली में प्रवासी हैं और हंस से जुड़े हैं। इन वर्षों में मैंने उन्हें दो बार टेलीफोन किया। दोनों बार संवाद अधूरा रहा। एक बार उनकी व्यस्तता और दूसरी बार उनकी किसी मजबूरी (?) ने हमें 'डिसकनेक्ट' कर दिया। 'हेल्थ कांसस' संजीव भाई को भी 'आर्थराइटिस' ने परेशान कर रखा है, यह मित्रों से पता चला। जीवन की आपाधापी ने हम सबको अपने-अपने द्वीप तक सीमित कर दिया है। साहित्यिक मित्रता के सम्बन्ध भी पहले जैसे नहीं रहे। इस सन्दर्भ में इधर जब-जब सोचा है, मुझे उन दो बौद्ध भिक्षुओं की कथा याद आ जाती है, जो पास-पास बैठे ध्यान में लीन थे। काफी दिनों बाद दोनों की तन्द्रा टूटी। एक ने दूसरे से पूछा—अण्डा खाते हो? दूसरे ने हाँ में जवाब दिया और फिर दोनों तपस्या में लीन हो गये। महीनों बाद दोनों की तन्द्रा टूटी। पहले ने फिर पूछा—कच्चा या उबालकर और फिर दोनों तपस्या में लीन हो गये। कमोबेश यही स्थिति हम लिखने-पढ़ने वालों के बीच होती जा रही है। यह बात अलग है कि भिक्षुओं की तरह हमारा ध्यान 'आत्म मुक्ति' जैसे किसी आध्यात्मिक प्रयास पर केन्द्रित नहीं है, बलिक यह 'नेटवर्क' के 'बिजी' हो जाने का नजीता है।

लेकिन 'मेमोरी' को यदि हम 'रिप्ले' करें तो हमारे वे दिन इतनी गहमागहमी

से भरे रहे हैं कि आज बरबस ही मुँह से निकल पड़ता है 'कोई लौटा दे मेरे बीते हुए दिन'। तब हममें से बहुत से लेखक सिर्फ पाठक ही थे, जब संजीव हिन्दी के स्टार लेखक बन चुके थे और कुलटी शहर को मैंने उन्हीं के नाम से जाना था। कुल्टी और बांगरकला के बीच आवाजाही करते, कहानी के लिए नयी-नयी जमीन तलाशते, साहित्यिक गोष्ठियों के लिए आते-जाते, अपने मित्रों के अलग-अलग कुनबों में और उनसे रिश्तेदारियाँ निभाते संजीव को मैंने भी देखा है। एक कुनबा हम लोगों के साथ भी बना जिसमें शिवमूर्ति हैं। गौतम सान्याल हैं, दिनेश कुशवाह, नरेन, भोला प्र. सिंह, अवधेश प्रीत के साथ मैं भी हूँ। हम मिले भले कहानियों और कविताओं के मार्फत, लेकिन मित्रता और पारिवारिक रिश्तों में ढलते चले गये। इन रिश्तों में प्रथम सूत्रधार संजीव भाई ही रहे हैं, सबके लिए चिन्तित और परेशान। चाहे साहित्यिक मामला हो या पारिवारिक।

कोई व्यक्ति अपने घर-परिवार की बेहतरी धन-सम्पति और कैरियर के लिए बेचैन रहे तो यह बात समझ में आती है, लेकिन कोई हिन्दी कहानी के लिए कहानीकारों की पलटन तैयार करने के लिए इतना बेचैन हो, ऐसा बहुत कम होता है। इसलिए मैं संजीव भाई को हिन्दी कहानी की बेचैन आत्मा कहता हूँ। कहानी जगत में 'सब पढ़े सब बढ़े' वाली उदारता के साथ बहुत कम लेखक सक्रिय हैं। हिन्दी के दर्जनों लेखकों से मेरे व्यक्तिगत सम्बन्ध रहे हैं। प्रायः लेखकों को साहित्य में अपना कैरियर ढूंढ़ते या अपने दूसरे कैरियर में साहित्य का इस्तेमाल करते देखा है, लेकिन संजीव के लिए लेखन उनकी सांस है, धड़कन है। वे पूरे सृजनरत समाज के लिए चिन्तित रहते हैं। लेखकों की सबसे बड़ी बीमारी 'आत्ममुग्धता' से वे कोसों दूर रहे हैं।

हममें से कई लोग, जिन्होंने कहानियाँ तो बड़े उत्साह से शुरू कीं, लेकिन 10-20 कहानियाँ लिखते-लिखते थक गये या कहिए स्थगित हो गये। सबके अपने-अपने जस्टीफिकेशन क्या करें? कब लिखें? घर-गृहस्थी, नौकरी धन्धे से फुर्सत ही नहीं मिलती। मैंने खुद अपने बारे में जब-जब सोचा है, संजीव मेरे सामने खड़े हो जाते हैं। जैसे कह रहे हों—आखिर मैं कैसे लिखता हूँ?

'तीस साल का सफरनामा' शायद उनकी पहली कहानी थी, जिसे मैंने 'सारिका' में पढ़ा था और कथाकार संजीव से परिचित हुआ था और जब 'अपराध' छपी तो इस कहानी के 'ग्लैमर' ने उन्हें स्टार बना दिया। इस कहानी की अन्तर्वस्तु इतनी बौद्धिक और जटिल थी कि इस पर संवाद करने के लिए मुझे भी बड़ी तैयारी करनी पड़ती। यानी संजीव की वह कहानी अच्छी तो लगी, लेकिन क्यों अच्छी लगी इसे मैं 'जस्टीफाई' नहीं कर पा रहा था। जैसे शिवमूर्ति की कहानियों पर उन्हें खुलकर पत्र लिखता था। कहीं असहमति व्यक्त करता तो वे बड़ी चालाकी से कन्नी काट जाते 'आप ठीक कह रहे हैं। कहानी छपने से पहले यदि दो-चार सुधी मित्रों से पढ़वा लेता तो यह कमी दूर हो जाती।'

लेकिन संजीव से यह दूरी जल्दी खत्म हो गयी। वे कथाकार संजीव से हमारे

संजीव भाई हो गये। तब मेरी पहली कहानी 'पंचैती' प्रस्ताव पत्रिका में छपी थी और सिर्फ एक कहानी की जमापूंजी पर हरिहर जी ने धनबाद में आयोजित 'कथा शिविर' में आमन्त्रित किया था, जिसके प्ररणा स्रोत बाबा नागार्जुन थे। इस शिविर का उद्देश्य था कि बड़े और अनुभवी लेखकों के साथ नये लेखकों का एक सेतु बने। फोकस जनवादी लेखन पर ही था। तब मैं रंगमंच पर ज्यादा सक्रिय था। मुगलसराय से मेरे मित्र और रंगकर्मी सरूर अली अंसारी भी गये थे। कई सत्रों में ढेर सारी बहसें हुईं। वह नये लेखकों के लिए सचमुच शिविर था। लेखक कहानियाँ पढ़ते उस पर खुली बहस होती। वरिष्ठ लेखकों की टिप्पणियाँ होतीं। चाय पीते, खाना खाते हुए भी कहानी और सिर्फ कहानी। मेरा तो बपतिस्मा ही हो रही था, इसलिए संकोच में था, जिसे संजीव भाई ने ही तोड़ा था। पंगत में बैठकर खाना खाते वक्त वे मेरे बगल में बैठे थे। परिचय की पहल उन्होंने ही की और पूछा—'कोई कहानी लाये हैं कि नहीं? मेरे पास कोई कहानी थी नहीं। उन्होंने मुझे कुछ प्रेरित सा किया 'नये लेखकों का ही एक सत्र है, उस बहस में आपको हिस्सा लेना चाहिए। हिचकियेगा नहीं एकदम खुलकर बोलियेगा। आप तो रंगमंच के आदमी हैं, मंच का भय कैसा? और दोपहर बाद की उस गोष्ठी में जब हरिहर जी ने मेरा नाम पुकारा तो मैंने भी माइक पर जाकर अपनी बातें रखी।

इस मुलाकात के बाद संजीव भाई जब भी अपने गाँव आते या गाँव से वापस होते तो मुगलसराय में हमारी भेंट अवश्य होती। तब चिट्ठियाँ ही सूचना के आदान-प्रदान का माध्यम थीं। चिट्ठियाँ लिखने में वे बहुत 'प्राम्प्ट' थे। धनबाद शिविर के बाद जब पहली बार वे सियालदह-जम्मू तवी एक्सप्रेस में शाहगंज जा रहे तो हम रात के एक बजे उनसे मिलने स्टेशन आये। मेरे साथ कुछ रंगकर्मी और रेल के सहकर्मी भी थे। हमारे अनुमान के विपरीत वे साधारण डिब्बे में ठुँसे हुए थे। खिड़की से ही उन्होंने आवाज दी—'आर.डी. भाई यहाँ हूँ। वे पसीने से लथपथ थे। डिब्बे से अजीब सी बदबू आ रही थी। मैं अपने मित्रों से संजीव भाई की चर्चा कर चुका था कि वे कितने बड़े लेखक हैं। मैं बहुत 'इम्बैरेसिंग' फील कर रहा था। इसलिए नहीं कि वे साधारण दर्जे में यात्रा कर रहे थे, बल्कि इसलिए कि वे मेरे वे मित्र इतने समझदार नहीं थे कि वे इस तरह के 'आदर्श' को समझते। ऐसा भी आदर्श क्या कि जान सांसत में डालकर यात्रा की जाए, मैंने सजीव भाई को आदेश सा दिया—'सामान लेकर बाहर आइये'। वे गाड़ी से नीचे आये सकुचाते हुए—'क्या करता, रिजर्वेशन मिला नहीं, बिना रिजर्वेशन के स्लीपर डिब्बे में घुसना अच्छा नहीं लगता। सामने ही टी स्टाल पर हमने चाय पी। इस बीच एक साथी ने स्लीपर डिब्बे के टी.टी.ई. से बात कर उनके लिए जगह की व्यवस्था कर दी। बीस-पच्चीस मिनट की उस बातचीत और व्यवहार से हमारे साथी भी काफी प्रभावित हुए और हम देर तक उन्हीं की चर्चा करते रहे।

फिर वह दौर भी आया कि हम लोग खूब-खूब मिले। मिलते रहे। औपचारिक

आयोजनों में तो मिलते ही। वे जब भी मुगलसराय से गुजरते और मौका मिलता तो आधे-एक घण्टे के लिए घर भी जरूर आते या कभी मैं ही स्टेशन पहुँच जाता। बाद के वर्षों में जब दिनेश कुशवाह इस कुनबे के सदस्य हुए तो हमारे मिलने के अवसर और भी बढ़े, तब दिनेश कुशवाह के पिताजी मुगलसराय में ही पदस्थापित थे। संजीव भाई मेरे आलस्य को लेकर अकसर ही कोसते, 'इस तरह काम नहीं चलेगा आर.डी. भाई, चार कहानियाँ लिखी और 'हिबरनेशन' (मेंढ़क की शीत निष्क्रियता' में चले गये'। मैं अपनी ड्यूटी का रोना रोता 'क्या करुँ, प्रायः तो नाइट शिफ्ट ही करनी पड़ती है। रात जगने के बाद कैसे कोई पढ़ने-लिखने का काम करें।' संजीव भाई झिड़कते, 'ना, ना, ना! बहाने मत बनाइये। टाइम को मैनेज करना सीखिये। मैं भी तो नाइट ड्यूटी करता हूँ।' वे इस तरह प्रोवोक करते, 'आर.डी. भाई मैं मालगाड़ी के गार्ड पर एक कहानी लिखना चाहता हूँ। मुझे कुछ डिटेल्स चाहिए...'' मैंने तपाक से रोका नहीं, नहीं यह रेल का मामला है, अतिक्रमण मत कीजिए, इसे मेरे लिए छोड़ दीजिए।' संजीव वार्निंग देते—ठीक है छः महीने का समय दिया...नहीं लिखे, तो मैं लिखूँगा।' हालाँकि इसे मैं अब तक नहीं लिख सका हूँ।

संजीव का सृजन संसार शायद इसलिए इतना विविध है। उनके पास जीवन और चरित्र की इतनी विविधता है कि यह वह लिख सकता है जिसे परकाया प्रवेश की कला आती हो। संजीव इस मामले में किसी भी नये लेखक के उस्ताद हो सकते हैं। एक बार बहुत पहले मैंने संजीव भाई से सीरियसली पूछा था कि 'सच बताइये, आपने कभी किसी सर्कस कम्पनी में भी काम किया है क्या?' वे ठठाकर हँसे थे, 'काम तो नहीं किया, लेकिन सर्कस की दुनिया को जानने की कोशिश जरूर की।' बाद में जब उनकी अन्य कहानियाँ और उपन्यास छपे तो मुझे समझने में दिक्कत नहीं हुई कि यही तो वह कला है जो संजीव को 'ग्रेट' बनाती है। 'अपराध' और 'पांव तले दूब' पढ़कर कौन नहीं कहेगा कि संजीव जरूर कभी हार्डकोर नक्सलाइट रहे होंगे। 'आरोहण' हो या 'ब्लैक होल' या उनकी ढेर सारी कहानियाँ। संजीव का आब्जर्वेशन कितना सूक्ष्म है। डिटेल्स तो कोई भी एकत्रित कर सकता है, लेकिन चरित्र में जान डालने के लिए उसकी 'साइकी' को समझना जरूरी है। संजीव में यह क्षमता गजब की है। ठीक है कि चासनाला दुर्घटना ने उनको एक उपन्यास का विषय दिया लेकिन उपन्यास पढ़ने के बाद कोई कह सकता है कि संजीव जमीन से नीचे उस भयावह यन्त्रणा में स्वयं नहीं फँसे हो। 'माँ' कहानी में बेटे की पीड़ा पाठकों को जिस तरह असहज स्थिति में डालती है, सोचिए, संजीव ने इसे लिखा किस तरह होगा? इसलिए मैंने पहले ही कहा कि वे हिन्दी कहानी की बेचैन आत्मा हैं। 'बावर्ची' फिल्म के नायक की तरह एक मिशान पूरा होने के बाद दूसरे घर की तलाश में चल पड़ता है। संजीव की यात्रा समानान्तर रूप से अपने मित्रों के लिए भी रहती है। एक बार काफी दिनों के बाद वे मुगलसराय आये तो मैंने उन्हें अपनी दो छपी हुई कहानियाँ पढ़ने को दीं। बाद में पूछा कैसी लगी? मैं उनके होंठों की

हरकत देख रहा था कि कितना बिचकाते हैं, लेकिन वे थोड़े सन्तुष्ट थे, 'मैं इन दोनों कहानियों को 60% अंक दूँगा। याद रखिए 60% फर्स्ट डिवीजन होता है, हाँ, डिस्टिंक्शंन नहीं दे सकूँगा।'

संजीव जिन दिनों 'अक्षर पर्व' का अतिथि सम्पादन कर रहे थे, उन्हीं दिनों डाक से एक दिन इसका अंक मेरे पास आया। इसमें मेरी कहानी गठरी छपी थी, मैं हैरान था कि मैंने यह कहानी भेजी ही नहीं, न पत्रिका को, न संजीव भाई को तो आखिर यह छपी कैसे? मैंने संजीव भाई को फोन किया, 'यह कहानी आपको मिली कहाँ से? वे हँसे, 'अरे अच्छी कहानी पर नजर पड़ ही जाती है, नरेन के घर यह कहानी पड़ी थी, मैं उठा लाया। याद आया कभी नरेन ने किसी पत्रिका के लिए यह कहानी मँगवायी थी, जिसे मैं भूल भी चुका था। बाद में 'अन्यथा' के लेख में संजीव भाई ने इस कहानी का विशेष रूप से उल्लेख भी किया था।

कहानियों के मामले में वे जितने निर्मम और सख्त हैं, सम्बन्धों के मामले में उतने ही भावुक और भोले। छः-सात वर्ष पहले की बात होगी। मैं लगातार अस्वस्थ चल रहा था। उन्हें मित्रों से जानकारी मिली होगी। एक दिन धमक पड़े, 'क्या हो गया है आपको? जब सुनता हूँ तब बीमार। देखने से तो आप बीमार नहीं लगते।' फिर मुझे सुनने के बाद कहा आप डिप्रेशन के शिकार हो गये हैं। चलिए मेरे साथ, मैं अपने एक जिन्दादिल दोस्त से मिलवाता हूँ। संजीव भाई के घनघोर प्रशंसक और मित्र अष्टभुजा तिवारी रसड़ा (बलिया) शुगर मिल के प्रबन्धक थे। संजीव भाई ने उन्हें फोन कर दिया। मुगलसराय से ट्रेन द्वारा हम लोग बक्सर गये, जहाँ अष्टभुजा जी ने कार भेज दी थी। रसड़ा में उन्होंने बहुत गर्मजोशी से हमारा स्वागत किया। शाम की चाय पीते हुए तिवारी जी ने बातचीत के दौरान किसी सन्दर्भ में अपनी पारिवारिक परेशानियों का जिक्र छेड़ दिया। संजीव भाई कभी मेरी ओर देखते कभी तिवारी जी की ओर। आखिर उनसे रहा नहीं गया। उन्होंने तिवारी जी को रोका-धत् महाराज्! चुप भी रहिए। मैं आर.डी. भई को आपसे मिलाने लाया कि आपसे मिलकर इनका डिप्रेशन दूर होगा, लेकिन आपकी बातों से तो ये और डिप्रेस्ड हो जाएँगे।' तिवारी जी थोड़ा झेंपे। मैंने हस्तक्षेप किया—नहीं, नहीं कहने दीजिए मेरा दुख कम हो रहा है। शायद यही मेरे लिए थेरेपी है। अगले दिन दोपहर के बाद हम लोग वापस लौटे। बक्सर से मैं मुगलसराय और संजीव भाई पटना की ओर। शायद किसी और मित्र को 'डिप्रेशन' से उबारने के लिए। ऐसा मित्रजीवी लेखक बहुत कम देखा है मैंने। अपने दुःख और परेशानियों का जिक्र तक नहीं। संजीव इस समय के ऐसे लेखक हैं, जिनका कोई शिष्य नहीं है, सभी मित्र हैं।

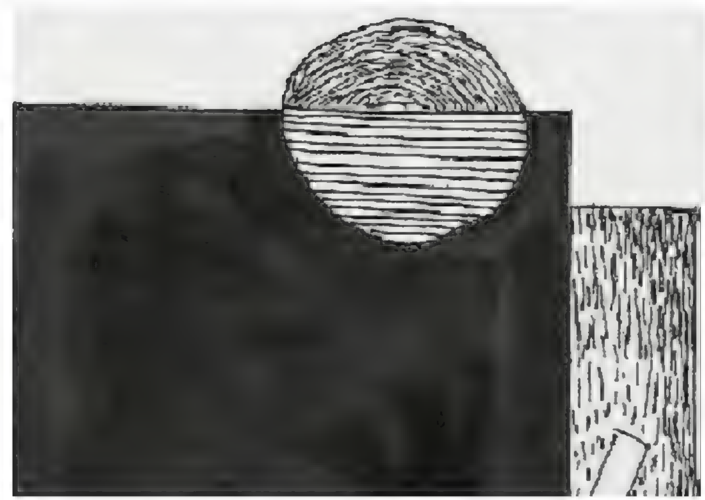
हिन्दी के बड़े से बड़े लेखकों को अपने पाठकों की तलाश रहती है। पत्रिकाओं के पृष्ठों पर वे उन्हें ढूढ़ते भी हैं। उनकी चिठ्ठियाँ दूसरों को दिखाते भी हैं, लेकिन यही पाठक यदि अपने प्रिय लेखक से मिलने उनके घर पहुँच जाए तो कुछ घण्टे भी उनके लिए भारी पड़ने लगते हैं। वे तय किये रहते हैं कि किसे बाहर बरामदे

में बिठाना है, किसे चाय पिलाकर टरका देना है, भले ही वह किसी दूसरे शहर से आया हो। हाँ, यदि कोई एलीट क्लास का पाठक हुआ तो उनके साथ अलग ट्रीटमेंट। लेकिन संजीव जब तक कुल्टी में थे, उनका घर उनके सैकड़ों पाठकों के लिए घर जैसा था। तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद वे उन्हें समय देते थे, उनसे संवाद करते थे, साथ ही आतिथ्य भी। पहली बार जब मैं कुल्टी गया तो वे मुझे लेने भोला भाई के साथ बराकर स्टेशन चले आये। घर पहुँच कर ड्यूटी चले गये। चार बजे आये तो घण्टों बातचीत हुई। उनका यह आतिथ्य हर लेखक-पाठक के साथ रहा है। स्वयं एक पाठक के रूप में वे किसी से असहमत हैं तो, तो झूठी तारीफ नहीं करेंगे। हाँ, कई बार कुछ बड़े लेखकों-आलोचकों के प्रति उनका पूर्वाग्रह दिखाई पड़ जाता है और कइयों के प्रति वे 'साफ्ट' भी हो जाते हैं और कहीं टिप्पणी करने से कन्नी काट जाते हैं।

फिलहाल 'डाउन टू मेमोरी लेन' से इतना ही। तन्द्रा टूटी तो फिर लिखेंगे।

❑

डेनियेला ब्रेडी



स्वतन्त्र भारत में उर्दू की नियति : भाषा एवं मुस्लिम अस्मिता

भाषाई एवं राजनैतिक परिघटनाएँ गहरे तौर पर जुड़ी होती हैं और जैसा कि पॉल ब्रास ने बेहतरीन तरीके से दिखाया है कि भारतीय मुसलमानों के सन्दर्भ में इस सम्बन्ध ने स्वतन्त्र भारत में उर्दू की नियति निर्धारित करने में कई प्रकार की परिस्थितियाँ बनाते हुए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। मुस्लिम राष्ट्रवादियों में से डॉ. जाकिर हुसैन ने इस हर दिल अजीज भाषा को देश की राष्ट्रीय पहचान के लिए होम होने से बचाने के लिए अपने श्रेष्ठतम प्रयास किए। बहरहाल सवाल सीधा सा है, और भारत में आज भी अनुत्तरित है, जहाँ बढ़ता हुआ साम्प्रदायिक व असहिष्णु वातावरण हावी होता दिख रहा है। समाज की मुख्यधारा में देश के सबसे बड़े अल्पसंख्यक समुदाय के शामिल हो पाने के लिए, उर्दू वस्तुतः आज भी प्राथमिक महत्त्व की है। इसलिए इसकी उत्पत्ति की पूर्वपीठिका में जाना आवश्यक है, ताकि उर्दू, मुस्लिम समुदाय व राष्ट्रीय पहचान के बीच के जटिल अन्तर्सबन्ध को प्रकाश में लाया जा सके।

दक्षिण एशिया में सामाजिक व भाषाई तौर पर बड़ी जटिलताएँ हैं। भारतीय समाज ऐसे लोगों से मिलकर बना है जो धर्म व संस्कृति के आधार पर बँटे हुए है, ये समूह प्रायः अलग-अलग क्षेत्रों में नहीं रहते और एक ही क्षेत्र में रहते हुए भी भिन्न भाषाओं और शैलियों में बात करते हैं, इसके अतिरिक्त भारतीय इतिहास

में साहित्यिक शैलियाँ हमेशा धार्मिक अवस्थिति से गहरे जुड़ी रही है। उदाहरण के लिए, हर वेद एक विशिष्ट ब्राह्मण समूह द्वारा लिखे गये थे, पठन-पाठन का अधिकार था। यह धार्मिक कट्टरता दूसरी साहित्यिक भाषाओं की उत्पत्ति का कारण साबित हुई। ब्राह्मणों के विरूद्ध बौद्धों के उदय से 'पालि' का उदय हुआ। इसी तरह जैनियों की भाषा के रूप में 'प्राकृत' प्रकट हुई। साहित्यिक भाषाएँ प्रायः आम बोलचाल से बिल्कुल अगल होती थीं और उन्हें सीखने में कई वर्षों के सतत् अध्ययन की जरूरत पड़ती थी।

आधुनिक काल के आरम्भिक दौर में उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों मे भाषायी विभाजन अपने चरम पर दिखाई देने लगता है। फारसी प्रशासन व सरकारी कामकाज की भाषा थी, संस्कृत ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड की भाषा थी, 'अवधी' पौराणिक व दार्शनिक काव्य की तथा 'ब्रजभाषा' आख्यानों व गीतों की भाषा थी। 'उर्दू' का प्रयोग बाजारों और सैन्य छावनियों में दिखता था, जबकि व्यापारियों व कुछ विशेष प्रकार के शिल्पकारों के समूह अपनी गतिविधियों को बाहरी लोगों से गुप्त रखने के लिए विशेष प्रकार के कूट संकेतों का प्रयोग करते थे। इस तरह की भाषायी परिस्थितियों में, लोगों के पास अपनी रुचि के प्रत्येक विषय को आप ही सुलझा लेने की योग्यता सम्भव नहीं थी। आम लोग प्रायः अपनी विशिष्ट शैलीवाली बोलियों के साथ-साथ बाजार की भाषा भी जानते थे। कुछ लोग अपने खास तौर-तरीकों से पढ़-लिख भी सकते थे, लेकिन इसका आशय यह भी नहीं कि वे बिना किसी विशेषज्ञ की मदद के कोर्ट के कागजातों या धार्मिक पुस्तकें आदि भी पढ़-समझ सकते थे। कुछ भाषाओं के अपने विशेषज्ञों के समूह हुआ करते थे, जिनका भाषा ज्ञान ही उनकी आजीविका का साधन था।

19वीं शती से इन विशिष्ट प्राचीन, साहित्यिक व आर्थिक भाषाओं का स्थान अंग्रेजी व आधुनिक बोलियों ने ले लिया था। साहित्यिक भाषाओं के तौर पर 'हिन्दी' व 'उर्दू' अलग थीं। विशेषकर अपने मूल उत्स के सन्दर्भ में, क्योंकि जहाँ 'हिन्दी' ने अपने सांस्कृतिक शब्द 'संस्कृत' से लिए और नागरी लिपि का विकास किया तो वहीं 'उर्दू' ने अपने शब्द 'फारसी' व 'अरबी' से लिये तथा अरबी लिपि का प्रयोग किया। उर्दू में फारसी ध्वनियों के उच्चारण पर जोर था, जबकि हिन्दी में मूर्धन्य व आनुनासिक ध्वनियों पर बल दिया जाता था। इन भाषाओं को बोलने वाले लोग इनके विशिष्ट उच्चारण नियमों का प्रयोग करते हुए स्वयं को शेष भाषा-भाषियों से अलग कर लेते थे। हिन्दी-उर्दू में यह बदलाव क्रमिक था। बहरहाल भारत में मानक भाषाओं का ज्ञान विश्व के अन्य भूभागों की तुलना में अब भी सीमित है, क्योंकि यहाँ अक्षर-ज्ञान तो अभी निम्न स्तर पर है ही, साथ ही वर्गभेद तथा जातिगत भेदभाव भी अपने प्रभाव डालते हैं। अधिकांश लोग द्विभाषी होते हैं, जो कि घर में स्थानीय बोली और बाहर मानक भाषा बोलते हैं।

वर्तमान समय में भाषायी परिस्थितियाँ कुछ शताब्दी पूर्व की परिस्थितियों से

कम दुरूह व जटिल हैं, यद्यपि समग्र रूप में भाषायी भिन्नताएँ अत्यधिक विकसित व औद्योगिक पाश्चात्य समाजों की तुलना में अधिक हैं। भाषा से जुड़ी सरकारी नीतियों को इसी भाषाई सन्दर्भ से जोड़कर समझना चाहिए।

राजनैतिक विकास कई प्रक्रियाओं का समेकन होता है, जिसमें कि व्यक्तियों एवं साधनों के संघटन द्वारा बड़े पैमाने पर एक राजनैतिक व्यवस्था का संस्थाकरण किया जाता है। इन अर्थों में हम किसी देश के राजनीतिक एकीकरण को उसके विकास व गति को सुनिश्चित करने वाला महत्त्वपूर्ण तत्व कह सकते हैं। राजनैतिक एकीकरण ऐसी प्रक्रिया का सूचक है, जिसमें विभिन्न सामाजिक समुदायों को एक साथ रखते हुए उन्हें एक साझा राजनैतिक उद्यम के लिए संयोजित किया जाता है। राजनैतिक समुदाय के निर्माण एवं विकास की यह प्रक्रिया अन्य तत्वों के साथ-साथ राजनैतिक व्यवस्था के भीतर संवाद की महती कार्यपरकता को भी जन्म देती है। चूँकि भाषा संवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम है, यह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक घटक हो जाती है और इसी कारण राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ावा देने के लिए शासक वर्ग हेतु चिन्तन का विषय भी हो उठती है। भाषा व राजनीति के बीच संवाद, भारत में एक नाट्कीय महत्त्व रखता है, क्योंकि यहाँ भाषाओं की बहुलता काफी जटिल है। औपनिवेशीकरण के बाद के समय में एक सरकारी व कार्यालयी भाषा के तौर पर अँग्रेजी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार्य किसी भारतीय भाषा के द्वारा स्थानान्तरित किये जाने के क्रम में स्थितियाँ और भी जटिल हो गयीं।

स्वतन्त्रता-पूर्व की दुविधाएँ

आजादी से पहले लोगों के राजनैतिक संघटन की शुरुआत में ही भाषा का प्रश्न उठना शुरू हुआ। राष्ट्रीय अस्मिता व पहचान को गढ़ने के क्रम में हिन्दी-उर्दू प्रश्न की प्रासंगिकता सामने आयी। जब उर्दू भारतीय मुसलमानों की संस्कृति के प्रतीक के रूप में चुन ली गयी तथा मुस्लिम लीग ने इसे मुस्लिमों की राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रस्तुत किया। वैसे उर्दू सिर्फ भारतीय मुसलमानों से ही जुड़ी हुई नहीं थी, बल्कि यह आन्तरिक तौर पर मिली-जुली मुगलकालीन संस्कृति को अभिव्यक्त करती थी तथा कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल के लाखों गैर-मुस्लिमों के लिए यह अपनी भाषा थी।

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन इस बात को लेकर सचेत था कि आजादी के बाद अँग्रेजी का स्थान लेने के लिए हमें एक राष्ट्रभाषा की जरूरत पड़ेगी, लेकिन वह इस बात को लेकर निश्चिन्त नहीं था कि हिन्दी सभी अन्य भाषा-भाषी के समुदायों द्वारा स्वीकार्य होगी, किन्तु अधिकांश राष्ट्रवादी हिन्दी के उस स्वरूप पर एकमत थे, जिसे हिन्दुस्तानी के तौर पर परिभाषित किया जा रहा था। इनकी नजर में हिन्दुस्तानी पूरे उपमहाद्वीप में एक सामान्य व साझी भाषा के तौर पर प्रचलित की जा सकती थी, और जिसे बाद में अँग्रेजी के विकल्प के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता

था। इसी वजह से उन्होंने गाँधी जी के 1925 के प्रस्ताव को अपना समर्थन दिया, जब हिन्दुस्तानी को राष्ट्रीय स्तर पर कार्यकारी गतिविधियों के लिए मान्य भाषा के रूप में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस द्वारा स्वीकार किया गया। इन परिस्थितियों तथा इसके बाद के कुछ हालात तथा उनके राजनैतिक महत्त्व को जानते-समझते हुए यह आवश्यक है कि इतिहास में एक कदम पीछे लौटते हुए हिन्दी-उर्दू विवाद पर एक नजर डाली जाए। इतिहास के विवादियों के प्रभावशाली स्वर यह मान रहे थे उर्दू व हिन्दी दो भिन्न भाषाएँ हैं व इन्हें इसी तरह से वर्णित किया जाना चाहिए, यद्यपि कुछ दूसरे लोग यह भी मानते थे कि यह एक ही भाषा है, जो पूरे उत्तर भारत की साझी भाषा है, और जिसे हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी के तौर पर जाना जाता है। क्रिस्टोफर किंग व आलोक राय का यह मानना है कि इतिहास में इस एकात्मक भाषा को निजी लाभों व प्रयोजनों के लिए सायास अलग कर दिया गया। और ऐसा इनमें से एक रूप का संस्कृतीकरण करते हुए तथा दूसरे रूप को अरबी व फारसी प्रभाव मुक्त करते हुए किया गया।

राय ने इतिहास में उस अवधि की पहचान की है, जब 19वीं शती के अन्त में यह अलगाव सामने आ रहा था। उनके कहने का अर्थ है, कि ऐसा नहीं है कि दक्षिण एशिया के दो महत्त्वपूर्ण समुदायों के बीच आर्केडियाई सामंजस्य था बल्कि सीधे तौर पर यह कहना रहा है कि उस समय तक भाषा किसी भी रूप में सामुदायिक विभेदीकरण या वाद-विवाद का विषय नहीं थी। ब्रिटिश भ्राँतियाँ व फोर्ट विलियम के तमाम प्रयास के बावजूद हकीकतन मौजूद भाषा पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। जो भाषा अपनी प्राप्तियाँ सहज रूप से न केवल संस्कृत, अरबी व फारसी जैसे सांस्कृतिक स्रोतों से हासिल की, बल्कि प्राकृत व अन्य भाषाओं की शृंखलाओं की मिश्रित व संकरित सन्ततियों से भी प्राप्त की। इस बिन्दु तक अरबी, फारसी व देवनागरी लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा एक ही थी। दुर्भाग्यवश अँग्रेजों का सामना जल्दी ही इस समस्या से हो गया कि उत्तर भारत की वास्तविक भाषा कौन सी है, और दोनों (हिन्दी-उर्दू) में से इस रूप में किसे चुना जाए। आरम्भ में मुसलमानों ने इस बात को खारिज किया कि उर्दू किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष से जुड़ी भाषा है, लेकिन 1870 तक हिन्दू ऐसा मानने लगे कि अरबी-फारसी लिपि में लिखी जाने वाली भाषा उनकी अपनी भाषा नहीं है।

एक आधुनिक भाषा की ओर

आधुनिक हिन्दी को रूप प्रदान करने में दो संस्थाओं ने केन्द्रीय भूमिका निभायी : नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद। नागरी प्रचारिणी सभा का गठन 1893 में हुआ और नागरी लिपि का प्रचार-प्रसार इसका प्रमुख कार्य था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ज्यादा राजनीति केंद्रित था। 1910 में बनारस में इसकी पहली सभा हुई, जिसकी अध्यक्षता पंडित मदन मोहन मालवीय ने की।

उनके एजेण्डा में दो विषय सबसे महत्त्वपूर्ण थे, हिन्दी को राजकीय या कार्यालयी भाषा के तौर पर लाना तथा दूसरा इसके विस्तार व प्रचार-प्रसार से शैक्षिक व सामाजिक लाभ प्राप्त करना। राजकीय भाषा का सम्बन्ध सीधे-सीधे राजनैतिक शक्ति से था, जिसे आगे के दस वर्षों में भाषायी उन्नयन द्वारा हासिल किया जाना था। यह सब 19वीं शती के मध्य में ब्रिटिश शिक्षा नीतियों का परिणाम था, जिससे दो प्रवृत्तियाँ सामने आयीं : पहला, नागरी लिपि का समर्थन एवं इसे संस्कृत से जोड़ना और दूसरा, अरबी-फारसी लिपि को वरीयता। अरबी-फारसी लिपि शहरी व अभिजात मुस्लिम वर्ग, कामगारों व कायस्थों से जुड़ी थी, जबकि दूसरी तरफ देवनागरी लिपि उच्च हिन्दू जातियों के बीच अधिक प्रचलित थी। अरबी-फारसी लिपि के प्रयोक्ताओं को औपनिवेशक शासन में उच्च स्थान प्राप्त था। 1879 में प्रशासन की ओर से एक अध्यादेश जारी हुआ, जिसमें दस रुपये से अधिक माहवारी वाली नौकरियों के लिए अरबी-फारसी जानना अनिवार्य कर दिया गया। नागरी लिपि के प्रयोक्ताओं ने पढ़े-लिखे लोगों को संगठित किया, जिनकी विनष्ट आकांक्षाओं के फलस्वरूप हिन्दी के लिए एक आन्दोलनात्मक शुरुआत हुई। उन्हें मैकडोनाल्ड के 1900 ई. के अध्यादेश के रूप में एक महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई जिसमें नागरी लिपि की अनुशंसा की गयी थी, किन्तु दुर्भाग्यवश गवर्नर जनरल ने वाइस गवर्नर के प्रस्ताव में संशोधन कर दिया और कार्यालयी शब्दावली में इसे 'फारसी व नागरी लिपि' की बजाय 'हिन्दी व उर्दू भाषा' कर दिया। इससे भाषाई फाँक गहरी हो गयी और यह कटु भाषाई संघर्ष के प्रतीक की तरह बन गया।

इस बिन्दु तक समस्या को समझना सरल है। एक नया पूर्व-अभिजात वर्ग, देवनागरी का प्रयोग करते हुए, इस लिपि को वैधता प्रदान करने की माँग करते हुए अपनी शक्ति को बढ़ाना चाहता था। दूसरी तरफ एक पुराना अभिजात वर्ग अपने विशेषाधिकारों को बचाए रखना चाहता था। अन्ततः सरकार कुछ खास तो नहीं कर सकती थी, शैक्षिक व्यवस्था में कुछ अनुमोदन शामिल करते हुए, प्रशासन तक पहुँच में पेश आने वाली अनियमितताओं को हटा सकती थी। अप्रत्याशित तौर पर, हालाँकि इसकी जो सम्भावना दिखती थी, वही परिणाम घटित हुआ। जो भाषा अभी तक पूरी तरह धर्म निरपेक्ष आशयों पर आधारित थी, न केवल इसलिए कि वह दो समुदायों के परस्पर सम्पर्क तथा अलग तरह की भाषाओं से प्राप्त शब्दों से जन्मी थी, बल्कि इसलिए भी कि वह अपनी उत्पत्ति और विस्तार दोनों में रोजमर्रा के प्रयोगों-उपयोगों पर निर्भर थी, धार्मिक समुदाय से जुड़ी हुई एक प्रतीक बन गयी।

और ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि दोनों विरोधी समूह सदैव अपने प्रतिपक्ष को 'अन्य' की तरह व्याख्यायित करते थे ताकि वे अपने दावों की विश्वसनीयता को मजबूत कर सकें और अपने तमाम उपलब्ध समर्थकों की संचित संख्या से एक ठोस समूह बना सकें। इस तरह प्रत्येक समूह को अपने को वास्तविक साझी भूमि से एक दूरी बनाए रखनी पड़ी और एक प्रतीकमाला एवं एक सामूहिक कल्पना संरचित

की थी, जो कि इन समूहों के लिए आवश्यक सांस्कृतिक विशिष्टतावाद के पक्ष में उपयोग में लाया जा सके।

इस अलगाववादी प्रक्रिया के प्रतिफल पहली बार 1930 में दिखने प्रारम्भ हुए जब उर्दू संरक्षण का मुद्दा मुस्लिम समुदाय की अन्य माँगों के बीच शामिल कर लिया गया। हालाँकि इस समुदाय में भाषा को लेकर बहुत तीखापन नहीं था, लेकिन इसके नेता इसके बड़े भाग को अलगाव की तरफ मोड़ रहे थे। उर्दू के कई लेखकों व कवियों ने भारत में मुस्लिम राष्ट्र के गठन को ऐतिहासिक नियति प्रदान की। उन्होंने पाकिस्तान की माँग के आन्दोलन को एक ऐतिहासिक राज्य की स्थापना के लिए किए जा रहे 'जेहाद' के तौर पर पेश किया। उन्होंने हिन्दुओं व मुसलमानों के बीच सामाजिक व सांस्कृतिक विभिन्नताओं को सूचीबद्ध करना शुरू किया व भारतीय मुस्लिम की विशेषताओं को पृथक-पृथक तत्त्वों के तौर पर व्याख्यायित करते हुए भारत के भीतर-बाहर इस्लामिक इतिहास को निरन्तापूर्वक महिमामंडित करने के प्रयास किये और अखिल-इस्लामबाद को गर्व की वस्तु समझने लगे। उन्होंने मुस्लिम जनता के समक्ष जिन्ना को आदर्शीकृत कर इस्लाम के संरक्षक एवं इस्लाम के प्रतीक के रूप में एक महान नेता की तरह पेश किया।

जैसा कि जिन्ना ने एक बार कहा था—अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय मुस्लिम भारत का शस्त्रागार है, लेकिन ऐसा 1930 के बाद ही सम्भव हो पाया जब 'अखिल भारतीय मुस्लिम छात्र संघ' का उदय हुआ। यह संगठन उर्दू व अंग्रेजी में एक पत्र प्रकाशित करता था, 'पाकिस्तान' की अवधारणा के प्रचार के लिए परचे बँटवाता था और मुस्लिम लीग के शीर्ष नेताओं को छात्र सभाओं को सम्बोधित करने के लिए बुलाता था। इस तरह सर सैयद का गढ़, जिन्ना के किले के रूप में परिवर्तित हो रहा था। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कई छात्र मुस्लिम लीग के सक्रिय सदस्य हो गए जिन्होंने देहातों का दौरा किया। उन्होंने गाँवों के लोगों से बातचीत की और उन्हें बताया कि कांग्रेस की प्राँतीय सरकारें मुस्लिम बच्चों को 'वन्दे मातरम' गाए जाने हेतु बाध्य कर रही है, जिसे हिन्दू राष्ट्रवाद और हिन्दू पुनर्जागरण के प्रतीक के रूप में माना जा रहा था। वे हिन्दी के बढ़ते वर्चस्व को उर्दू के लिए खतरनाक बताते थे एवं वे क्षेत्रीय प्रशासन व सिविल सेवाओं से मुसलमानों को अलग रखे जाने की बात करते थे।

उर्दू अखबारों में एक तरह की भावनात्मक सरोकरों से लेकर बौद्धिक व राजनैतिक असहमतियाँ तक व्यक्त कर रहे थे। अलीगढ़ का 'उर्दू-ए-मोअल्ला' लाहौर से 'जमींदार' कलकत्ता में 'अल-हिलाल' और दिल्ली में 'हमदर्द' उर्दू पत्रकारिता में मील का पत्थर है। खिलाफत आन्दोलन के दौरान एक 'उत्कर्ष' तक पहुँचने के बाद, उन्होंने बौद्धिक व राजनीतिक बहसों को बढ़ावा देते हुए मुस्लिम जनमत का निर्माण किया। उन्होंने कई तरह के विचार प्रस्तुत किए तथा अबुल कलाम आजाद के 'समेकित

राष्ट्रवाद' (अल-हिलाल) से लेकर जफर अली खान के 'पृथकतावाद' (जमींदार) तक इनके द्वारा प्रतिबिम्बित होते थे।

आजादी और इसके साथ विभाजन की त्रासद घटनाओं के दौरान उर्दू व्यावहारिक तोर पर मुस्लिम समुदाय की पहचान के साथ जुड़ गयी। मुस्लिम पृथकतावादियों ने इसे अपनाया, इस पहचान को परिपुष्ट किया और इसे पाकिस्तान की माँग के आन्दोलन में गोलबन्दी के लिए इस्तेमाल किया। हालाँकि काँग्रेस के 'समेकित राष्ट्रवाद' की अवधारणा के समर्थक इसका विराध करते रहे। उस समय भारत-पाकिस्तान में राष्ट्रभाषा की माँग एक मूल राष्ट्रीय आकांक्षा थी, जो उन सामान्य मान्यताओं के रंग में थी, जो तत्कालीन राष्ट्रीय राजनीति को स्वरूप प्रदान करती थीं। उन जटिलताओं के मूल्यांकन में एक किस्म की कमजोरी, जो जटिलताएँ एक बहुभाषायी समाज में राष्ट्रभाषा के प्रश्न के साथ जुड़ जाती है, आजादी से पहले के नेताओं के भाषणों तथा लेखन में देखी जा सकती हैं। उस समय शायद ही किसी नेता ने सामान्य भाषा, राष्ट्रभाषा व कार्यालयी भाषा में भेद किया हो और इन तीनों पदों को भिन्न-भिन्न तौर पर प्रयोग करने की ओर प्रवृत्त हुआ हो। बहरहाल, आजादी के बाद इस मुद्दे पर सटीकता की आवश्यकता महसूस की गयी। प्रशासन व आम आदमी के बीच संचार या संवाद के लिए प्रयुक्त भाषा को 'राजभाषा' के नाम से जाना गया, पूरे राज्य-क्षेत्र में सामान्य तौर पर बोली-समझी जाने वाली भाषा को 'समान्य भाषा' कहा गया एवं बहुलता वाले भाषिक समुदाय की बोली, जिसके लिए इस समूह के सदस्यों में एक पुरातन प्रेम व्याप्त हो, राष्ट्रभाषा के तौर पर जानी गयी। इस भेद के साथ ही राजनीतिक समाज में कार्यालयी व सामान्य भाषा में कोई मेल नहीं रह गया और इस तरह एक से अधिक भाषाएँ 'राष्ट्रीय' के तौर पर जानी जाने लगीं, जबकि उनमें से हरेक को 'कार्यालयी' या 'सरकारी' भाषा का दर्जा नहीं प्राप्त था।

राजभाषा बनाम समान्य भाषा

भारतीय नेताओं के समक्ष जब भाषा के वे मुद्दे आये, जिन पर सुनिश्चित सरकारी राय देने की आवश्यकता पड़ी तो इन्होनें सामान्य भाषा के बजाय राजभाषा की बात शुरू की। यह इस तथ्य को स्वीकार करने का प्रतिबिम्बिन था कि एक बहुभाषायी राष्ट्र में यही बुद्धि सम्मत है कि एक भाषा को राजभाषा की तरह स्थापित किया जाए। इस उम्मीद के साथ कि इसे व्यापक स्वीकृति मिले, न किसी ऐसी राष्ट्रभाषा का चयन किया जाए, जिसे सब समझ सकें और प्रयोग में ला सकें।

स्वतन्त्र भारत में, जटिल भाषायी परिस्थितियों व उर्दू पर 'मुस्लिमों की भाषा' का ठप्पा लगने के साथ ही, उर्दू का भविष्य अनिश्चित व अन्धकारमय दिखने लगा, क्योंकि यह भौगोलिक रूप से किसी अलग या विशिष्ट क्षेत्र की भाषा नहीं थी, इसके बावजूद कि धर्मनिरपेक्ष लोगों के द्वारा इसकी अनदेखी न की जाए।

भारतीय संविधान ने 15 भाषाओं को मान्यता प्रदान की लेकिन इसमें से मात्र

हिन्दी को ही 'सरकारी' या 'कार्यालयी' भाषा का दर्जा प्राप्त हुआ, जबकि हिन्दी मात्र तीस प्रतिशत जनसंख्या द्वारा ही बोली जाती थी। इसी कारण दक्षिण व पूर्वी भारत में इसका तीखा विरोध हुआ, किन्तु सरकार की राजनैतिक इच्छाशक्ति हिन्दी के पक्ष में थी, जिसके साथ-साथ ऐसी स्वयंसेवी संस्थाओं का नेटवर्क भी था, जिनका जन्म बतौर साहित्यिक संस्था हुआ था और जो योजनाबद्ध तरीके से हिन्दी को आगे बढ़ा रही थी।

इन हिन्दी संस्थाओं के सबसे सशक्त केन्द्र उत्तरप्रदेश में थे, जहाँ हिन्दी के अभिजातों के कार्यशील केन्द्र थे। इन संस्थाओं के अधिकांश सदस्यों ने हिन्दी के प्रचार को संस्कृतीकरण के तौर पर आगे बढ़ाया, जिसका अर्थ था भाषा पर से विदेशी प्रभाव अर्थात, उर्दू शब्दों व शैली के प्रभाव को पूरी तरह से समाप्त करना। जैसा कि एक उर्दू शोधकर्त्ता ने ठीक ही कहा है कि उर्दू को लगातार हिन्दी का ही एक भेद, एक विदेशी भाषा, मुस्लिमों की भाषा, साम्प्रदायिक द्वेष के औजार एवं भारतीय एकता के लिए शत्रु की तरह प्रस्तुत किया जा रहा था। ये विरोधाभासी बातें उर्दू के दमन के लिए एक ही स्वर में कही जा रही थी। यह भी सच था कि हिन्दी आन्दोलन के कई महत्त्वपूर्ण सदस्य प्रमुख हिन्दू संगठनों के भी समर्थक हो गये थे। यह भी एक कारण था जिसके चलते हिन्दी-उर्दू के बीच की प्रतिद्वन्द्विता राजनैतिक स्तर पर हिन्दू-मुस्लिम टकराव में बदल रही थी।

19वीं शताब्दी से, सामान्यतः उत्तर प्रदेश व उत्तरी भारत हिन्दू राजनीति व सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र बन गये, जो मुस्लिम प्रभाव का निरन्तर विरोध कर रहे थे, जबकि इन्हीं क्षेत्रों में बड़े मुस्लिम संगठनों के केन्द्र भी स्थित थे और मुस्लिम राष्ट्रवाद के सबसे प्रखर नेताओं की आधारभूमि भी यहीं थी। हिन्दू व मुस्लिम साहित्यिक संगठनों के पास इस राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता की गहन स्मृति है और हिन्दू-मुस्लिम विभेद को मूर्त रूप प्रदान करने में उनका गहरा योगदान है। इस सबसे मुस्लिमों को समाज की मुख्यधारा में शमूलत में बड़ी समस्याएँ आयीं और यह धीरे-धीरे तब और मुश्किल होता गया, जब दोनों भाषाओं के आपसी प्रभाव को मिटाया जाने लगा व दोनों भाषाओं के लिए उनके प्रभाव-स्रोत निश्चित कर दिए गये—हिन्दी के लिए 'संस्कृत' व उर्दू के लिए 'फारसी'। भाषा के इस शास्त्रीयकरण से बोली जाने वाली भाषा व साहित्यिक भाषा के बीच तथा अभिजात वर्ग द्वारा बोली-समझी जाने वाली भाषा व आम जनसमूह द्वारा बोली-समझी जाने वाली भाषा में अन्तर तेजी से बढ़ता चला गया।

कई राष्ट्रीय नेताओं जैसे—गाँधी नेहरू और आजाद ने इस स्थिति में सुधार के अनेक प्रयास किये और इस विचार को प्रचारित किया कि हिन्दी हिन्दुस्तानी भाषा ही है, जिसे वे हिन्दी व उर्दू का सम्मिश्रण मानते थे व जिसे पूरे उत्तर भारत में समान्य तौर पर आम लोगों द्वारा समझा जाता था। नेहरू व्यक्तिगत तौर पर उर्दू कविताओं व गद्य के प्रशंसक थे तथा आनन्द नारायण मुल्ला, सज्जाद जहीर, जोश मलीहाबादी फिराक गोरखपुरी और फैज अहमद फैज जैसे कई उर्दू साहित्यकारों के

मित्र थे। इस दौरान उन्होंने गाँधी के अनुकरण कर हिन्दी-उर्दू विवाद की आग में पानी छिड़कने की कोशिश की और मुख्यधारा में मुस्लिम समागम की राह के इस रोड़े को हटाने की हर सम्भव कोशिश की। नेहरू यह नहीं समझ पा रहे थे कि क्यों हिन्दी की स्थिति एक कार्यालयी भाषा के तौर पर स्थापित थी और उर्दू क्यों नहीं इसके समकक्ष थी, हिन्दी आन्दोलन के कट्टरपंथी मीर और गालिब की भाषा के दमन में इतने सजग क्यों थे। उन्होंने यह सवाल टण्डन, पन्त, गोविन्ददास, सम्पूर्णानन्द, कमलापति त्रिपाठी, रविशंकर और के एम.मुंशी के सामने रखा जो काँग्रेस में हिन्दू राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करते थे और मुस्लिम विरासत के प्रति किसी भी सकारात्मक प्रयास के सख्त खिलाफ थे, जिसमें 'हिन्दुस्तानी' भी शामिल थी। ये 'हिन्दुस्तानी' को छद्मवेशी उर्दू की तरह प्रस्तुत करते थे और मुस्लिम भाषा को अनिवार्यतः पाकिस्तान आन्दोलन के साथ चिन्हित करते थे।

मुस्लिम नेता भारत की कार्यालयी भाषा के तौर पर हिन्दी से कोई विरोध नहीं रखते थे, लेकिन इतना जरूर चाहते थे कि उर्दू को उन क्षेत्रों में दूसरी भाषा के रूप मे मान्यता प्रदान की जाए, जहाँ यह हिन्दुओं व मुसलमानों—दोनों द्वारा बोली जाती है किन्तु गैर समझौतावादी हिन्दू राष्ट्रवादियों, जैसे कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन (उ.प्र.) के सदस्यों को इतना भी मंजूर नहीं था और वे लगातार नेहरू के उस प्रस्ताव का सख्त विरोध कर रहे थे, जिसमें उन्होंने 'राष्ट्रभाषा' में उर्दू भाषा व लिपि को शामिल करते हुए उसके विस्तार की बात कहीं थी।

इस तरह हिन्दुस्तानी की बजाय हिन्दी का ही भारत की सरकारी व कार्यालयी भाषा के तौर पर मान्यता मिली। उ.प्र. माध्यमिक व उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने निर्णय लिया कि 1953 के बाद से परीक्षाएँ सिर्फ नागरी लिपि में ही लिखी जाएंगी। 1954 में काँग्रेस की कार्यकारी समिति ने यह सिफारिश रखी कि हिन्दी सभी विद्यालयों व विश्वविद्यालयों में अनिवार्य कर दी जाए। इसी दौरान उर्दू के खिलाफ अत्यन्त उत्तेजक व सक्रिय आन्दोलन चलाए जाने लगे, गोया कि उर्दू एक खतरनाक शत्रु हो। जल्दी ही ये अभियान तेजी से शहरों मे फैलने लगे। उ.प्र. व बिहार की सरकारों ने उर्दू माध्यम के स्कूलों को फंड जारी करना बन्द कर दिया और युवतर पीढ़ी को इस भाषा में पढ़ने-लिखने के प्रति बुरी तरह हतोत्साहित किया।

नेहरू काँग्रेसशासित प्रदेशों में इस स्थिति से अत्यन्त आहत हुए, क्योंकि वे जानते थे कि उर्दूभाषियों के प्रति यह अन्याय राष्ट्रीय एकता के लिए खतरनाक है। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के मुस्लिम सदस्यों मे जाकिर हुसैन उन लोगों के प्रतिनिधि थे, जो धर्म निरपेक्ष बौद्धिकता के वाहक थे। वे समेकित राष्ट्रवाद के हिमायती थे और 1920 में स्थापित जामिया मिलिया विश्वविद्यालय के निर्माण में प्रेरक व्यक्तित्व थे। उन्होंने राजनैतिक स्तर पर उर्दू के संरक्षण के लिए वे सब प्रयास किये जो राजनैतिक मजबूरियों के भीतर सम्भव था। वे मुस्लिम लीग और मुस्लिम जनमत से अलग कर दिये गये थे, जब वे शिक्षा के लिए काँग्रेस द्वारा बनाई गयी वर्धा कमेटी के अध्यक्ष

थे। उन्होंने एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके बारे में अधिकांश मुसलमानों की राय थी कि यह शिक्षा नीति हिन्दू पुनर्जागरण के पक्ष मे झुकी हुई है। एक निष्ठावान राष्ट्रवादी की तरह उन्होंने समेकित भारत की आशा व उम्मीद के साथ एकाकार कर लिया था और उन्होंने देश को औपनिवेशिक गुलामी की जंजीरों से मुक्त कराने में अपनी समस्त शक्ति झोंक दी। उनके विचार राष्ट्रीय एकता की धुरी पर घूमते थे और उन्होंने राष्ट्र विभाजन का सख्त विरोध किया। साम्प्रदायिक टकराव के उन्माद के चरम काल में वे नेहरू व जिन्ना को नवम्बर, 1946 में एक ही मंच पर लेकर आये और उन्हें चेताया कि यह 'आग' एक पावन भूमि पर जल रही है... ईश्वर के लिए साथ बैठकर इस साम्प्रदायिक नफरत की आग बुझाने का यत्न करो, यह समय ऐसा सवाल खड़ा करने का नहीं है कि इन परिस्थितियों के लिए कौन जिम्मेदार है? यह अग्नि दिन-प्रतिदिन प्रचण्ड हो रही है; भगवान के लिए सभ्य जीवन के आधारों को इस देश में नष्ट मत होने दो।

उन्होंने राष्ट्रवादी व धर्मनिरपेक्ष बिन्दुओं पर मुस्लिमों के स्वतन्त्र भारत में एकीकरण की आवश्यकता को अभिव्यक्त किया, लेकिन उन्होंने मुस्लिम अल्पसंख्यकों के द्वारा अपने सांस्कृतिक संरक्षण के अधिकार को भी नहीं छोड़ा। हुसैन ने इसका पुरजोर विरोध किया कि कोई एक संस्कृति दूसरी संस्कृति से ऊँची हो सकती है। उन्होंने हर संस्कृति को आदर दिया और सहिष्णुता के सिद्धान्त का समर्थन किया। हुसैन मानते थे कि विभिन्न विविधताएँ मिलकर एक ऐसी समेकित संस्कृति व मुक्त समाज को विकसित कर सकती हैं, जो प्रत्येक धर्म, जाति, वर्ग, मानसिकता व जीवनशैली को आत्मसात कर सकने में सक्षम होगी, बशर्ते वे सार्वजनीन सामाजिक कल्याण के पक्ष में हों। जहाँ तक मुस्लिमों का प्रश्न है, जाकिर हुसैन का विचार था कि भारतीय मुसलमान अपने देश को साथी हमवतनों की तरह ही प्यार करते हैं, लेकिन वे अपनी सांस्कृतिक पहचान पूरी तरह खो देना भी नहीं स्वीकार कर सकते। वे अच्छे भारतीय के साथ-साथ सच्चे मुसलमान भी बने रहना चाहते हैं।

मुस्लिम दृष्टि

उर्दू के संरक्षण व प्रोत्साहन प्रदान करने के प्रति जाकिर हुसैन के प्रयासों में उनकी एक खुली व बहुसांस्कृतिक समाज के निर्माण की दृष्टि की तरह देखा जाना चाहिए, जिसमें मुस्लिमों को भी शामिल होना था। 1948 से 1956 के दौरान अंजुमन-तारीकी उर्दू (हिन्द) के अध्यक्ष थे तथा वे अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर भी चुने गये थे, जहाँ वे विरोध की भट्टी को शान्त करने के लिए सरकार द्वारा नहीं नियुक्त किए गये थे, बल्कि वे यूनिवर्सिटी कोर्ट द्वारा इस उम्मीद से चुने गये थे कि जामिया की तरह अलीगढ़ भी मुस्लिम एकीकरण के लिए कार्य कर सकता है। इन पदों पर रहते हुए उन्होंने मुस्लिमों की बेचैनी का शमन और आश्वस्ति की आवश्यकता के लिए कार्य किया और 1952 में संविधान के अनुच्छेद 347 के अन्तर्गत

उर्दू को उत्तरप्रदेश की दूसरी कार्यालयी भाषा बनाने के लिए एक हस्ताक्षर अभियान चलाया। अनुच्छेद 347 (किसी राज्य की जनसंख्या के एक आनुपातिक भाग द्वारा बोली जाने वाली भाषा से जुड़ी विशेष व्यवस्था) के अनुसार, "किसी माँग के अनुसार, यदि राष्ट्रपति सन्तुष्ट हो कि राज्य की कुल जनसंख्या का एक वास्तविक अनुपात स्वयं द्वारा बोली जाने वाली भाषा को प्रयोग करने के लिए मान्यता प्रदान किए जाने की इच्छा रखता है तो वे उस भाषा को भी कार्यालयी भाषा के तौर पर पूरे राज्य में मान्यता प्रदान किए जाने अथवा किसी क्षेत्र विशेष व विशेष मकसदों के लिए प्रयोग करने हेतु जैसा वे निर्दिष्ट करें, तो वे इस बारे में निर्देश जारी कर सकते हैं।" संविधान के इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति को सम्बोधित एक याचिका के समर्थन में उनके द्वारा चलाए गये हस्ताक्षर अभियान को बड़ी सफलता मिली, जिसमें उर्दू को बचाने की बात कही गयी थी। इस सन्दर्भ में एक प्रतिनिधिमण्डल भारत के राष्ट्रपति से मिला और इस मामले में उनसे हस्तक्षेप की दरख्वास्त की। जाकिर साहब ने ने 15 फरवरी, 1954 को डॉ. राजेन्द प्रसाद से मिलने के लिए गये एक प्रतिनिधि मण्डल की स्वयं अगुवाई की लेकिन उससे कोई हल न निकल सका, क्योंकि जनगणना की रिपोर्टों को तोड़-मोड़कर प्रस्तुत किया गया था, जिसमें उर्दू भाषियों की भाषा को 'हिन्दी' ही बताया गया।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के उपकुलपति के तौर पर हुसैन ने वे सभी सम्भव कदम उठाए जिससे वे यह सन्देश सम्प्रेषित कर पाते कि अलीगढ़ बदल चुका है, कि इसने स्वयं को भली-भाँति मुख्यधारा में शामिल कर ली है और यह भी कि इसके पास भारतीय संस्कृति में योगदान के लिए बहुत कुछ अलग व विशिष्ट है, लेकिन उनके काम को व्यापक तौर पर स्वीकार नहीं किया गया और इसके पीछे वे लोग थे, जो चारों तरफ ये अफवाहें फैला रहे थे कि जाकिर हुसैन एक 'बाहरी' आदमी है और सरकार द्वारा अलीगढ़ की तथाकथित 'शुद्धि' के लिए नियुक्त किये गये हैं। इसलिए जब अलगढ़ मुस्लिम वि.वि. एक्ट में संशोधन का वक्त आया तो पूरा समुदाय व्यर्थ ही उत्तेजित हो उठा कि विश्वविद्यालय इससे अपनी अल्मपसंख्यक विशिष्टता व पहचान खो देगा। उर्दू प्रेस ने मुस्लिम भावनाओं को दो मुद्दों पर खासतौर पर उत्तेजित किया। पहला यह कि धार्मिक शिक्षण अब विश्वविद्यालय में अनिवार्य नहीं रह जाएगा और दूसरा यह कि यूनिवर्सिटी कोर्ट अब गैर-मुसलमानों के लिए भी पूरी तरह से खोल दिया जाएगा। उर्दू प्रेस यह नहीं समझ सका कि संशोधन का विरोध करके वे अलीगढ़ की निष्ठा के प्रति बहुसंख्यकों की शंका को पुनर्जीवित कर रहे हैं और साथ-साथ मौलाना आजाद और जाकिर हुसैन के उन सभी प्रयासों को जोखिम में डाल रहे हैं जिसके द्वारा वे विश्वविद्यालय को मुस्लिम युवकों की उच्च शिक्षा के मकसद के लिए तैयार कर रहे हैं और उसे इस समुदाय में सामाजिक बदलाव का प्रतिनिधि बनाना चाहते हैं।

इस पूरे विवाद को सुलझाने में असमर्थता महसूस करने के बाद जाकिर हुसैन ने अपने इस्तीफे की पेशकश की, जो कि सितम्बर, 1956 में मंजूर कर लिया गया। यूनेस्को के लिए गए एक भारतीय प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य की भूमिका निभाने के बाद 6 जुलाई, 1957 को वे बिहार के राज्यपाल बने। उनके इन कर्तव्यों में यह भी शामिल था कि उन्हें नयी दिल्ली के सांस्कृतिक राजदूत के तौर पर काम करना है। उन्होंने अपने भाषणों व वक्तव्यों में हिन्दी के आधिकाधिक शब्दों का प्रयोग करना शुरू कर दिया, जिससे उर्दू प्रेस बड़ी क्षुब्ध हुई। वे केवल ऐसा शब्दकोश चाहते थे जिसे सब समझ सकें, किन्तु राजनीति की तरह की भाषा, जो जमीन और भाषा को बाँट रही थी, लोगों को भी दो समूहों में बाँट रही थी।

उर्दू के प्रति जाकिर हुसैन का दृष्टिकोण 27 नवम्बर, 1959 को उर्दू रिसर्च इंस्टीट्यूट में दिए गये वक्तव्य से पूर्णतः स्पष्ट होता है। उन्होंने कहा, ''मुझे लगता है कि यह भाषा (उर्दू) उस नयी जिन्दगी को पुष्पित होने की उद्घोषणा करती है, जिसकी हम भारतीय स्वतन्त्र भारत के वर्तमान में आकांक्षा करते है... बहुआयामी व विविधि तत्त्वों को एक साँझी संस्कृति का हिस्सा बनाने की उत्कठा, जैसा कि गंगा व यमुना मिलकर एक बलशाली धारा बनाती हैं... उर्दू किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष की भाषा न ही है, नहीं यह किसी सरकार द्वारा ही थोपी गयी है, और न ही इसे किसी विशिष्ट उद्देश्य हेतु कृत्रिम तरीके से बनाया गया है। यह आम लोगों की भाषा है... यह उन सन्तों और फकीरों की भाषा है, जिन्होंने बड़ी निर्भीकता से उस उत्कट प्रेम को अभिव्यक्त किया, जो उनके दिलों में सभी के लिए समान रूप से व्याप्त था। अतः उर्दू प्रेम व लगाव की भाषा है, सहिष्णुता की भाषा है, अच्छाई के साथ संलाप की भाषा है। चूंकि उर्दू किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है और इसे बोलने व समझने वाले लोग पूरे देश में मौजूद हैं, इसलिए यह राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने के लिए सभी सम्भव साधनों में से श्रेष्ठतम साधन है। एक ऐसी भाषा, जिसमें आर्यसमाज का पूरा साहित्य हमें उपलब्ध है, एक ऐसी भाषा, जिसे इसाइयों ने अपने धार्मिक लक्ष्यों को पूरा करने के लिए प्रयोग किया। इसलिए सिर्फ मुस्लिम भाषा के तौर पर इससे संकीर्णता पैदा करना न तो ईमानदारी होगी, न ही बुद्धिमत्ता।''

दुर्भाग्यवश इस तरह के विचार, हिन्दू व मुस्लिम पुनरूत्थानवाद की स्थितियों के खिलाफ गये। उर्दू का संरक्षण विभाजन के बाद राजनैतिक मसला हो गया। हिन्दी-उर्दू का सवाल अनिवार्यतः इसकी आर्थिक प्रकृति के बावजूद, चूँकि यह हिन्दी पट्टी में नौकरियों के सवाल से जुड़ा था, एक सांस्कृतिक व धार्मिक मुद्दा बन गया, जिसके इर्द-गिर्द सामुदायिक नीतियाँ बनने लगीं। मुस्लिम पहचान के शक्तिशाली प्रतीक के रूप में उर्दू हिन्दू राष्ट्रवादियों और उनके हिन्दू पुनर्जागरण आन्दोलनों का निशाना बन गयी। इसके साथ-साथ उत्तर भारत के उर्दू प्रवक्ताओं ने प्रमुखतः पढ़े-लिखे शहरी व 'अशराफ' समूह के मुसलमानों ने इस हिन्दू आक्रमण को अपनी पहचान मिटाने

के साक्ष्य के तौर पर लिया। उर्दू का निषेध वस्तुतः भारतीय संस्कृति में इस्लाम के अवदान को खारिज करना था और इसे पूरी तरह विशिष्ट हिन्दूवादी बनाना था।

एक नीचे लुढ़कती भाषा

उर्दू का विकास एवं उसकी प्रखर रचनात्मक क्षमता आजादी के बाद दबा दी गयी। प्रशासन में इसका उपयोग पूरी तरह से बन्द हो गया, केवल उ.प्र. व बिहार के कुछ जिले ही इसका अपवाद रहे, जहाँ कुछ न्यायालय और पुलिस जिला मुख्यालय में यह कुछ सरकारी अनुदान प्राप्त अकादमियों के सहारे बड़ी मुश्किल से बची रही। दरअसल कुछ प्राधिकरणों ने, जो व्यवहारिक तौर पर एक ही रहे, दो भाषिक समुदायों के बीच बढ़ते विशाल अन्तर को लेकर चिन्तित थे, दोहरी नीति अपनायी। उस निम्न मध्यवर्ग को शान्त करने के लिए, जिसका अस्तित्व उर्दू संस्कृति के प्रचार से सम्बद्ध था, उन्होंने कुछ वित्तपोषित संस्थान बना दिये। अनुदानों व छात्रवृत्तियों पर आधारित ऐसी व्यवस्था बनाई गयी, जिससे वे अपनी साहित्यिक सामग्री को प्रकाशित करा सकें और ये संस्थाएँ वित्तीय सहायता जारी कर सकें।

दूसरी तरफ जिसका महत्त्व अधिक है, शिक्षा माध्यम के रूप में उर्दू लगभग पूरी समाप्त हो गयी। यह बमुश्किल केवल आम आदमी के निजी व्यवहार की भाषा रह गयी और सार्वजनिक व्यवहार में आम लोगों के एक छोटे दायरे में ही सीमित होकर रह गयी। साथ ही उस बहुत छोटे हिस्से तक भी जिसका 'साहित्य' से सम्बन्ध था। शहरी व निम्नमध्यवर्गीय माहौल में, जहाँ समाजिक क्रियाशीलता व सांस्कृतिक संचालन में परिवार की भूमिका दिन-प्रतिदिन घटती चली जा रही थी और स्कूल व दफ्तर (कार्यस्थल) निर्धारक कारक बनते जा रहे थे। एक ऐसी भाषा में साहित्यिक उत्पादन, जो कि परिवार-केन्द्रित थी, दिन-ब-दिन जटिल होने की तरफ जाती है और हाशिये पर भी आ लुढ़कती।

बुनियादी सवाल संख्या का नहीं है, क्योंकि उन लोगों की संख्या बढ़ रही थी जो उर्दू को अपनी मातृभाषा के तौर पर घोषित कर रहे थे। उर्दू बोलनेवाले, जिनमें 99.9% लोग मुसलमान थे—मुख्यतः अशिक्षित व अनपढ़ थे और जिनकी शिक्षा तक पहुँच थी भी, वे अपनी मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा पाने के अधिकार से वंचित थे। युवा पीढ़ी में उर्दू साहित्य की बड़े स्तर पर अनदेखी का यह मूल कारण था, जिससे कि एक भय पैदा होता था कि मुख्यधारा में जुड़ने का अर्थ कहीं भाषायी समरूपीकरण तो नहीं है। जो अभिभावक अपने बच्चों को मातृभाषा मे पढ़ाना चाहते थे, उनके पास उन्हें मदरसों में भेजने के सिवा कोई अन्य विकल्प नहीं बचा। मुस्लिम स्कूलों व कॉलेजों में उन राज्यों में भी जहाँ उर्दू बोलने वालों की सघन आबादी थी, उर्दू शिक्षा का माध्यम नहीं बन पाया।

संविधान के अनुच्छेद 30 के अन्तर्गत मुस्लिम समुदाय द्वारा स्थापित किए गये अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों में से अधिकांश गैर-मयारी स्तर के थे, खासकर

उ.प्र. व बिहार में। ऐसी जानकारी भारत सेवा ट्रस्ट, नयी दिल्ली की रिपोर्टों से एकत्रित तथ्यों से मिलती है। उर्दू का धार्मिक व्याख्याताओं द्वारा सिखाई गयी आडम्बरपूर्ण उर्दू ही मानदंड बन गयी और उसने उस प्राचीन उर्दू का सफाया कर दिया, जिसने भारत की मिली-जुली संस्कृति व विरासत में अपना अमूल्य योगदान दिया था। इस उर्दू के द्वारा निर्मित बुद्धिजीवी वर्ग की नयी पीढ़ी उप्रयात उन अनुकूलित उर्दू विद्वानों से मिलकर बनी थी, जिनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उन्हें खतरनाक तरीके से कट्टरपंथी इस्लाम की तरफ ले जाता था।

अनुत्साही शैक्षिक मानदंड

स्वतन्त्र भारत में उर्दू शिक्षा को वह स्तर नहीं प्राप्त को सका, जो प्रिंट मीडिया के लिए उच्च मानदंड की माँग करने वाला पाठकवर्ग तैयार कर पाता। इस तरह उर्दू प्रेस का यह निम्न स्तर स्वातंत्र्योत्तर भारत में मुस्लिम संवेदनाओं को उचित रूप देने की रचनात्मक भूमिका निभाने में असफल रहा, यह असफल रहा सबसे बड़े अल्पसंख्यक समुदाय के एक धर्मनिरपेक्ष देश में सम्मिलित होने की चुनौती का सामना करने लायक बनाने के अर्थ में भी। इस अवांछित भ्रष्ट व्यूह को नष्ट होना मुश्किल है, क्योंकि उर्दू पत्रकारिता पाठकों में एक भावुक व कहर दृष्टिकोण जगाने की दृष्टि से ग्रस्त है। उत्तर भारत के कुछ राज्यों में, विशेषकर उत्तर प्रदेश में मुस्लिमों की नयी पीढ़ी उर्दू से अच्छी तरह वाकिफ नहीं थी, इसलिए शैक्षिक तौर पर पिछड़े हुए मुस्लिमों ही, जो विभाजन के बाद भारत में ही रह गये थे और थोड़ी बहुत उर्दू जानते थे, उर्दू अखबारों के पाठक थे। उर्दू अखबार बहुधा मुस्लिम राजनेताओं से जुड़े होते थे जो सदैव उत्तर भारतीय मुसलमानों में एक संकीर्ण मानसिकता को पुष्ट करने की राजनैतिक तिकड़ियों में ही व्यस्त रहते थे। बहरहाल, अधिकांश उर्दू अखबारों में उप-सम्पादकों का ऐसा समूह होता था, जिससे उर्दू व हिन्दी की कामचलाऊ जानकारी ही होती थी। आमतौर पर वे अँग्रेजी नहीं बोल पाते थे और धार्मिक शिक्षण संस्थानों से शिक्षा प्राप्त किए थे। उन्हें बहुत कम वेतन प्राप्त होता था। सौभाग्यवश, उर्दू पत्रकारिता की स्थिति उन भाषा क्षेत्रों में कुछ बेहतर थी, जहाँ मुस्लिम अपने क्षेत्रीय लोकव्यवहार को साझा करते थे और उर्दू के प्रति भावनात्मक रुख की बजाय व्यावहारिक नजरिया रखते थे।

उपर्युक्त तमाम बिन्दुओं ने इस विचार को पुख्ता किया है कि उर्दू-हिन्दी विवाद का समाधान व्यावहारिक मुक्तमना एवं एकीकरण के नजरिए के साथ किया जा सकता है, जैसा कि जाकिर हुसैन जैसे दूरदर्शी नेताओं के द्वारा सुझाया गया था। तब कहीं जाकर उर्दू मुस्लिम समुदाय में प्रारम्भिक शिक्षा हेतु हिन्दी का मूल प्रतिस्पर्धी विषय बनकर उभर सकती है और तभी युवा भारतीय मुस्लिमों में उर्दू के प्रति उपेक्षा भाव में कमी आ सकती है एवं इस स्थिति को संविधान के अनुच्छेद 350-ए 'मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना' को लागू करने के साथ ही पाया जा सकता

है, जो कि इस बात का प्रावधान करता है कि यह प्रत्येक राज्य एवं उसके अधीन कार्य करने वाले सभी स्थानीय प्राधिकरणों का कर्तव्य होगा कि वह निवास करने वाले भाषायी अल्पसंख्यक समुदायों के छोटे बच्चों की प्राथमिक शिक्षा उनकी स्वयं की मातृभाषा में प्रदान करने का प्रावधान करेंगे एवं राष्ट्रपति, जैसा कि वे उचित समझते हों, राज्यों को इन प्रावधानों की व्यवस्था लागू किए जाने के सम्बन्ध में उपयुक्त निर्देश जारी कर सकते हैं। इस हेतु उन तमाम उर्दूभाषी विद्वानों एवं राजनीतिज्ञों को यह साबित करना होगा कि किस तरह उनकी मातृभाषा भारतीय संस्कृति एवं समाज में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। उक्त कार्यभार आत्मदया या परनिर्भरता के सहारे अच्छे से पूरा नहीं किया जा सकता। यदि मुस्लिम धर्मावलम्बी अपने बच्चों को कुरान परायाण हेतु शिक्षा दे सकते हैं तो अपने बच्चों को उर्दू भी पढ़ा सकते हैं। यहाँ पर उन्हें बच्चों की प्राथमिक शिक्षा एवं इसे उनकी मातृभाषा में ही उपलब्ध कराने हेतु अनिवार्यतः क्रियाशील होना पड़ेगा, जो कि दुर्भाग्यवश उन हिन्दी भाषी क्षेत्रों में अब तक सम्भव नहीं हो पाया है, जहाँ जाकिर हुसैन ने उर्दू को क्षेत्रीय भाषा के रूप में स्थापित करने के तमाम प्रयास किये।

उर्दू के संरक्षण के लिए यह आवश्यक है कि उन लोगों द्वारा पूर्वाग्रह छोड़े जाएँ, जो यह मानते हैं कि उर्दू का अध्ययन भारतीय राष्ट्रीय अस्मिता के साथ विश्वासघात करने के बराबर है, जिसे वे अनिवार्यतः ब्राह्मणवादी रूप में कल्पित करते हैं, लेकिन मुस्लिम साम्प्रदायिकता से भी संघर्ष की आवश्यसकता है, जिसने उर्दू भाषा के मुद्दे को राज्य के साथ समझौते के लिए औजार की तरह इस्तेमाल किया। स्वतन्त्र भारत में उर्दू की सामाजिक व राजकीय स्थिति को सिर्फ मुसलमानों के सवाल की तरह नहीं देखा जाना चाहिए।

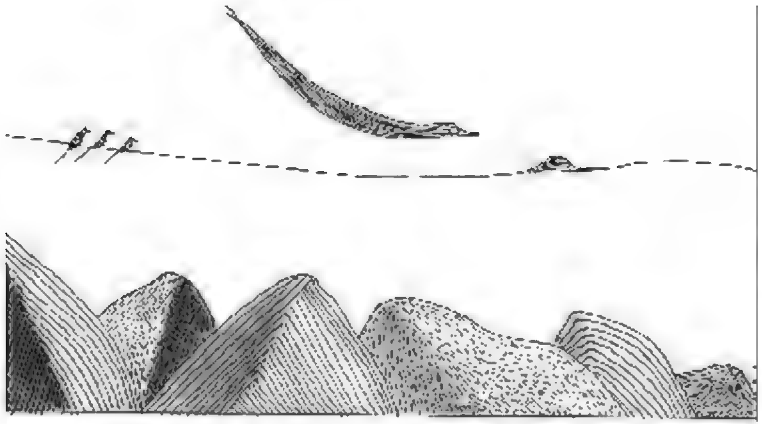
यह सच है उर्दू मुस्लिम अल्पसंख्यक की मुख्यभाषा है, परन्तु यह भी सच है कि ऐतिहासिक रूप से यह कोई ऐसी नहीं है, जो सिर्फ मुसलमानों के साथ जन्मना जुड़ी हो और उर्दू को भारतीय संस्कृति के एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार्य बनाने के लिए, यह तत्त्व पूर्व-निर्धारक है कि इसे धर्म निरपेक्ष भारत के समेकित संस्कृति में वह भूमिका प्रदान की जाए, जिसके लिए वह पूरी तरह से योग्य है।

अनुवाद–मनोज कुमार झा

(अतहर फारूकी द्वारा सम्पादित किताब 'रिडिफाइनिंग उर्दू पॉलिटिक्स इन इंडिया' से साभार)

❑

अरुण कुमार



बोली बनाम भाषा की राजनीति

बोलियों का तन्त्र कसा जा रहा है, नये भाषिक राज्य के साथ कोई नया राज्य बने तो वहाँ भोजपुरी सम्मेलन, मैथिली सम्मेलन, आदिवासी भाषाओं का सम्मेलन तय इसके पीछे मंशा प्रशासन पर पकड़ मजबूत करने की होती है। लोग यह भूलने लगे हैं या उनके ज़हन से भाषावार प्रान्तों के गठन की भावना धीरे-धीरे मिटती जा रही है। भाषावार प्रान्तों के गठन की भावना धीरे-धीरे मिटती जा रही है। भाषावार प्रान्तों के गठन के पीछे एक उद्देश्य ब्रिटिश राज्य की प्रेसिडेंसी को तोड़ना था। दूसरा उद्देश्य भारत की प्रमुख भाषाओं, जिसमें हिन्दी या हिन्दी प्रदेश की समस्त बोलियाँ नहीं आती हैं, के आधार पर प्रान्तों का गठन करना था। बंगाल की सम्पर्क भाषा बंगला है, लेकिन बिहार की सम्पर्क भाषा मैथिली, मगही और भोजपुरी नहीं है, वह भाषा हिन्दी है। मैथिली, मगही, भोजपुरी, बुन्देली, अवधी, छत्तीसगढ़ी बघेल आदि हिन्दी की बोलियाँ हैं, कह लें हिन्दी प्रदेश की बोलियाँ हैं। उस बोली के बोलेने वाले अपनी बोली को भाषा माने, यह स्वागत योग्य है, लेकिन यह मानना होगा कि न पूरे उत्तर प्रदेश में अवधी बोली जाती है, न पूरे झारखण्ड में बँगला या मुण्डारी। झारखण्ड के नक्शे पर देखें, बँगला का एक सुनिश्चित इलाका है जैसे बिहार में मैथिली का बोलियों का तन्त्र इतना कसा है कि कुछ लेखक भी कहते हैं कि वे मैथिली वाले हैं, भोजपुरी वाले हैं, राजस्थानी वाले हैं। उन्हें 'हिन्दीवाला' कोई न कहे।

ध्यान रहे कि पिछले दो-तीन वर्षों से राजस्थान में राजस्थानी बनाम हिन्दी का आन्दोलन चल रहा है। झारखंड में कभी बँगला तो कभी मैथिली। पहले जब मेला लगता था तो उसके साथ देशी संसाधनों के मेले शामिल होते थे। स्वतन्त्रता के पहले कांग्रेस के अधिवेशनों में हथकरघा और कुटीर उद्योग के मेले लगते थे। वहाँ मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद को परास्त करना था। अब के मेले में अपनी पहचान, अपने अलग अस्तित्त्व की माँग प्रबल होती है। पहले के मेले में बंगाल और हिन्दी प्रदेश को जोड़ने वाली कड़ियाँ प्रधान होती थीं। अब के मेले मैं वो कड़ियाँ खोजने से कहीं मिल जाती हैं।

हिन्दी के कुछ लेखक भाषावार प्रान्तों के गठन को ग़लत मानते हैं। उनके अनुसार इस कारण कलकत्ता में भोजपुरी समाज, मैथिली समाज, अवधी समाज को पनपने का मौका मिला है। बंगालियों में एक तबका भद्रजनों का आया जो बँगला की स्वतन्त्रता पहचान के लिए बेचैन था। कुछ-कुछ स्थिति ब्रिटिश राज के भारत जैसी बनती जा रही है। एक दौर था जब लघु राष्ट्रीयता के रूप में बँगला की या बंगाल की चर्चा होने लगी थी। 1910 के हिन्दी साहित्य सम्मेलन (इलाहाबाद) के प्रथम अधिवेशन (काशी) में शारदा चरण मित्र ने इस पर सहमति जतायी थी कि बँगला के विशाल और समृद्ध साहित्य होने के बावजूद वह पूरे देश की सम्पर्क भाषा नहीं है। शारदा चरण मित्र कलकत्ता के उच्च न्यायालय में न्यायाधीश थे। उन्होंने एक लिपि विस्तार परिषद का गठन किया था। अपने भाषण में मित्र ने कहा था कि महाराष्ट्र, गुजरात और उड़ीसा की भाषाओं में परस्पर पार्थक्य वस्तुतः कुछ नहीं है। और विशेषकर हिन्दी के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह बात 1910 की है जब बंगाल के बहुत बड़े बौद्धिक चिन्तामणि घोष इलाहाबाद से हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' निकालते थे। ये शब्द शारदा चरण मित्र जी के हैं, "हिन्दी की उन्नति और प्रचार का यथार्थ अर्थ भारत की जातीय उन्नति है।" हाल के दिनों सम्पादक पंकज गौतम (सबके दावेदार/आजमगढ़) को बोलियों को भाषा का दर्जा दिलाने का 'बदरंग सपना' का अहसास हुआ। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि हिन्दी की अधिकांश लघु पत्रिकाओं में हिन्दी प्रदेश की आन्तरिक एकता के दरकते जाने की चिन्ता थोड़े अनुपात में प्रकट हुई है। हिन्दी के बड़े समाचारपत्र इसे लेकर बहुत चिन्तित नहीं हैं। पंकज गौतम की चिन्ता और हाल के घटना-क्रम से हिन्दी प्रदेश में बोलियों के तन्त्र में निहित वो शक्तियाँ सक्रिय हो गयी हैं। जो 'हिन्दी बनाम बोलियाँ' का कृत्रिम युद्ध छेड़कर अन्ततः अंग्रेजी के वर्चस्व को बढ़ाने में लगी हैं हिन्दी को खतरा बंगला 'तमल' असमी आदि भाषाओं से उतना नहीं है जितना हिन्दी प्रदेश की बोलियों से है। खतरा है नहीं, इसे खतरे का रूप दिया जा रहा है।

सवाल है कि अगर भाषावार प्रान्तों को आधार न माना जाए तो दूसरा कौन आधार हो सकता है प्रान्तों के गठन का। हिन्दी प्रदेश की एक विशेषता इसकी द्विभाषिकता है, कह लें त्रिभाषिकता भी। बिहार का बाशिन्दा मैथिली, मगही और

भोजपुरी समझ-बोल लेता है। झारखंड के निवासी इन तीनों भाषाओं को न बोल पाते हों, समझ जरूर लेते हैं। उत्तर प्रदेश में अवधी और ब्रज का भी यही हाल है। बदोली और बुन्देली वाले ब्रज और अवधी आसानी से समझ-बोल लेते हैं। ऑस्ट्रिक और द्रविड़ भाषा परिवार की बनावट आर्य भाषा परिवार से भिन्न जरूर है। झारखण्ड में ऑस्ट्रिक और द्रविड़ परिवार की भाषाओं की आर्य भाषा परिवार से घुलनशीलता का पर्याप्त कारण है, सम्मिलित आवासिता जहाँ आदिवासी और ग़ैर आदिवासी एक साथ रह रहे हों, वहाँ भाषाओं की बनावट में अन्तर के बावजूद शब्दों की समानता तो रहेगी ही। मुण्डारी और सन्थाली भाषी हिन्दी भली-भाँति समझते और लिखते हैं। अब अगर कोई आन्दोलन मुण्डारी और सन्थाली को अलग समाज समझने के लिए आन्दोलन करे तो इसका असर पूरे हिन्दी समाज पर पड़ेगा। क्षेत्रीय दलों ने अपनी सुविधा और सहूलियत के हिसाब से अपने लिए कुनबा ज़रूर बनाया है। फलस्वरूप हिन्दी प्रदेश की त्रिभाषिकता खतरे में पड़ी है। अब मैथिलीभाषी भोजपुरी क्यों पढ़ें और बोलें, भोजपुरी वाले मगही क्यों पढ़ें और बोलें? झारखण्ड बनने से जनजातियों को कितना लाभ मिला है, यह बहस का विषय है, परन्तु झारखण्ड में तीन भाषा परिवारों की संगत, जो कई वर्षों से चली आ रही थी, उस पर हमले ज़रूर हुए हैं। यह हमला क्षेत्रीय दलों की ओर से हुआ है। वे स्वयं को अपनी इस स्थिति में ज़रूर ले आये हैं कि किसी राष्ट्रीय राजनैतिक दल का काम उनके बिना चल ही नहीं सके। इसका गहरा प्रभाव हिन्दी प्रदेश पर पड़ा है। अब राजस्थानी हिन्दी को निशाना बनाएँ, मैथिली वाले हिन्दी को निशाना बनाएँ, ऐसे में विभिन्न प्रदेशों को जोड़ने वाली कड़ी अपने आप टूटेगी। क्या अच्छा हो कि मीराबाई राजस्थान में हों और विद्यापति मिथिला में कैद हो जाएँ। इस स्थिति से भारत में साम्राज्यवाद मजबूत होगा।

साम्राज्यवाद का एक लक्षण बैंकों के विस्तार के साथ कुछ घरानों में अधिकाधिक पूँजी के कैद हो जाने का होता है। अखबार कहता है कि अमुक भारतीय दुनिया के दस अमीरों में आ गया हे। इससे भारत का नाम क्या होगा? कहा जाए कि भारत का पूँजी निर्यात अमुक और चन्द भारतीयों में कैद हो जाता है। इस पूरे उपक्रम को सुनिश्चित परिणाम तक पहुँचाने में क्षेत्रवाद और सम्प्रदायवाद की बड़ी भूमिका होती है। कभी भाषा और बोली का भेद खड़ा कर तो कभी भाषावार प्रान्तों के आगे आगे प्रश्न खड़ा कर आज यह काम हो रहा है यह विदित है कि ग्यारह राज्यों का हिन्दी प्रदेश पूँजी-निर्यात की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसलिए यहाँ हिन्दी-बनाम बोलियों का युद्ध रचा जा रहा है। मैथिली राजस्थानी और दूसरी बोलियों को तथाकथित अहसास है कि हिन्दी खड़ी-बोली से आयी है। दिल्ली की खड़ी बोली से हिन्दी का विकास हुआ है। यह अहसास नये प्रान्तों के गठन के पीछे भी है। उनके मुताबिक हिन्दी अगर बोलियों से ही आगे बढ़ी है तो क्यों न ये बोलियाँ हिन्दी का पल्ला झाड़कर खुद को भाषा के रूप में स्थापित कर लें। इसके लिए जरूरी

है, नये प्रान्तों का गठन। फिर उसके साथ भाषाओं की पारस्परिक स्पर्द्धा। जैसा कि झारखण्ड में हो रहा है। मैथिली, भोजपुरी, सन्थाली, बँगला सभी आपस में लड़-भिड़ रहे हैं। बाहर से कुछ दिखता नहीं, लेकिन अन्दर-ही-अन्दर प्रशासन तन्त्र पर पकड़ मजबूत करने की होड़ लगी हुई है। इसलिए लोग खुद को मैथिली और भोजपुरी वाला तो कहते हैं, लेकिन 'हिन्दीवाला' कहने में सकुचाते हैं, बल्कि कहना नहीं चाहते हैं। लघु राष्ट्रीयता के रूप में बोलियों का गणतन्त्र हिन्दी प्रदेश पर हावी होता जा रहा है। हिन्दी प्रदेश पर एक हमला अहिन्दी भाषियों का भी रहा है। दूसरा और ज्यादा तेज हमला प्रदेश की बोलियों का हो रहा है। हिन्दी प्रदेश के नेता इस हमले में पूरी तरह शरीक हैं।

अक्सर यह शिकायत है कि हिन्दी इलाके का पूँजीपति वर्ग बड़ी पूँजी का खतरा नहीं लेता है। बड़ी पूँजी को उद्योग में लगाने पर बड़ा बाजार बनता है। बोलियों का अन्तर कम होता है। शब्दों का भंडार समृद्ध होता है। यहाँ तक कि वाक्य संरचना भी बदलती है। दिल्ली को खड़ी बोली का 'जा रियाँ' 'खा रियाँ' यों ही 'जा रहा' और 'खा रहा' में नहीं बदला है। वह दरअसल पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी की बोलियों का असर है। ग़ालिब के यहाँ 'याँ' का चलन है याँ कि वही काफिर सनम निकले। जिस समय की चर्चा है, वह समाज हिन्दी प्रदेश के अपने संसाधनों को अधिक से अधिक सम्पन्न और विकसित करने का था। शेखावटी (राजस्थान) से घनश्याम दास बिड़ला आए तो बम्बई से जमशेदजी टाटा बिहार आए।

यद्यपि स्वतन्त्रता आन्दोलन में बिड़ला की अपेक्षा टाटा या टाटा घराने की भूमिका बहुत कम थी, फिर भी, हिन्दी प्रदेश में पूँजीपतियों ने संसाधनों को कमोबेश सम्पन्न और विकसित किया। ध्यातव्य है कि जिन इलाकों के राजा-महाराजा अपने यहाँ उद्योग नहीं लगा सके या पूँजी को विस्तार देने का खतरा मोल नहीं लिया, वहाँ क्षेत्रवाद को पनपने की सम्भावना भी जोर पकड़ी। जैसे उत्तर बिहार के उद्योगों में महाराजा, दरभंगा की पूँजी बहुत लगी थी। चीनी मिलों को छोड़ दिया जाए तो उत्तर बिहार में बड़े उद्योग नगण्य थे। यहाँ मैथिली बनाम हिन्दी का जोर था जिसके पीछे मुख्य कारण था कि महाराजा दरभंगा किसानों के विद्रोह को ठंडा करना चाहते थे। अवधेश प्रधान की पुस्तिका (स्वामी सहजानन्द सरस्वती और किसान आन्दोलन संवेद, नवम्बर, 2009) में एक सन्दर्भ सहजानन्द जी का अनुभव है, ''महाराजा दरभंगा की जमींदारी में मैथिल ब्राह्मण और राजा अमावाँ की जमींदारी में भूमिहार ब्राह्मण सबसे ज्यादा दुखिया और पीड़ित हैं। शेरघाटी के पहाड़ी इलाके (गया) में बाराचट्टी थाने के कुछ मुसलमान ने मेरे पास इस बात की शिकायत रो-रोकर की कि मुसलमान जमींदार रमजान के दिनों में भी हमसे जबर्दस्ती काम करवाता है।''

महाराजा दरभंगा के रक्षार्थ मैथिली महासंघ बना (1890), उनके रक्षार्थ मैथिली खड़ी हुई। एक तरह से मैथिली पहचान मुकर्रर हुई। उसी दौर में बंगाल में भी बँगला बंगाली समुदाय के भद्रजनों की पहचान बनी थी। भाषा जाति विशेष के रक्षार्थ भी

खड़ी होती है और तभी उसकी एक मुकम्मिल पहचान तय की जाती है। तभी बोली पीछे छूट जाती है और अक्सर विशिष्ट जन अपनी बोली को भाषा मानने लगते हैं। मैथिली और बँगला के केन्द्रों में एक फर्क सांस्कृतिक सुधार को लेकर था। बंगाल में सांस्कृतिक सुधार का उत्कर्ष मिलता है, लेकिन मैथिली के केन्द्र दरभंगा, सांस्कृतिक सुधार बाद में आया। आर्यसमाज सक्रिय हुआ, लेकिन वहाँ भी महाराजा दरभंगा के मन्दिर-निर्माण के अभियान से अन्ततः शक्ति पीठ के बतौर मूर्ति पूजा को ही बढ़ावा मिला। इस रूप में मिथिला में सामन्तवाद की जड़ अधिक मजबूत थी। इसकी तुलना में भोजपुर 1857 का केन्द्र था। वहाँ सांस्कृतिक सुधार का आन्दोलन अधिक व्यापक था। यही स्थिति अवधी और ब्रजभाषा इलाके की थी। इसलिए इन्हें अपनी भाषा बहुत प्यारी थी। आज भी ब्रज के इलाके में कृष्ण-परम्परा अनेक उत्सवों में दिखाई देती है। मिथिला सीता की जन्म-स्थली है (सीतामढ़ी)। सीता का चरित्र रूढ़िपरस्त स्त्री का नहीं है। विद्रोही छवि है उसकी, जो छवि राधा की है। फिर भी। मिथिला के समाज पर सीता की छवि का प्रभाव बहुत व्यापक नहीं रहा है। कारण अनेक हैं। एक कारण इस इलाके में मजबूत सामन्ती व्यवस्था है, जिस कारण पर्दादारी को बढ़ावा मिला। स्त्री शिक्षा में यह इलाका भोजपुर की तुलना में पीछे रहा है। दरभंगा के जिला बनने (1875 ई.) के बाद इस पूरे इलाके में बृहत्तर सांस्कृतिक सुधार आन्दोलन कम हुए। मूर्ति पूजा का जोर इतना रहा कि रामचरितमानस की मिथिला कहीं और गुम हो गयी। विद्यापति का श्रृंगार साहित्य देखें, उससे उनके समय के समाज के खुलेपन का बोध जरूर होता है। स्वयं विद्यापति सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ खड़े थे, चाहे वो पर्दादारी हो या ओढ़ी हुई सामाजिक मर्यादा हो।

हिन्दी प्रदेश के किसी इलाके की बोली की पहचान हिन्दी भाषा से है। उससे अलग उसकी पहचान का मतलब है, समाज को रूढ़ियों की ओर ले जाना। भाषा विशेषकर सम्पर्क भाषा का प्रसार सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर होता है। अगर कोई हिन्दी न बोलने और मैथिली और बज्जिका (मैथिली की उपबोली) ही बोलने की कसम खा ले तो इससे उस समाज के धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियाँ मजबूत होंगी। मेरे एक मित्र आलोचक कमलानन्द झा ने मैथिली की लेखक-विभूति हरिमोहन झा के बहाने वर्तमान मिथिला के सन्दर्भ में लिखा है कि "धार्मिक प्रतीकों के विरुद्ध मन में विचार तक लाना पाप कर्म" समझा जाता है। सच भी है हरिमोहन झा की व्यंग्य रचना 'खट्टर ककाक तरंग' का नायक खट्टर काका अपने इलाके की सांस्कृतिक गिरावट को लेकर बहुत चिन्तित है। प्रो. कमलानन्द (समकालीन भारतीय साहित्य/09) ने लिखा है कि मैथिली भाषा और साहित्य को नवजागरण से जोड़ने का काम हरिमोहन झा ने ही किया था। लम्बे समय तक हरिमोहन जी मैथिली के विद्वानों के बीच उपेक्षित रहे। सन्तोषजनक यह है कि युवा आलोचक अपने लेख में मैथिली, उर्दू और हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में स्त्री-दुर्दशा को रेखांकित करते हैं—कन्यादान (मैथिली), सेवासदन (हिन्दी) और उमरावजान अदा (उर्दू)। इसी रूप

में मैथिली क्या हिन्दी प्रदेश की किसी भी भाषा की सांस्कृतिक परम्परा का विवेचन होना चाहिए। कोई ज़रूरी नहीं कि हर इलाके की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा सबसे ज्यादा प्रगतिशील हो ही। ऐसा होने पर भारत गुलाम ही नहीं होता। हिन्दी और अहिन्दी प्रदेश की भाषाओं के साहित्य-रूपों का विकास एक ही समय में नहीं हुआ है। डोगरी (जम्मू) उपन्यास-लेखन की शुरुआत 1960 के बाद हुई, तब तक बँगला, हिन्दी, पंजाबी आदि में उपन्यास-लेखन उत्कर्ष पर था। यह भी अचरज है कि इस भाषा में जब उपन्यास-लेखन शुरू हुआ तो बाढ़-सी आ गयी। इसके कई कारण हो सकते हैं। फिलहाल कहना यह कि सामन्ती जकड़बन्दी वाले इलाकों में पहचान का संकट पूँजीपरस्ती के कारण है। अनुत्पादक पूँजी जितनी बढ़ेगी, क्षेत्रीय पहचान के लिए 'रेस' उतनी ही तेज होगी। ऐसा औद्योगिक विकास से सम्पन्न इलाके में भी सम्भव है। महाराष्ट्र इसका उदाहरण है। जिस तरीके में 'आवारा पूँजी' जमा हो रही है, उसके कई उदाहरण मिलेंगे। एक नमूना 'क्रेडिट कार्ड' का है। छोटी-बड़ी कम्पनियाँ राष्ट्रीयकृत बैंकों के साथ मिलकर बैंकों के 'लोगों' के द्वारा पूँजी को बहुत कम समय में कई गुना कर लेती हैं। एक 'लोगो' है स्टेट बैंक का। क्रेडिट कार्ड है। मेरे पास एक कम्पनी के एजेंट (रवीन्द्र प्रताप/राँची) आये, मुझसे बोले कि मैं भी कायस्थ हूँ, आप भी कायस्थ हैं। आप मेरी कम्पनी का क्रेडिट कार्ड उपयोग में ला रहे हैं। आप पर एक लाख दस हजार बकाया है। चलिए आप पचीस हजार रुपए दे दीजिए। सब बकाया खत्म।

मैंने उनसे कहा कि चालीस हजार की खरीददारी पर पचहत्तर हजार दिया जा चुका है, मात्र दो वर्षों के अन्दर, फिर पचीस हजार क्यों? रवीन्द्र प्रताप जी बोले कि देखिए, आप भी बिहार के हैं, मैं भी बिहार का हूँ। मेरा विश्वास कायस्थों की भलाई करने में है। आगे बोले कि भाभीजी भोजपुरीभाषी हैं। मैं भी वही हूँ। मैंने स्पष्ट कहा कि पैसे के मामले में कोई जातिवाद और सम्प्रदायवाद नहीं। मैं घर में हिन्दी बोलता हूँ। यों मेरी मातृभाषा मैथिली है। फिर रवीन्द्र प्रताप जी रुककर बोले, "मैथिली बड़ा स्वीट लैंग्वेज है, वेरी स्वीट।" फिर मैंने स्पष्ट किया कि आपकी कम्पनी को मेरे वकील का पत्र गया है। फैसला कंज्यूमर फोरम में होगा। बड़े दुखी होकर गये रवीन्द्र जी। यह बोलते गये कि बिहारवासी होने का प्राउड है, आई हैव प्राउड। इसलिए बिहार वालों की मदद करता हूँ। आप हैं कि सुनने को तैयार नहीं। फिर एक बार बोले कि कायस्थ कायस्थ की मदद नहीं करेगा तो कौन करेगा। मैंने उन्हें रोका और पूछा कि अगर मैं मैथिल ब्राह्मण होता तो आप मेरे सामने पचास हजार का डिमांड रखते। रवीन्द्र प्रताप जी बोले, "बिहार के हैं न सर।" ये हैं 'आवारा पूँजी' का कमाल जो सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद सब को समेट कर चलती है।

हिन्दी प्रदेश में क्षेत्रवाद की सुविधा यह है कि कभी वह धर्मनिरपेक्ष रहता है तो कभी साम्प्रदायिक। आदिवासियों का संगठन दोनों स्थितियों में अपना सन्तुलन बनाने की ताक में रहता है। बड़े राष्ट्रीय दल उन्हें ढाल के रूप में इस्तेमाल करते

हैं। दोनों की परस्पर-निर्भरता है। झारखण्ड जनजातीय बहुल राज्य है। यहाँ के किसी पब्लिक स्कूल में जनजातीय भाषाओं की पढ़ाई नहीं होती है। सच यह है और इसे जनजातियों के सामाजिक और राजनैतिक संगठन भी मानते हैं कि कम-से-कम छठी जमात तक मातृभाषा में पढ़ाई होनी चाहिए। कहीं मातृभाषा का नामलेवा नहीं है। मुंडारी और सन्थाली गाँवों में सिमट गयी है और वहाँ के स्कूली बच्चों के लिए मुण्डारी, सन्थाली या दूसरी मातृभाषाओं के पढ़ाने की व्यवस्था नहीं है। बच्चे अपनी भाषा अपने परिवार में सीखते हैं। वह शिक्षा भी कुछ ही समय के लिए है। दादा-दादी, नाना-नानी के जाने के बाद नये माँ-बाप अपने बच्चों को हिन्दी सिखाने के भी काबिल नहीं होंगे। क्षेत्रवादी मातृभाषा चिल्लाते ज़रूर हैं, लेकिन अमल में लाने का जोखिम नहीं लेना चाहते हैं। यह एक कारण है कि वे भाषावार प्रान्तों के गठन का महत्त्व न खुद समझ पाते हैं और न दूसरों को समझा पाते हैं। एक ऐसी स्थिति बन सकती है कि जब वे हिन्दी और उसकी बोलियों का सम्बन्ध नहीं समझ पाएँ और एक दिन वे दरभंगा और राँची को भी अलग प्रान्त बनाने की माँग कर बैठें।

क्षेत्रवाद सम्प्रदायवाद का विकल्प नहीं, बल्कि पर्याय है। जो सम्प्रदायवाद का विरोध करते हैं, उसके खिलाफ आन्दोलन चलाते हैं, उन्हें क्षेत्रवाद के खिलाफ भी लामबन्द होना पड़ेगा। यह क्षेत्रवाद समाज की वर्ग-संरचना को और मजबूत बनाता है। अविकसित इलाके की सामाजिक संरचना में विशेष तबके के जोर को महत्त्व देने के लिए आन्दोलन होते हैं, जिसके फलस्वरूप वर्ण संरचना भले थोड़ी देर के लिए बदल जाए, वर्ग-संरचना यथावत बनी रहती है। उदयभान पांडेय की एक कहानी की चर्चा करना चाहूँगा। असम के इलाके में पहुँचा एक युवक पूरी तन्मयता से वहाँ (कार्बी आंगलांग) के एक युवक को लिखना सिखाता है, पढ़ना सिखाता है, गीत गाने का अभ्यास कराता है। आगे चलकर वह पूरे पूर्वांचल में आदिवासी गायक के बतौर लोकप्रिय हो जाता है। कुछ साल बाद वह आदिवासी कलाकार कहानीकार बना, वहाँ के किसी व्यापारी मन्त्री ने उसके कथा-संकलन का विमोचन किया। आदिवासी कलाकार और वह युवक प्रियंवद असम आन्दोलन में सक्रिय हुए। असम गणपरिषद की सरकार बनते ही प्रियंवद से उनकी दूरी बढ़ती गयी। एक बड़े व्यापारी की पैरवी से प्रियंवद का प्रिंसिपली से पत्ता कटा। कॉलेज की प्रबंधन-समिति में यह चर्चा हुई कि सवर्ण पढ़े-लिखे नेता हैं, फिर भी, 'राबड़ी देवी जैसी ग्वालिन को मुख्यमंत्री' बनाया गया है। यही लोकतन्त्र की विजय है। प्रियंवद सर को अपनी लड़की की शादी के लिए एक व्यापारी से कर्ज लेना पड़ा। प्रियंवद सर के लिए एक पहाड़िया आदिवासी की टिप्पणी थी कि उनकी ईमानदारी ही उनके लिए बाधक बनी। यह कहानी बहुत भावुक हो क्षेत्रीयता के विरोध में नहीं आती है।

कहानी बड़े ठिकाने से असम में व्यापारियों के बढ़ते वर्चस्व की निशानदेही करती है। ये व्यापारी जो न असम के लिए हैं और न आदिवासी समाज के लिए। ये अपने हित में क्षेत्रीयता को बढ़ावा देते हैं। कथाकार पांडेय ने लिखा है, ''बीसवीं

सदी के सातवें दशक में असम महालक्ष्मी का प्रवेश द्वार बन गया।'' क्षेत्रीय दल जिन सामाजिक और आर्थिक मुद्दों को लेकर उस क्षेत्र के निवासियों को लुभाते हैं, सरकार बनते ही वे मुद्दे गौण हो जाते हैं और पूरी सरकार उद्योग और व्यापार के लिए कठपुतली बनकर रह जाती है। इससे वर्ग संरचना क्या बदलेगी, बल्कि पहले से चले आ रहे सिस्टम को और ऊर्जा मिलती है। सवाल है, क्षेत्रीय दल सत्ता में आकर भी परिवर्तन क्यों नहीं ला पाते हैं? जवाब में ये कुछ कहेंगे। फिर वही राग, शासन बदल तो गया है, लेकिन कार्यपालिका में बैठे लोग बिल्कुल पुराने और बाहर के हैं। इसलिए वे कुछ नहीं कर पाते है और फिर उन्हें असमी अस्मिता, झारखंडी अस्मिता की याद दिलाई जाती है। अस्मिता के लिए लड़ो, भूखों मर कर भी। अस्मिता बड़ी चीज है, तमाम क्षेत्रीय दल इस पाठ का समय-असमय भुगतान करते हैं। 'सिस्टम' में कोई बदलाव नहीं, बल्कि एक नया अभिजात वर्ग पुराने के साथ गठजोड़ कर लेता है।

क्षेत्रीयता ने एक काम जरूर किया है, पूँजी से किसी को बेदखल करने के बजाय खुद पूँजी को अपने अधिकार में ले लिया है। जो पहले से चले आ रहे पूँजी के अधिकारी हैं, उनके साथ मैत्री हुई। फिर कौन किसको हटाएगा? सभी अपने-अपने इलाके के शेर। अस्मिता की बात इसलिए होती है कि इससे पूँजी पर पूर्व आधिपत्य और मजबूत होता है। विचार करें कि हिन्दी प्रदेश में जब ब्रिटिश राज का व्यापक विरोध हुआ, तो क्षेत्रीयता किनारे हो गयी, क्योंकि वहाँ सवाल था, अपने देशी-संसाधन को सम्पन्न करने का। आज जब क्षेत्रीयता हॉवी है, क्षेत्रीय दलों की साख मजबूत हुई है तो विदेशी संसाधन भी मजबूत हुए हैं। पॉलीथिन का बाजार बढ़ा है। बड़े-बड़े मॉल बन रहे है। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ खुदरा व्यापार में आगे आयी हैं। कहा जा रहा है कि किसान बिचौलियों को छोड़ खुद कम्पनियों को अपना उत्पाद बेच सकते हैं। अगर बिचौलिए इतने ही खराब हैं तो क्यों नहीं बड़ी कम्पनियाँ इन्हें अपने यहाँ रख लेती हैं? आखिर ये बिचौलिए कहाँ जाएँगे?

जिस दौर में साम्प्रदायिकता बढ़ी, उसका विरोध किसी क्षेत्रीय दल ने नहीं किया। सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर जो विरोध होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। चौहत्तर की सम्पूर्ण क्रान्ति से उपजे जनता दल से हिन्दी प्रदेश की श्रम-पूँजी धीरे-धीरे अनुत्पादक पूँजी में बदलती गयी है। वर्तमान साम्राज्यवाद का एक चरित्र है, अनुत्पादकता को बढ़ाना। जिसे हम वित्तीय पूँजी कहते हैं, बोलचाल में 'आवारा पूँजी' उस पर कब्जा करने के लिए सभी बेताब हैं। उन्हें पता है कि राष्ट्रीय दल अब इस पूँजी के प्रचार-प्रसार में लगे हैं, इसलिए क्षेत्रीयता भी इसी में है कि इस पूँजी से ज्यादा लाभ उठाया जाए। कहाँ पेड़ के पत्तों से प्लेट और थाली बन रही है? कहाँ जंगल को कटने से बचाया जा रहा है? जंगल कट रहे हैं। नदियों पर मालिकाना हक बढ़ रहा है, किसानों से ज़मीन ली जा रही है। शहरों पर बोझ बढ़ रहा है।

गाँव खाली हो रहे है। अब राष्ट्रीयता ज़्यादा खतरे में आ गयी है, क्योंकि लघु राष्ट्रीयता (सब नेशनलिज़्म) के बतौर छोटे-छोटे प्रान्तों की अस्मिता अपना खेल दिखाने लगी है।

हिन्दी प्रदेश की विविधता, अगर भाषिक स्तर पर देखें, तो एक से अधिक भाषा परिवारों की मौजूदगी में दिखती है। झारखंड में तीन भाषा परिवार हैं। उत्तर प्रदेश का गढ़वाल और कुमाऊं का क्षेत्र पहाड़ी भाषाओं का है। इन सबमें जनजातीय भाषाओं का अस्तित्त्व लगभग सभी राज्यों में है। इसदृष्टि से मुण्डारी भाषा परिवार का खासा विस्तार मिलता है। मुण्डारी ऑस्ट्रिक परिवार की भाषा है, जिसका विस्तार छत्तीसगढ़ तक मिलता है। इस भाषा में हिन्दी जैसा लचीलापन है। अंग्रेजी भाषा के शब्दों को पचाने और उसे अपने अनुरूप ढालने की क्षमता है। फारसी के शब्दों का चलन भी मुण्डारी भाषा परिवार के मिजाज से हुआ है। एक मानी में आर्य भाषा परिवार विशेषकर मैथिली, मगही और भोजपुरी से इसका साम्य इस रूप में है कि तत्समी शब्दों को अपनाते ऑस्ट्रिक परिवार की मुण्डारी आर्य भाषा परिवार की तरह रंग बदलती है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। हिन्दी प्रदेश में दोनों समाज फल-फूल रहे हैं, इसलिए शब्दों की अदला-बदली में एक किस्म का मिजाज मिलता है। इस विषय में पहले के भाषा वैज्ञानिकों के भाषा-वर्गीकरण से अब काम चलने वाला नहीं है। पहले विभक्ति रहित (देवस्य) और विभक्ति सहित (देवता के) आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण किया गया था। हिन्दी प्रदेश की भाषाओं के वर्गीकरण में यह आधार कमजोर पड़ गया है। संस्कृत की तरह मुण्डारी में भी तीन वचन हैं। इस भाषा में प्रत्यय और उपसर्ग लगाने का लचीलापन हिन्दी जैसा ही है। विदित है कि मुण्डा आर्य और द्रविड़ के पहले भारत आये थे। तमिल वाले तो अपनी भाषा को संस्कृत से भी पुराना मानते हैं। जब संस्कृत से हिन्दी निकली (अगर ऐसा है), तब तीन वचन नहीं रहे, विभक्तियाँ स्वतन्त्र हुई और भी कई परिवर्तन हुए, फिर भी हम संस्कृत को हिन्दी से जोड़ते हैं हिन्दी प्रदेश की बोलियों से जोड़ते हैं। हिन्दी प्रदेश में यही स्थिति हिन्दी प्रदेश के दूसरे भाषा परिवारों की है, इसलिए सन्थाली मुण्डारी आदि हिन्दी की बोलियाँ हैं।

हिन्दी प्रदेश का एक इलाका कश्मीर को माने तो कइयों को ऐतराज होगा। कारण यह कि कश्मीरी को कई विद्वान दरद परिवार की भाषा मानते हैं कश्मीरी विद्वान और प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ. ओंकार नाथ कौल (स्पोकन कश्मीरी : ए लैंग्वेज कोर्स) इसे रूप-रचना की दृष्टि से दरद परिवार की भाषा मानते हैं। दरद परिवार की भाषाएँ पाक अधिकृत कश्मीर से लेकर उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तक फैली हुई हैं और आर्य परिवार से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन समय में संस्कृत के विद्वान दरद परिवार को पैशाची प्राकृत से जोड़ते थे। 'दरद' का अर्थ है पर्वत (संस्कृत) और संस्कृत साहित्य में कश्मीर के निकटवर्ती क्षेत्र के लिए भी 'दरद' का प्रयोग मिलता है। कश्मीर को संस्कृत के काव्यशास्त्रियों का केन्द्र माना जाता है। कश्मीरी में हजारों शब्द सीधे-सीधे संस्कृत से आये हैं। कुछ लोग पैशाची को म्लेच्छ भी कहते

थे। शायद इस कारण अनार्य भाषा परिवार वाले इलाकों को हिन्दी प्रदेश न मानने का आग्रह रहा है। ऐसा है भी। आर्य और अनार्य के भेद के आनुवंशिक आधार का असर आर्य भाषा परिवार पर है, जिस कारण कोई खुद को मैथिली और राजस्थानी वाला कहलाना ज्यादा पसन्द करता है। हिन्दी प्रदेश की अवधारणा जिस नस्लवाद को तोड़ती है, पूँजीवादी स्तर पर ही सही, बड़ा बाजार खड़ा करती है, उससे टकराने वाली विचारधारा आर्यों की श्रेष्ठता या उन्हें श्रेष्ठ मानने की है। आज अगर हिन्दी प्रदेश के विभिन्न इलाकों में जातियों का सम्मेलन हो रहा है, भाषा और जाति के सम्बन्ध को पुष्ट करने वाले मेले लगाए जा रहे हैं तो उसके पीछे आर्य सम्बन्धी धारणा ही है। आर्यत्व के आधार पर भाषाओं के वर्गीकरण का यह नुकसान तो हुआ ही है। इसका विरोध जिन लोगों ने किया है, वे भी इसके शिकार हुए हैं यानी ब्राह्मणों का विरोध करके भी पुरोहित कर्म को तन्हा छोड़ देना। इसके सामन्ती रीति-रिवाज मजबूत हुए हैं।

हिन्दी प्रदेश की विविधता और कहें इसकी विशिष्टता इसके सीमांचल या बोर्डर इलाके में दिखेगी, जहाँ हिन्दी उन बोलियों के साथ एकाकार भी है। ऐसा नहीं है कि वह इलाका उसी बोली की सम्पर्कता में है। राजस्थान के सीमांचल का इलाका पाकिस्तान से सटा है, पाकिस्तान के मुल्तान से। प्राचीन सरस्वती के मार्ग का एक नगर है पत्तन मुनारा, जो मुल्तान के निकट है और अब यह पुरातात्त्विक स्थल है। इस इलाके की बोली सिरायकी है। भारत में इसे मुल्तानी भी कहते हैं। अबुल फ़ज़ल (आईने अकबरी) ने इसे मुल्तान कहा है। इसका एक नाम लहँदा भी है। यह पूरे पश्चिमी पंजाब की भाषा है। इसका एक हिस्सा राजस्थान में है। मेरे मित्र और कवि प्रेमचन्द गान्धी ने अपनी पाकिस्तान यात्रा के संस्मरण (मड़ई/बिलासपुर/2007) में सिरायकी बोली के इलाके का पूरा ब्यौरा दिया है। यह इलाका राजस्थानी रंग लिये हुए है। आश्चर्य यह कि अब भी सिरायकी के पाकिस्तान वाले क्षेत्र में इस बोली के बड़े कवि बाबा फरीद की ये पंक्तियाँ बड़ी प्रसिद्ध हैं, जिसमें राजस्थान के कई शहरों का ज़िक्र हुआ है, ''चूड़ा ला जैसलमेर दा सुहाग ला दे अजमेर दा/बिधवा बीकानेरी घिणसां, संजड़े खबड़े पैर दा॥'' प्रेमचन्द गान्धी इसी इलाके की एक चौपाल पर गये, जहाँ इन्हें बिल्कुल राजस्थान रंग का पूरा माहौल मिला। सिरायकी को पंजाबी परिवार में रख सकते हैं। दरद परिवार से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह दरद और आर्य भाषा परिवार का सेतु भी है। कहते हैं कि पाकिस्तान में इसके बोलने वालों की संख्या एक करोड़ से ऊपर है। भारत स्थित राजस्थान में भी इसकी अच्छी संख्या है। इस पूरे इलाके में हिन्दी बोली और समझी जाती है। वह चाहे पाकिस्तान का क्षेत्र हो या भारत का। पाकिस्तान स्थित पंजाब की विशिष्टता इसकी खड़ी बोली में दिखेगी। यह हिन्दी का क्षेत्र भले पाकिस्तान में हो, वहाँ उर्दू मिश्रित या कहें कि फ़ारसी रंग की हिन्दी बोली जाती हो, लेकिन यह प्रदेश हिन्दी प्रदेश से गहरी समानता लिए हुए है। यह ठीक है कि पंजाब पंजाबी का क्षेत्र है। यहाँ हिन्दी प्रदेश के दूसरे

इलाके की तरह विभिन्न बोलियाँ नहीं हैं। फिर भी, यहाँ हिन्दी सम्पर्क भाषा रही है यह तब से रही है जब हिन्दी राष्ट्रभाषा नहीं थी। अब पाकिस्तान स्थित सिरायकी बोली के क्षेत्र को हिन्दी प्रदेश न माने, उर्दू प्रदेश का हिस्सा तो मान सकते हैं।

हिन्दी प्रदेश की विशिष्टता एकल नहीं है। कई बोलियों का संसार है यहाँ। एक बोली के तन्त्र के आधार पर हिन्दी की रूप-रेखा नहीं बन सकती है। एक प्रश्न है, कैसे खड़ी बोली, दिल्ली की खड़ी बोली इतने बड़े देश की भाषा बन गयी? निश्चय ही इसमें बोलियों का योगदान है। इससे इनकार नहीं। हिन्दी में प्रयोग के पहले कोई रूप चाहे वह क्रियापद का रूप हो, दूसरी बोलियों में मिलते-जुलते रूप में भी प्रचलित रहा है। अलीगढ़ की हाबूड़ा जाति की बोली में **हुती** (थी) **हुतौ** (था), **गयौ** (गया) **रहूयौ** (रहा) जैसे प्रयोग मिलते हैं। यह सौ साल पहले की बात है, भारतेन्दु की समस्या उसके कुछ बाद। तब खड़ी बोली में एकरूपता नहीं आयी थी। भारतेन्दु के समय ग़ालित की कविताओं में **ता ते ती है** आदि के प्रयोग प्रचलित थे, बल्कि उनके पहले मीर तक़ी मीर की शायरी में ये प्रयोग मिलते हैं। बोली से भाषा केवल इस कारण नहीं बनती कि उस बोली के बोलने वाले अलग-अलग इलाके में फैल जाएँ। सम्पर्क और साहचर्य कितना है? हाबूड़ा जाति के लोग दिल्ली में भी बसे, लेकिन वहाँ वे खड़ी बोली बोलने लगे।

पंजाबी भाषी देश के हर कोने में मिलेंगे। वहाँ वे पंजाबी भाषी नहीं रह जाते हैं। कलकत्ता के मारवाड़ी भी बंगला बोलते हैं, परन्तु वे समझते हैं कि कलकत्ता की सामाजिक और आर्थिक संरचना में बंगालियों की तरह उनकी भी भूमिका है। अगर ऐसा न हो तो सब जगह लघु राष्ट्रीयता का सवाल खड़ा हो जाएगा। भाषा-परिवर्तन और विकास में एक प्रक्रिया अन्तर्मिलन (एसिमिलेशन) की होती है। जातियों का अन्तर्मिलन हो या न हो, बोलियों का होता है। दरभंगा में कायस्थ कायस्थ ही बने रहे और ब्राह्मण ब्राह्मण ही। बोलते तो मैथिली ही हैं। वहाँ के पंजाबी भी मैथिली बोलते हैं। पंजाबी बोलकर उनका कारोबार नहीं चल सकता है। बोली भाषा तब बनती है, जब कारोबार बड़ा होता है। खेती पर आधारित समाज में बोली के अनेक रूप होते हैं। जैसे ही खेती के उत्पाद दूसरे कारोबार में बदलते हैं, बोली का रूप भी बदलता है। किसान को ट्रैक्टर चाहिए तो उसे उद्योग को समझना होगा। भले वह ट्रैक्टर बनाने का तरीका न समझे, लेकिन ट्रैक्टर उद्योग उसके मनोजगत का एक हिस्सा ज़रूर होता है।

बोलियों और भाषाओं के मेले और युद्ध में अंग्रेजी का कहीं विरोध नहीं हो रहा है। मैथिली हो, राजस्थानी हो या बंगला, इन्हें हिन्दी से जितना विरोध है, अंग्रेजी से नहीं। जो अभिजात और शहरी मध्य वर्ग हिन्दी के विरोध में है, उन्हें पता है कि अंग्रेजी का विरोध करने से उनके बाल-बच्चों को नौकरी में परेशानी हो सकती है। आई. टी. सेक्टर, मैनेजमेंट सेक्टर और दूसरे कई क्षेत्र हैं, जहाँ अंग्रेजी का वर्चस्व है। विकासशील देशों में अंग्रेजी के प्रसार का एक चरण था, अहिन्दी भाषी क्षेत्रों

में हिन्दी के थोपने के आरोप का और अब दूसरा चरण आया है हिन्दी प्रदेश को तोड़ने का। इस काम में हिन्दी प्रदेश की बोलियाँ ढाल बनी हुई है। अचानक बोलियों का महत्त्व बढ़ गया, हिन्दी के विरोध में।

अंग्रेजी के प्रसार के पहले चरण में मातृ भाषाओं से पल्ला झाड़ने और अंग्रेजी को अपनाने का जोर था। बहुत पहले की बात है। 1962 में मैकरेरे विश्वविद्यालय (कम्पाला/डिगांडा) में एक सम्मेलन हुआ, जिसका शीर्षक था, 'अंग्रेजी में लिखनेवाले लेखकों का सम्मेलन।' जाहिर है कि इसमें अफ्रीकी भाषाओं में लिखने वाले लेखक अपने आप छँट गये। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले लेखक कोई बड़े लेखक नहीं थे। एक लेखक थे, न्गुगी वा थ्योंगो, जिनकी उस समय (1962) के दो कहानियाँ छपी थीं और दोनों अंग्रेजी में थी। दो में से एक कहानी 'दि रिटर्न' स्कूल की पत्रिका में छपी थी आगे चलकर थ्योंगो अफ्रीका के बहुत बड़े लेखक बने। उन्होंने अंग्रेजी की धज्जी उड़ाई। थ्योंगी केन्या के निवासी थे। केन्या के स्कूलों में अंग्रेजी बोलने की बाध्यता थी। जो छात्र गिकुयू (केन्या की भाषा) में बात करता, उसे कठोर दण्ड मिलता था। दण्ड था नंगी पीठ पर तीन से पाँच कोड़े। अंग्रेजी लिखने और बोलने वालों को पुरस्कृत किया जाता था। थोड़ी अंग्रेजी जानिये और पुरस्कार पाइए। वह समय 1952 का था, जब केन्या में आपातकाल लगा था। यह तो अविकसित देशों की बात है। पिछले कई वर्षों से विकासशील देशों में अमेरिका की किसी संस्था में भारत के लिए बिबिलियोग्राफी बनाने का काम चल रहा है। मेरे एक वरिष्ठ परिचित, जो पेशे से एक कॉलेज के प्राचार्य हैं, को अमेरिका से एक पत्र आया। पत्र का आशय था कि वे रसायन विज्ञान में अपनी उपलब्धि यानी पी. एच. डी. का ब्यौरा तथा अन्य विवरण भेजें। अमेरिका की संस्था अपनी बिबिलियोग्राफी में उन्हें प्रमुखता से छापेगी। मैंने राँची के अपने विज्ञान मित्रों से पूछा कि रसायन विज्ञान में अमुक प्राचार्य की क्या उपलब्धि है। उन लोगों ने बताया कि वे प्राचार्य रसायन में एम. एस सी. और पी. एच. डी. है। बस, समझिए यही उपलब्धि है। ये है औसत दर्जे के बुद्धिजीवी का महिमा मंडन। थ्योंगो ने खुद ही लिखा है (भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय स्मिता) कि उन्हें इस सम्मेलन में बुलाये जाने पर हैरानी हुई, क्योंकि तब तक वे मुकम्मिल लेखक भी नहीं हुए थे। उपलब्धि केवल यही थी कि उनकी दो कहानियाँ अंग्रेजी में आयी थी।

केन्या एक छोटा देश है। पचास के दशक में वहाँ की खदानों पर फ्रांस और ब्रिटेन का कब्जा था। उनके लिए अंग्रेजी को बढ़ावा देना औपनिवेशिक हित था। यह तभी सम्भव था जब वहाँ की मातृभाषा को कुचला जाता। केन्या में अंग्रेजी और फ्रेंच के माध्यम से यूरोप का बाजार समृद्ध हुआ। इसलिए जो संस्कृति विकसित हुई, गुलाम बनाने की संस्कृति, उसने केन्या को बहुत लूटा। 1962 में यूरोप को आवश्यकता पड़ी अंग्रेजी में अफ्रीका की पीड़ा लिखनेवालों को जमा करने की। मुल्कराज आनन्द अंग्रेजी के बड़े लेखक थे। उन्होंने अपना उपन्यास (अनटचेबल्स)

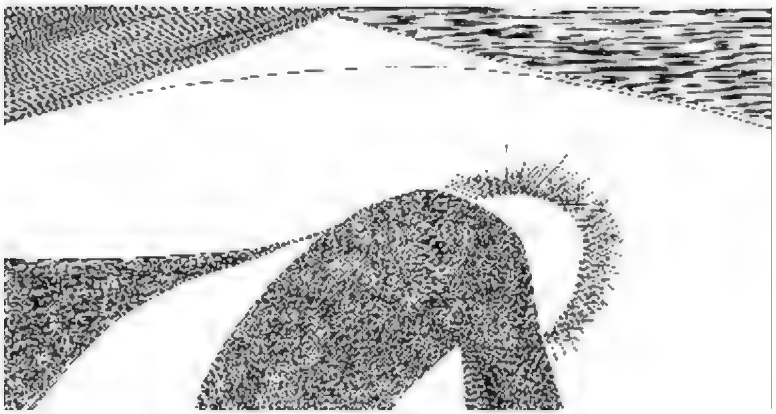
की पांडुलिपि महात्मा गाँधी को दी। गाँधीजी ने उन्हें हरिजन बस्ती में रहने को कहा। वे हरिजनों की बस्ती में रहे। 'अनटचेब्ल्स' दुबारा लिखा और वह अंग्रेजी का मानक उपन्यास बना। गाँधीजी स्वयं अंग्रेजी के बड़े लेखक थे। कहते हैं कि उनकी अंग्रेजी लन्दन की प्रकृति के बिल्कुल अनुकूल थी। गाँधीजी समझते थे कि जबतक हरिजनों की बस्ती में रहकर उनकी भाषा न जानी जाए, तब तक अछूतों पर कुछ भी लिखना बेईमानी है। अब केन्या के समाज की पीड़ा वहाँ की भाषा में प्रकट न होकर पहले अंग्रेजी में हो, यह कुछ ब्रिटिश भारत में अंग्रेजी में लिखे हिन्दी के शोध प्रबन्धों जैसा है। प्रसिद्ध इतिहासकार लाल बहादुर वर्मा का शोध प्रबन्ध फ्रेंच की राज्यक्रान्ति पर था। उन्होंने फ्रेंच भाषा सीखी थी। दूसरे प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. नुरुल हसन ने भारत में पुर्तगालियों के आक्रमण और उस समय के समाज पर शोधकार्य किया था। वे पुर्तगाली भाषा के जानकार थे।

वर्तमान पूँजी तन्त्र में संस्कृति का चरित्र सार्वभौमिक नहीं है। ऐसा होने पर पूँजी पर वर्चस्व खत्म होगा। इसलिए यह तन्त्र कई स्तरों पर भाषा और संस्कृति को बाँटने का काम करता है। आज के समय में दानव की तरह शहरों का विकास हो रहा है। अब गाँव शहर पर निर्भर होते जा रहे हैं। यह इसी तरह है जैसे अविकसित देश विकसित देशों पर निर्भर हो रहे हैं। गाँव से आबादी शहर की ओर आ रही है। अविकसित देशों की प्रतिभा विकसित देशों की ओर जा रही है। जब शहरों की भाषा अंग्रेजी हो रही हो, तो गाँवों में भी 'स्पोकन इग्लिश' का कोर्स चलाना जरूरी हो गया है। पश्चिम से जो पूँजी-निवेश हो रहा है, उसे पश्चिम देश पश्चिमी सभ्यता मानते हैं। क्या समझा जाए कि पश्चिम में मजदूर नहीं हैं, किसान नहीं हैं, उनकी समस्याएँ नहीं हैं। अमेरिका ने इराक को तोड़ा है, तो किसानों को भी तोड़ा है, अमेरिका के किसानों को तोड़ा है। किसानों के पैसे से, मजदूरों के पेसे से वहाँ की सरकार हथियार बनाती है। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान किसानों के पैसों से हथियार खरीदते है। इसलिए पश्चिम के पूँजी निवेश को केवल पश्चिम की संस्कृति नहीं समझें। पश्चिम भी यही चाहता है कि उसका पूँजी-निवेश पश्चिमी संस्कृति के साँचे में ही आए। लोग बराक ओबामा के देश के किसानों को सम्पन्न समझें। कई लोग कहते भी हैं कि अमेरिका में सब कुछ ठीक-ठाक है। उन्हें क्या पता कि वहाँ अश्वेतों की भी घनी बस्ती है, सुख-सुविधाओं से दूर। पश्चिम से जो भाषा आ रही है अंग्रेजी, उसकी ज़रूरत शेक्सपियर ओर वड्र्सवर्थ पढ़ने-पढ़ाने की नहीं है। वह 'बिजनेस अंग्रेजी' है। ध्यान रहे कि राजस्थानी जाननेवाले इस भाषा के लिए रोजगार पैदा करने पर जोर नहीं दे रहे हैं। मिथिला के हर स्कूल में मैथिली की पढ़ाई हो, जोर इस पर होना चाहिए। बाहर से जो अंग्रेजी दाँ माल खरीदने दरभंगा आएँ तो या हिन्दी में बात करे या मैथिली में। तब मिथिला का किसान अपने उत्पाद का महत्त्व भी समझेगा। जिसे हम और आप जनता की संस्कृति कहते हैं, उसे एक ऐसी भाषा चाहिए जिसमें उसकी पीड़ा प्रकट हो।

भाषाओं की अस्मिता से आशय आजादी के पहले हिन्दी के लेखकों को हिन्दी की अस्मिता की चिन्ता नहीं थी, जबकि हिन्दी साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ रही थी। यह चिन्ता गुजराती और बंगला को भी नहीं थी। गाँधी जी गुजराती थे। बिहार का चम्पारण उनके आन्दोलन का पहला प्रयोग-स्थल था। केशवचन्द्र सेन बंगाली थे। वे हिन्दी और दूसरे अहिन्दी प्रान्तों में अपने संगठन (ब्रह्म समाज) का विस्तार करने में लगे थे। बाल गंगाधर तिलक मराठी थे। हिन्दी इलाके के मजदूर आन्दोलन में सक्रिय थे। इन सबकी अस्मिता साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ने में थी। भारतीय उपमहाद्वीप (काबुल लाहौर आदि) में भी हिन्दी का प्रसार नेपथ्य से पश्चिमी पूँजी-निवेश के लिए चुनौती बना हुआ है। काबुल में हिन्दी का केन्द्र खुला है। इसे लेकर पश्चिमवालों को चिन्ता है। अस्मिता की रक्षा साम्राज्यवाद के खिलाफ हो और वह मैथिली, भोजपुरी और राजस्थानी से डील हो तो हिन्दी की ज़रूरत कहाँ है? बेशक वह स्वागत योग्य है।

❑

उर्मिला जैन



ज़ेबरा की धारियां-सफेद पर काली या काले पर सफेद

कार की पिछली सीट पर बैठी, मैंने जैसे ही खिड़की खोली, एक मोटा-ताजा बबून खिड़की में झपटा और सीट पर रखा ताजे सेब का बैग उठा कर भाग गया। मैं जोरों से चीखी। कुछ समझ पाती कि पल भर में यह सब हो गया। देखा, आसपास के पर्यटक इस दृश्य को कैमरे में कैद कर रहे थे। मैं तो अधमरी हो रही थी, जबकि उनके लिए यह एक मनोरंजक और अजीब घटना थी। दो-तीन कारें हमारी गाड़ी के पास आयीं और लोगों ने पूछा, 'आर यू आल राइट?' मेरे 'हां' कहने पर उन्होंने सन्तोष जाहिर किया। मैंने भी चैन की सांस ली कि मुझे कोई चोट या खरोंच नहीं आयी थी। बबून के झपटने का एकमात्र उद्देश्य था, सेब का बैग ले जाना, पर उसे पता कैसे चला कि कार में मेरे पास सेब का बैग रखा है, क्योंकि आसपास तो कोई बबून दिखा नहीं था। तब क्या बबून की घ्राण शक्ति इतनी तेज होती है कि 15-20 फुट दूर से उसे फलों की गन्ध मिल जाती है। यह मेरे लिए अब भी रहस्य ही बना हुआ है।

बेटे और पति ने बरजा कि इस घनघोर जंगल में कार की खिड़की नहीं खोलनी चाहिए थी। मैंने कहा कि जंगल का दृश्य थोड़ी और अच्छी तरह दिखे और कुछ स्नैप ले लूं, इसलिए ही पलभर को खिड़की खोली थी। यह सब घटित हो रहा था, दक्षिण अफ्रीका के विश्वविख्यात 'क्रूगर राष्ट्रीय उद्यान' में।

क्रूगर राष्ट्रीय उद्यान, दक्षिण अफ्रीका के पर्यटन का एक विवादास्पद संप्रतीक है। ज्यादातर पर्यटक अफ्रीका में ढेरों हाथी, शेर और हजारों की संख्या में अन्य पशुओं को घूमते-फिरते और चरते देखने आते हैं। ये सब यहां हैं। धरती का एक लम्बा हिस्सा, जो मोजाम्बिक की सीमा से प्रारम्भ होकर लिम्पु प्रान्त और पुमालांगा तक जाता है, 414 किलीमीटर लम्बा है यानी पूर्व में मोजाम्बिक की सीमा, उत्तर में जिम्बाब्वे की सीमा और क्रोकोडाइल रिवर इसकी दक्षिण सीमा पर है। इस उद्यान की स्थापना 1926 में हुई और क्षेत्रफल है 20 हजार वर्ग किलोमीटर। इसे 14 इको ज़ोन में बांटा गया है। हर क्षेत्र अलग प्रजाति के वन-जन्तुओं को आश्रय देता है। उद्यान की देख-रेख का जिम्मा 'साउथ अफ्रीकन नेशनल पार्क आर्गनाइज़ेशन' केजिम्मे है।

क्रूगर राष्ट्रीय उद्यान इस प्रकार बनाया गया है कि जहां चाहें तो खुद ड्राइव किया जा सकता है और खुद पकाया-खाया जा सकता है। हम लोग दोपहर के भोजन के समय क्रूगर पहुंचे और जौक सफारी लॉज में ठहरे। देखने में भले ही यह एक छोटा कॉटेज था, पर बहुत ही खूबसूरती के साथ और चार सितारा होटल की सुख-सुविधाओं से युक्त था। क्रूगर में नौ अलग-अलग दरवाजे हैं- नाम्बि, मैडलीन, फाबेनि, क्रोकोडाइल ब्रिज, क्रूगर ऑरपेन, फालाबोरबा, पुंडा मारिआ और पारफुरी। हम दक्षिण पश्चिम में स्थित नाम्बि दरवाजे से अन्दर पहुंचे थे।

इस उद्यान को नूतन माना जाए या आदिम, यह विवादास्पद है। कारण, इसमें या इसके आसपास लोग हजारों वर्षों से रहते आये हैं। 'सन हंटर-गैदरर्स' अपने निशान पेंटिंग और नक्काशी के रूप में छोड़ गये हैं। अब तक करीब 150 ऐसे स्थान मिल चुके हैं, साथ ही उद्यान में कई स्थानों पर कृषि संस्कृति के निशान भी मिले हैं। यहां पत्थर के महलों वाले राज्य भी थे, जहां चीनी मिट्टी, आभूषण और कपड़ों का व्यापार भी होता था।

वैसे सच्चाई और कल्पनाएं दोनों ही, आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से देख-रेख किए जाने वाले इस उद्यान के बारे में मिली जुली हैं। जो भी हो, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हाथीदांत, चमड़ा तथा सोना होने की अफवाहों के कारण गोरों का आगमन इस क्षेत्र में हुआ। वे इस क्षेत्र में जोखिम उठाकर घूमते रहे और उनका यहां सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप तेजी से जानवरों का घटना शुरू हुआ। भविष्य में जानवरों का शिकार न हो सके, इसके लिए तत्कालीन दक्षिण अफ्रीकी राष्ट्रपति पॉल क्रूगर ने ट्रांसवाल पार्लियामेंट पर दबाव डाला कि वन-जन्तुओं की सुरक्षा के लिए सुरक्षित क्षेत्र स्थापित किए जाएं। ये सुरक्षित क्षेत्र क्रूगर राष्ट्रीय उद्यान के रूप में विकसित हुए। बोअर युद्ध के फलस्वरूप बहुत तहस-नहस हुआ और उसके बाद अंग्रेजों ने 1902 में मेजर जेम्स स्टिवेन्सन हैमिल्टन को गेम-वार्डेन बनाया। स्टिवेन्सन हैमिल्टन ने चार दशकों तक उद्यान की सुविधाओं को उन्नत करने का प्रयास किया। फलस्वरूप इसमें जगह-जगह बेहद सुसज्जित, तरतीब से बने हुए कैम्प भी हैं। 'स्कुकुज़ा रेस्ट कैम्प' उद्यान के केन्द्र में स्थित है। इस मुख्य कैम्प में चित्रों तथा नक्शों द्वारा

क्रूगर उद्यान के विकास की पूरी कथा प्रदर्शित की गयी है। वहीं पर एक बड़ा-सा स्टोर भी है, जिसमें दैनिक-जीवन की हर चीज के साथ ही स्मृति चिन्ह आदि भी उचित मूल्य पर उपलब्ध हैं।

हमारे गाइड कुमालों ने इस वृतान्त में एक लज्जास्पद पक्ष जोड़ा। उसने बताया, ''स्टीवेन्सन हैमिल्टन अपने आपको प्रकृति का संरक्षक मानता था। 44 वर्षों तक उसकी सेवा के कारण, उसके नाम के साथ स्कुकुज़ा शब्द जोड़ दिया गया है। आप जानते हैं, 'स्कुकुज़ा' का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है, ऐसा आदमी, जो एकदम साफ कर डाले। उसने उत्तर से लेकर निचली घाटी तक खेती करने वाले सभी किसानों पर कर लगा दिया। अतः उन्हें अपनी भूमि छोड़कर हटना पड़ा और उनकी भूमि इस उद्यान में समाहित हो गयी, जिसे आज आप देख रहे हैं।''

इसी प्रकार स्टिवेन्सन हैमिल्टन रेलवे लाइन भी एक दूसरी कथा कहती है। 1912 में निर्मित इस लाइन से पर्यटकों को उद्यान तक लाया जाता था, लेकिन मलेरिया वाले इस क्षेत्र में हर 20 मीटर की ट्रैक के बाद एक मजदूर मर जाया करता था। क्रोकोडाइल नदी के ऊपर बना शानदार रेल पुल सन् 200 की बाढ़ में नष्ट हो गया और तब से यह परित्यक्त है।

क्रूगर उद्यान में 150 से अधिक प्रकार के स्तनपायी जानवर, चीता, तेंदुआ, शेर, चितकबरा हाइना, जंगली कुत्ता, गेंडा, ब्लू वाइल्ड बीस्ट, जंगली भैंसा, जेबरा, बुशबक, हिरण, हाथी जिराफ दरियाई घोड़ा, इम्पाला आदि हैं और 507 प्रकार के पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि भी हैं। अपने तीनों के भ्रमण में हम अधिकांश जानवरों को उनके प्राकृतिक निवास में देख पाये। हम कुछ भ्रमण स्वयं अपनी गाड़ी में करते थे और कुछ टूर ऑपरेटर के साथ। इस उद्यान में 300 से भी अधिक प्रकार के वृक्ष वनस्पतिज्ञानियों के लिए आकर्षण के केन्द्र हैं।

इसकी कुछ कहानियां 'फेयरी टेल' नामक एक पुस्तक में संग्रहीत हैं। कुछ एक से दूसरे को कहे जाने के कारण काफी परवर्तित होती रही हैं। एक सत्य कथा एक हाथी के बारे में है कि सम्भवतः पूरे अफ्रीका में उसके दांत इतने या सबसे लम्बे थे कि पानी पीने के लिए उन्हें दीवार पर टिकाना पड़ता था। 'राइनो' (दरियाई घोड़ा) के सन्दर्भ में 'काला' और 'सफेद' इन शब्दों का उसके रंगों से कुछ लेना-देना नहीं है। चरते हुए राइनों का चौड़ा सा मुंह होता है, अफ्रिकान्स भाषा में इस शब्द में 'व्हाइट' की ध्वनि रहती है और जिसके होठों पर वक्रता रहे, उसे 'ब्लैक' कहते हैं।

इस उद्यान में 254 जाने हुए सांस्कृतिक विरासत वाले स्थल हैं, इसमें लगभग 130 रिकार्डेड कला-स्थल भी हैं। इस बात के भी पर्याप्त उदाहरण हैं कि प्रागैतिहासिक आदमी भी अब से पचास हजार और एक लाख वर्ष पहले यहां भ्रमण किया करते थे।

पाषाणयुगीन मानवों निर्मित वस्तुएं एक लाख से तीस हजार वर्षों पहले की यहां मिली हैं। पाषाण युग के 300 से भी अधिक पुरातात्विक स्थल भी यहां पाये

गये हैं। नगुनि लोगों, यूरोपियन खोजियों तथा क्रूगर क्षेत्र में बसने वालों की भी ढेरों ऐतिहासिक कहानियाँ यहां प्रचलित हैं।

हम लोगों ने रात्रि में जानवरों को देखने के लिए एक खुला हुआ सफारी वाहन किराये पर लिया। उसमें हम छः यात्री थे। ड्राइवर बहुत सावधानी से गाड़ी चला रहा था।

सभी यात्रियों के हाथ में घूमने वाला प्रकाश देने वाली टार्च थीं। ड्राइवर उद्यान और वहां के बाशिन्दो के बारे में लगातार बताता जा रहा था। हमने प्रकाश को जानवरों की तरफ मोड़ा, जिससे हम कुछ भैसों, हिरन तथा हाथियों को देख पाये। जंगल के अँधेरे में रात्रि में घूमना एक रोमांचक अनुभव था। हम लोगों ने कुछ चिड़ियों का चहचहाना भी सुना।

अगली सुबह हम अपनी गाड़ी से जंगल भ्रमण करते रहे। इस बार हमने बच्चों सहित सफेद गैंडा, हिरनों, ज़िराफों, भैसों, हाथियों और ज़ेबरा को देखा और नजदीक से अपने कैमरों द्वारा उनकी छवि उतारते रहे।

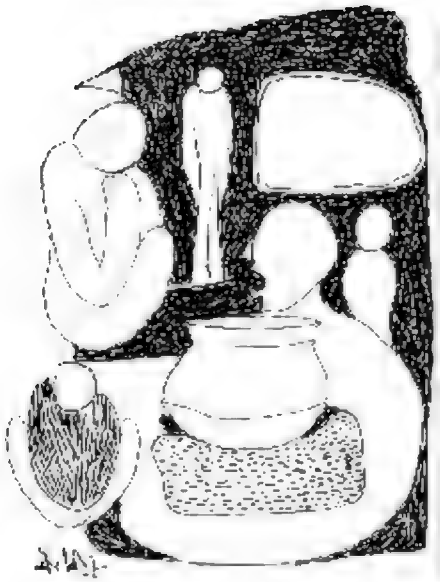
डेढ़-दो घंटे भ्रमण के बाद हमने एक शेरनी को अपने तीन शिशुओं सहित देखा। वे एक टीले पर बैठे थे और बीच में एक खाई थी। शेरा शाही तौर-तरीके से उनकी सुरक्षा के लिए तैनात था। पहले तो हमें समझ में आया ही नहीं कि शेरनी इतनी चुप क्यों बैठी थी। उसके बाद खंदक में बैठे एक बनैले सुअर पर हमारी नजर पड़ी। सब लोग अपने कैमरों सहित तैयार थे, पर शेरनी ने फोटो खींचने का मौका ही नहीं दिया।

अगले दिन हम फिर टूर ऑपरेटर के साथ सफारी पर निकले। उसके पास सफारी से सम्बद्ध एक के बाद एक कभी न खत्म होने वाली रोचक कहानियां थीं। जैसे, 'एक बार जब दूसरे दलों ने कुछ शेरों का पीछा करना तय किया, मैं वहीं प्रतीक्षा करता रहा। आठ शेरों के एक झुंड ने मेरी वैन को चारों तरफ से घेर लिया। मुझे किसी प्रकार उससे बाहर निकलना पड़ा।' 'मैंने एक तेंदुए को एक इम्पाला का पीछा करते और उसे मारते देखा है।' 'एक बार एक चीता इंजिन पर लटक गया। कभी-कभी वह कथाओं को प्रश्नों के साथ उछालने लगता था। जैसे 'ज़िराफ ऊंचा है या हाथी?' 'शेर की आंख के नीचे एक सफेद धब्बा क्यों होता है?' 'पालतू चीता और जंगली चीता, दोनों में से कौन अधिक घातक है?' 'ज़ेबरा की धारियां सफेद पर काली होती हैं या काले पर सफेद?' आदि। यदि आप कहेंगे कि वृक्षों पर कोई तेंदुआ नहीं है तो वह कहेगा, क्योंकि कोई वृक्ष है ही नहीं।

इस प्रकार क्रूगर नेशनल पार्क में वन जन्तुओं को पास में जीवन्त देखने का जो आनन्द है, वह सचमुच एक न भूलने वाला अनुभव है।

❑

प्रेमपाल शर्मा



सत्ता और समाज

कुछ किताबों को पढ़कर आप वही नहीं रहते, जो पढ़ने से पहले थे। विशेषकर ऐसे समय में और ऐसे देश में जहाँ लोकतन्त्र, भाषा, राजनीति के मनमाने मॉडल रोज बन-बिगड़ रहे हों। ऐसे झीने अँधेरे में कोई चिन्तक विकल्प के ऐसे सूत्र सुझाए जो हर वाम, दक्षिण और भ्रष्ट समझौतावादी राजनीति से अछूते हों तो आपकी विचारधारा बुनियादी रूप में बदल सकती है। वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'लोक चिन्तक ग्रन्थमाला' की कड़ी में प्रकाशित 'सत्ता और समाज' इसी वर्ग में रखी जा सकती है। इस किताब को बेहद पठनीय बनाया है इसके संकलनकर्ता और सम्पादक अभय दुबे ने। किताबों की दुनिया में इसे मौलिक प्रयोग ही माना जाएगा। पहले 119 पृष्ठों में लेखक का विस्तार से परिचय के साथ-साथ लगभग 80 पृष्ठों में लम्बी बातचीत है। आधुनिकता, सेकुलरवाद, भाषा ग्रासरूट थियरी, आरक्षण, दलित राजनीति गाँधीवाद, मार्क्सवाद और हिन्दुत्व सभी मुद्दों पर। जो लोग देश की मौजूदा स्थिति को दस-बीस प्रतिशत भी समझते हैं, वे इन मुद्दों की प्रासंगिकता को जानते हैं। इस बातचीत का एक-एक शब्द समाजशास्त्र, इतिहास का कई जिल्दों पर भारी पड़ेगा। अभय दुबे का लेख 'विकल्प साधना और विद्रोही मन' तथा धीरूभाई सेठ से लम्बी

सत्ता और समाज—धीरूभाई सेठ, संकलन और सम्पादन—अभय कुमार दुबे
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य : 325 रुपये

बातचीत इन दोनों विशिष्ट बुद्धिजीवियों की रचनात्मक मुठभेड़ को सामने लाती है। इस साक्षात्कार से केवल धीरूभाई का अध्ययन, उनका योगदान ही सामने नहीं आता, स्वतन्त्र भारत में सीएसडीएस जैसे संस्थानों के बौद्धिक योगदान का महत्त्वपूर्ण पक्ष भी पाठकों तक पहुँचता है। धीरूभाई की तो बातें और भी प्रभावित करती हैं विशेषकर आरक्षण जैसे विवादी मुद्दों पर उनकी बेबाक और लीक से हटकर राय। उनकी बातों में एक प्रामाणिकता का सच इसलिए भी है कि वे गुजरात के एक छोटे से गाँव से अपनी भाषा में पढ़कर बड़ोदा विश्वविद्यालय के रास्ते दिल्ली तक पहुँचे हैं और इस अर्थ में जाति व्यवस्था के झोलों, सिकुड़नों, विकारों को समकालीन शहरी, बुद्धिजीवियों से कहीं बेहतर समझते हैं। उनका कहना एकदम सही है कि गाँधी के नेतृत्व के विशिष्ट पहलुओं और भारत के सांस्कृतिक सन्दर्भ की उपेक्षा करके हम समस्याएँ हल करने की तरफ नहीं बढ़ सकते। बजाय इसके हम पहले हल सोचेंगे और फिर उन समाधानों को लागू करने के लिए समाज में समस्याएँ पैदा करेंगे।'

धीरूभाई का यह कथन भी बहुत लेखकों को मुश्किल से पचेगा कि 'कुछ लोग आमतौर पर संस्थाओं को एक संकीर्ण और कुण्ठित नजरिए से देखते हैं। उन्हें तो हर संस्था में जाति-पांति की अनुकृति देखने की आदत है। ऊपर कौन है, नीच कौन है, बीच में क्या है। अगर ऐसा नहीं दिखाई पड़ता है तो उन्हें संस्था समझ नहीं आती है, लेकिन इससे कहीं महत्त्वपूर्ण बात धीरूभाई देश की भाषा समस्या के बारे में कहते हैं। उनका मानना है कि 'प्रान्तीय भाषाओं में अध्यापन ही मौलिक समाजशास्त्र और बेहतर शिक्षा की तरफ ले जा सकता है। वे अफसोस जाहिर करते हैं कि अंग्रेजी में उस समाज की व्याख्या कैसे की जा सकती है, जो उसके नागरिकों की भाषा ही नहीं है।

विकल्प साधना और विद्रोही मन के शीर्षक से अभय दुबे ने धीरूभाई का बेजोड़ रेखाचित्र दिया है। रजनी कोठारी के शब्दों में उनकी दृष्टि मध्यवर्गी है, क्योंकि उनके मन में कमजोर वर्गों के प्रति गहरी हमदर्दी है, लेकिन वे वामपंथ की तरफ भी जाना नहीं चाहते। धीरूभाई ऐसी किसी भी सोशल इन्जीनियरिंग के साथ खड़ा होने के लिए तैयार नहीं थे, जिसके पीछे समाज का अन्तिम सत्य पा लेने की दावेदारियाँ हों। फिर चाहे वह दावा बायें बाजू की तरफ से किया जा रहा हो या फिर दायें बाजू की तरफ से। धीरूभाई ने ऐसे तमाम आग्रहों को अपनी विशिष्ट शैली में 'पोल पोटिज्म' की संज्ञा दी। कभी-कभी यह उत्सुकता भी पैदा होती है कि इनके परस्पर सम्बन्ध, एक-दूसरे की विचारधारा, काम के प्रति क्या नज़रिया रहा। अभय कुमार दुबे ने कभी प्रत्यक्ष, तो कभी किसी मुद्दे के सन्दर्भ में धीरूभाई के सामने ऐसे प्रश्न उठाये हैं, जो इन सभी विचारकों को बारीकी से उनके सिद्धान्त, काम, मतभेद, कार्यप्रणाली सभी कुछ जानने का मौका यह पुस्तक देती है। आशीष नन्दी के बारे में धीरूभाई की टिप्पणी, 'आशीष नन्दी की लेखन शैली खास तरह की है। वे बौद्धिक

और अकादमीय सम्प्रेषण सामान्य समाज वैज्ञानिकों की तरह नहीं करते। अपने विचारों को बिना क्वालीफिकेशंस के रखते हैं। वे विशेषणों का इस्तेमाल नहीं करते। वे अपनी बात सीधे कहते हैं। यह स्टाइल की बात है। वे पॉलिमिक्स करते हैं, और जम कर करते हैं। इसके कारण उनकी बातों को समझना और उनकी छानबीन करना बहुत कम लोगों के लिए सम्भव रह जाता है। अधकचरा वामपन्थी विमर्ष आशीष के विचारों पर हमले की कोशिश जरूर करता रहा है, लेकिन उसे कामयाबी नहीं मिली।'

आशीष नन्दी पर बात करते हुए धीरूभई स्वयं को भी सामने रखते हैं—मैं आरक्षण पर, उदारतावादी लोकतन्त्र पर या गैर-पार्टी राजनीति या वैकल्पिक राजनीति के सूत्रों पर लिखता-बोलता हूँ तो एक दूसरे तरीके से मेरा प्रस्थान बिन्दु भी लोतान्त्रिक सिद्धान्त ही होता है। मतभेदों के होते हुए भी हम दोनों के काम का सैद्धान्तिक मूल एक ही है। मेरी रचनाएँ आशीष की तरह आधुनिकता और सेकुलरवाद को खारिज तो नहीं करतीं लेकिन, मैं भी एक अभिजनवादी विचारधारा के रूप में इन दोनों को ऊँची जातियों और ऊँचे वर्ग के मुट्ठी भर लोगों द्वारा सामाजिक वर्चस्व स्थापित करने के औजार की तरह इस्तेमाल करने की आलोचना करता हूँ। इन अभिजनों के सेुलरवाद पर ही निगाह डालिए। यह क्या है? यह भारतविरोधी, बहुसंख्याविरोधी और जनविरोधी प्रतीत होता है। यह अंग्रेजी माध्यम वाला सेकुलरवाद है, अंग्रेजी माध्यम वाले आधुनिकता है। पश्चिम से उधार ली गयी धारणाओं के तहत साठ के दशक में ये लोग मानते थे कि भारतीय किसान परिवर्तन-रोधी है। कम्युनिस्ट डिस्कोर्स की भी इसमें एक भूमिका थी। किसानों को दकियानूसी समझा जाता था। इस तरह के आधुनिकतावाद और सेकुलरवद को भारतीय जनता ने बार-बार गलत साबित किया है।'

पिछड़ा आयोग सदस्य के नाते धीरूभाई सेठ कहते हैं—'आयोग का मेरा अनुभव मुझे बताता है कि जाति प्रथा का असर मन्द करने के लिए जो ताकतें और प्रक्रियाएँ खड़ी हुई थीं, वे अब खुद जाति प्रथा की अनुकृति बनती जा रही हैं। प्रगति के कई सोपान चढ़ चुकी पिछड़ी जातियों का एक बड़ा और मजबूत निहित स्वार्थ बन चुका है। वे अपने से नीची जातियों के साथ वही सुलूक कर रहे हैं जो कभी द्विजों ने उनके साथ किया था। मैं आयोग की पहली टीम का सदस्य था। कुल मिला कर स्थिति यह बनी है कि आयोग के सदस्य, उससे जुड़ी नौकरशाही और पूरा का पूरा क्षेत्र ही इसी जबरदस्त निहित स्वार्थ की नुमाइन्दगी करता नजर आता है। ये लोग सब मिलकर पूरी कोशिश में रहते हैं कि किसी भी तरह से पिछड़ी जातियों को अत्यधिक पिछड़े और कम में वर्गीकृत न होने दिया जाए। जब मैं आयोग में था, उस समय भी प्रभुत्वशाली पिछड़ी जातियों द्वारा ऐसे किसी भी कदम के खिलाफ प्रतिरोध होता था।

आयोग की पहली टीम का ज्यादातर वक्त तो मंडल आयोग द्वारा बनायी सूची को तर्कसंगत बनाने में खर्च हो गया, क्योंकि सूची में बड़ी खामियाँ थीं। अब स्थिति

यह है कि मजबूत पिछड़ी जातियों के हितसाधक आरक्षण के फायदे निचली ओ. बी.सी, जातियों तक नहीं पहुँचने दे रहे हैं। खास तौर से दक्षिण के ओ.बी.सी जिन्हें सबसे पहले आरक्षण मिल गया था। इन तगड़ी ओ.बी.सी. जातियों को सत्ता भी मिल गयी है। वे आरक्षण के फायदे अपने हाथ से नहीं निकलने देना चाहते। जो समुदाय पिछड़े नहीं रह गये हैं, उनकी शिनाख्त नहीं की जा रही है और न की जाएगी। इन्द्रा साहनी वाले फैसले में सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिये गये निर्देशों के विरोध में जाता है यह रवैया। लोकतान्त्रिक संस्थाओं की एक समस्या होती है कि एक सीमा के बाद नौकरशाही और राजनीतिक हित मिल कर उन्हें आपस में होड़ कर रहे हितों के औजार में बदल देते हैं। यह हमारे लोकतान्त्रिक निजाम के पिछड़ेपन का चिह्न है।' (पृष्ठ 105) (पृष्ठ 102 और 103)

पिछड़ों के लिए आरक्षण की पूरी बहस पर इससे बेहतर टिप्पणी नहीं हो सकती। पुस्तक में 'आरक्षण के पचास साल' खण्ड के अन्तर्गत चार उप शीर्षकों में इस मुद्दे पर विचार किया है। ये अध्याय हैं—धर्म, जाति निरपेक्ष नीति के विविध आयाम; आरक्षण विरोधियों के तर्कों की असलियत; आरक्षण नीति; एक पुनः संस्कार की आवश्यकता तथा अति पिछड़ों और निजी क्षेत्र में आरक्षण का सवाल। धीरूभाई के शब्दों में—आरक्षण के जरिए प्रगति के अवसरों को हड़पने की इस होड़ ने हमारी लोकतान्त्रिक चुनावी राजनीति को अलोकतान्त्रिक रुझानों से ग्रस्त कर दिया है। इसके कारण झूठे-सच्चे आश्वासन दिये जाते हैं और अन्ततः समाज को तनावग्रस्त होना पड़ता है। बिरादरियों के बीच का भाईचारा खत्म होता है। गुज्जरों को दिया गया आश्वासन तो एक उदाहरण है, मुसलमानों को धर्म आधारित आरक्षण देने के अध्यादेश तक जारी किये जा चुके हैं। हिन्दू समाज की संरचना की जानकारी रखने वाला कोई भी प्रेक्षक जानता है कि प्रजापतियों (कुम्हारों) को समाज में अछूत या दलित नहीं माना जाता, लेकिन, पिछले दिनों उन्हें भी (उत्तर प्रदेश में प्रजापतियों को) अनुसूचित जाति का दर्जा देने का प्रयास किया जा चुका है।' (पृष्ठ 244)

हाल ही में हुए एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन **कास्ट इन एक डिफरेंट माउल्ड (Caste in a different mould; understanding the discrimination) लेखक : राजेश शुक्ला, सुनील जैन, प्रीति कक्कर बिजनेस स्टैंडर्ड का प्रकाशन)** में दिये गये तथ्य आँखे खोलने वाले हैं। संक्षेप में जहाँ उत्तर प्रदेश में एक दलित की औसत आय उनचालीस हजार रुपये प्रतिवर्ष है, वहीं पंजाब में तिरेसठ हजार है। बिहार में ओबीसी की औसत आय चालीस हजार है, जबकि महाराष्ट्र में चौहत्तर हजार। कर्नाटक में एक आदिवासी की औसत आय प्रतिवर्ष बासठ हजार रुपये है तो बिहार में सवर्ण जाति की भी सिर्फ इक्यावन हजार। इतना ही अन्तर आदिवासी जनता के बीच है। एक अनपढ़ आदिवासी परिवार की औसत आय केवल साढ़े बाइस हजार प्रतिवर्ष है, जबकि आदिवासी ग्रेजुएट की पिचासी हजार। गाँव के आदिवासी की औसत आय सैंतीस हजार रुपये है तो शहरी का एक लाख से ज्यादा। यानी देश के अलग-अलग हिस्सों में सामाजिक, आर्थिक पिछड़ेपन की तस्वीर इतनी भिन्न है कि उसे सिर्फ

जाति के नाम पर इकहरे मानदण्ड से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। इस पुस्तक के सभी आँकड़ें धीरूभाई की स्थापनाओं को प्रमाणित करते हैं। दिल्ली के चाणक्यपुरी में रहने वाले दलित, आदिवासी किसी भी पैमाने से आरक्षण के हकदार नहीं है, बल्कि अपनी ही जाति के वंचितों की बाधा बन रहे हैं। आज यदि लोहिया होते तो धीरूभाई सेठ, राजेन्द्र सच्चर, वीजी वर्गीज और दूसरे विद्वानों की तर्ज पर खुद अपने नारे और उसके सिद्धान्त को बदल देते।

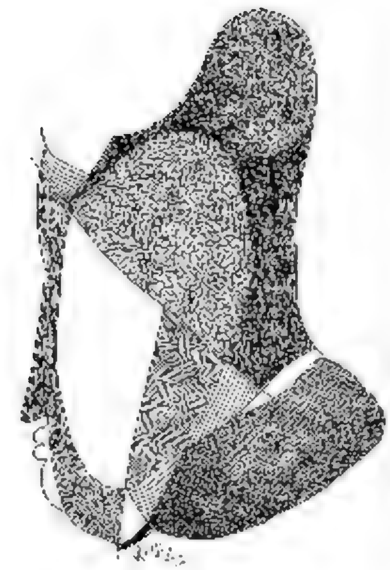
पुस्तक छः खण्डों में बँटी है। पहला आत्मकथ्य उनका परिचय तथा अभय कुमार दुबे की लम्बी बातचीत। दूसरा—जातिप्रथा, वर्गरचना और राजनीति, तीसरा दलित प्रश्न और गैर दलित समाज, चौथा-आरक्षण के पचास वर्ष, पाँचवां—लोकतन्त्र की चुनौतियाँ और छठा—भूमण्डलीकरण और वैकल्पिक चिन्तन। अन्तिम भाग के तीनों लेख बाजारोन्मुख या सहभागी लोकतन्त्र वैकल्पिक राजनीति के आयाम और जमीनी आन्दोलनों की परिघटना तथा मानवाधिकार : दुविधा और चुनौती मौजूदा विमर्श में बेहद प्रासंगिक हैं। धीरूभाई ने ठीक ही पहचाना है—'भूमण्डलीकरण के प्रभाव में विकसित देशों में ये समस्यायें पिछले कुछ समय में इकट्ठी हो रही थीं, लेकिन अब इनका प्रभाव उनकी राजनीतिक व्यवस्थाएँ वैधता के संकट से ग्रस्त हैं। संस्थागत रूप से इसका परिणाम शासन व्यवस्थाओं की अस्थिरता के रूप में सामने आ रहा है, पर, इसमें भी ज्यादा यह परिणाम राजनीतिक संस्कृति के क्षय के रूप में दिख रहा है। आम लोगों में अरुचि और उदासीनता की व्यापक भावना, यहाँ तक कि राजनीति के प्रति अविश्वास भी पैदा हो गया है। इन देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के आन्तरिक संसाधन अपने समाजों की समस्याएँ हल करने के लिए अर्याप्त साबित होने लगे हैं।' (पृष्ठ 423)

लगभग पाँच सौ पृष्ठों में धीरूभाई के मुख्य चिन्तन को समेटने वाले लेखक को पता है कि हिन्दीभाषी समाज गम्भीर चिन्तन से कितना दूर होता जा रहा है। इसीलिए पुस्तक के अन्त में उन प्रमुख अभिधारणात्मक शब्द और उनके तात्पर्य को समझाने का परिशिष्ट भी शामिल किया है, जिसमें संक्षेप में सेकुलरवाद/धर्मनिरपेक्षता, बहुलतावाद/प्लूरलिज्म, बहुसंस्कृतिवाद/मल्टीकल्चरिज्म, अस्मिता/आइडेंटिटी, साम्प्रदायिता/कम्युनलिज्म, बहुसंख्यकवाद/मेजोरिटेरियनिज्म और अल्पसंख्यकवाद /माइनोरिटिज्म, सहिष्णुता/टॉलरेंस, आधुनिकतावाद/मॉडर्निज्म, जातीयता/एथ्नीसिटी, समीकरण/सेमिटाइजेशन की संक्षिप्त सारगर्भित व्याख्या है।

एक पुस्तक यदि उस दौर के हर बड़े समाज वैज्ञनिकों, सामाजिक, राजनैतिक घटनाओं, नीतियों को इतने सरल शब्दों में सामने लाये, इसे प्रकाशन जगत की बड़ी उपलब्धि माना जाना चाहिए। रजनी कोठारी से इस ग्रन्थमाला की शुरुआत हुई है। मेरी समझ में प्रभाष जोशी, अनन्त मूर्ति, राजमोहन गाँधी, आशीष नन्दी, कृष्ण कुमार, राजेन्द्र यादव, एम. एन. श्रीनिवासन, कुलदीप नैयर जैसे कई लोकचिन्तक इस ग्रन्थमाला की परिधि में शामिल होने के हकदार हैं।

❑

सुरेश पण्डित



वर्तमान का भविष्य

लोकतन्त्र में महाकाव्य नहीं लिखे जाते, क्योंकि इनकी संरचना के लिए जिस तरह के विधि-विधान साहित्य शास्त्रियों ने निर्धारित किये हैं, वे केवल उदात्त चरित्र वाले नायक नायिकाओं के आदर्श क्रियाकलापों का वर्णन कर ही पूरे हो सकते हैं। राजशाही या अभिजात तन्त्र ही इनके लिए अनुकूल भूमि साबित हो सकते हैं। लोकतन्त्र में लोक की भूमिका प्रमुख रहती है। इसलिए आम लोगों का जीवन ही साहित्य का वर्ण्य विषय बनता है। कविता कहानी की अपेक्षा उपन्यास लोकजीवन की समग्र प्रस्तुति के लिए अधिक उपयुक्त रहता है। यह अपने समय के समाज की वस्तुस्थिति को इस तरह प्रस्तुत करता है कि समकालीन पाठक इसमें अपने परिवेश का प्रतिबिम्ब देख सकें और आगे आने वाली पीढ़ियाँ इतिहास के उस क्रमिक विकास से अवगत हो सकें, जिसने उन्हें सभ्यता के इस मुकाम तक पहुँचाया है।

ब्रजेश मूलतः एक कवि हैं। उपन्यास लेखन की ओर ये इसलिए प्रवृत्त हुए हैं, क्योंकि कविता अपनी निर्मिति में वह सब समाहित करने में इन्हें अपर्याप्त लगी है, जिसे ये कहना चाहते हैं। इनका उपन्यास 'वृन्दा' निश्चय ही देखने में महाकाय लगता है, इसलिये पाठक को प्रथम दृष्टि में भयभीत भी कर सकता है, लेकिन यह लिखा ही गया एक ऐसी परियोजना के तहत है, जो महत्त्वाकांक्षी तो है ही, भविष्योन्मुखी

वृन्दा : गाथा सदी की (उपन्यास) : ब्रजेश, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली; मूल्य : 895 रुपये

भी है। इसका लक्ष्य एक पूरी सदी को अपने कलेवर में समेट लेने का है, साथ ही यह भूमंडल के एक बहुत बड़े हिस्से को भी अपनी कर्मभूमि बनाने का प्रयास करता है। इस तरह यह उपन्यास के रूप में सचमुच एक महाकाव्य है और इसलिए इसका महाकाय होना इसकी अनिवार्यता है। इस युग के एक अग्रणी कवि राजेश जोशी का मानना है कि एक कवि जब उपन्यास लिखता है तो लगता है कि जैसे वह महाकाव्य के विखण्डन से पैदा हुई क्षति की पूर्ति कर रहा है। उसकी मनोरचना में एक क्षतिपूर्ति की इच्छा उसे उपन्यास लिखने को बाध्य करती सी लगती है। जैसे वह महाकाव्यात्मकता को दुबारा पाना चाहता है, जैसे वह महाकाव्य के अन्त को मन से स्वीकार नहीं कर पा रहा है। ब्रजेश का कवि भी इस उपन्यास को इस सदी का महाकाव्य बनाने पर तुला है। वह गद्य में कथावस्तु को विस्तार देता है और पद्य में उसे सघनता देता चलता है। इस तरह दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक बने नजर आते हैं।

उपन्यास को लोकतन्त्र का महाकाव्य मानते हुए ही ब्रजेश अपने नायक-नायिका को अत्यन्त सामान्य पृष्ठभूमि से उठाकर उन बुलन्दियों तक पहुँचा देने की कोशिश करते हैं जो महाकाव्य की शास्त्रेक्त परिभाषा के अनुरूप होती हैं। उनका प्रारम्भिक जीवन उन घटनाओं से भरा होता है जो सामान्यतः उस वर्ग के लोगों के साथ घटित होती हैं। यद्यपि उनसे ऐसे सूक्ष्म संकेत जरूर मिलते हैं जो उनके असाधारण भविष्य की ओर इंगित करते हैं। धीरे-धीरे वे उस राह पर आगे बढ़ते हैं, जिसे वे अब तक अपनी कल्पना से रचते व विचारों से परिपक्व बनाते आये हैं। पारम्परिक महाकाव्यों में भी प्रायः इसी तरह मुख्य पात्रों के चरित्र का विकास होता है। यह गद्य में लिखा एक महाकाव्य है, लेकिन इसका गद्य सपाट, खुरदरा व रूखा नहीं है। इसमें भरपूर लालित्य, मधुरता और कवितात्मकता है। यह वही भाषा है, जो किसी महाकाव्य के लिए उपयुक्त हो सकती है।

मार्क्स और गाँधी जैसे विचारक पिछली सदी में एक ऐसा सुन्दर सपना लोगों को दिखाते हैं जिसे रूपाकार देना मानवीय हितों को सुरक्षा देने की गारण्टी हो सकता है। यह सपना एक ऐसी दुनिया बनाने का है, जो वर्गों, वर्णों में न बंटी हो, हर तरह के भेदभाव से मुक्त हो और जिसमें लोग एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, सहयोगी हों। सदी के अन्त तक पहुँचे-पहुँचते वे सपने या तो अपना आकर्षण खोते या फिर अप्रासंगिक बनते नजर आते है, क्योंकि लोग जिस ओर चल पड़ते हैं, वहाँ ऐसे सपने देखने, विचार रखने वालों की समझदारी ही सन्देह के घेरे में आने लगती है। इस सदी की दुनिया जिस ओर आगे बढ़ती जा रही है, उसे वहाँ से पिछली सदी के इन विचारकों द्वारा निर्दिष्ट मार्गों की ओर लाना तो निश्चिय ही सम्भव नहीं है। हाँ, ऐसी व्यवस्था बनाने की कोशिश जरूर हो सकती है, जो पुरानी कमजोरियों से मुक्त हो और नयी आवश्यकताओं के अनुरूप होते हुए भी सकारात्मक सुधार की ओर ले जाने वाली हो। ब्रजेश इसके लिये गाँधी की वैचारिकी को एक नयी युगानुकूल

व्याख्या देने की कोशिश करते है। इसे वे नवगाँधीवाद का नाम देते हैं। यह उपन्यास उसी विचार को मूर्त होते हुए दिखलाने का एक प्रयास है।

इसकी कहानी हरिद्वार से शुरू ही इस मकसद को लेकर होती है ताकि उत्तर आधुनिक काल के साधु-सन्तों के चमत्कारी कृत्यों की असलियत को सामने रखते हुए सम्भोग से समाधि की अवधारणा की इनके द्वारा आविष्कृत व्याख्या को सिद्ध शाक्त बाबा के तीन सूत्रों के रूप में देखा जा सके। आश्चर्य है बार-बार धर्म के इस व्यापार को देखकर न केवल सामान्य बल्कि सुशिक्षित, उच्च पदाधिकारी, सम्पन्न लोगों की भी इनके प्रति आस्था कम नहीं हो रही है। उपन्यास की नायिका वृन्दा के अभिभावक मेजर दम्पती भी इनमें शामिल हैं। इस तरफ बढ़ते झुकाव का कारण लोगों के भविष्य का अनिश्चित होना तो है, ही वह विकल्पहीनता भी है, जिसे विचारधाराओं के अप्रासंगिक बना दिये जाने वाली पूंजीवादी व्यवस्था ने पैदा कर दिया है। इसने परम्परागत सारे मूल्यों और मर्यादाओं को ध्वस्त कर जिस उपभोग प्रधान संस्कृति को विकसित किया है उसी का परिणाम है कि नवधनाढ्य वर्ग तरह तरह के प्रयोगों के जरिये सुख पाने की कोशिश में लगा दिखाई देता है, क्लबों में पत्नियों का एक्सचेंज भी इनमें से एक है। क्रिसमस सैलिब्रेट करने के लिये आई. ए. एस. अधिकारी स्मिता अपने प्रेमी प्रेम जूदेव के संग गोल्फ क्लब में जाती है तो उसका पति लक्ष्मण सरोज शुभा द्विवेदी के साथ जेनेसिस क्लब में जाता है। इंजीनियर कुलकर्णी और डॉ. मनचन्दा अपनी-अपनी पत्नियों की अदला बदली कर आनन्द प्राप्त करते हैं। इसे वे 'नोनवेज इवेन्ट' कहते हैं। फ्रेंच यूथ जिस फ्रीडम की मांग करते हैं, उसमें सैक्स की आजादी भी शामिल रहती है। निश्चय ही यह हर प्रकार की वर्जना से मुक्त समाज उन लोगों को मानसिक रूप से सन्तप्त व आहत कर सकता है, जो नयी जीवन शैली अपना कर भी पुराने मूल्यों से छुटकारा नहीं पा रहे हैं या ऐसा करने का ढोंग कर रहे है, लेकिन इस सदी के युवाओं को इसमें कोई बुराई दिखाई नहीं देती।

वृन्दा उन मेजर अचल और उनकी पत्नी श्यामा की इकलौती सन्तान है, जो ऐसे माहौल में विचरते हुए भी इस तरह के मुक्त सैक्स से परहेज करते हैं, लेकिन इसे बुरा भी नहीं मानते। वृन्दा का विकास एक स्वच्छन्द वातावरण में होता है, इसलिये वह अपनी किशोरावस्था से ही एक विद्रोही कन्या के रूप में सामने आती है। अपने नाना के गाँव में अपनी जाति के लोगों की सवर्णो द्वारा की जा रही अवमानना और उसका प्रतिकार न करने की उनकी प्रवृत्ति वृन्दा को अत्यधिक आक्रोशित कर देती है। नाना किशनलाल जब यह कहते हैं कि 'अमीरी और गरीबी के बीच की खाई का कोई इलाज नहीं है। यह सनातन है। भगवान की ऐसी ही मर्जी है। समाज और सरकार तो माध्यम भर है।' तब वृन्दा गुस्से में उबलते हुए कहती हैं 'जो सरकार गुलाम बनाये—क्या उसे बरदाश्त करना अच्छा है? लोग बरदाश्त करते हैं, इसीलिए तो गधों से भी बदतर जिन्दगी जी रहे हैं।' वह तब तक गाँव नहीं छोड़ती, जब

तक अपने लोगों को स्वाभिमान से जीने और अन्याय का विरोध करने के लिए तैयार नहीं कर देती, लेकिन यह उसके जीवन का एक पहलू है। दूसरा यह भी है कि वह अपने मामा के लड़के शिशिर, जो उसका समवयस्क है और एक असाध्य बीमारी के कारण मृत्यु की प्रतीक्षा में है, को दयार्द्र होकर चूमने, आलिंगन में लेने से भी नहीं चूकती। इसी के साथ वह अपनी सखी रचना के साथ हमबिस्तर हो लेस्बियन होने और उससे प्राप्त तृप्ति के अधूरे होने का अनुभव भी प्राप्त कर लेती हैं।

वृन्दा को लगता है कि सेक्स इतनी बुरी चीज नहीं है, यदि व्यसन बनकर मनुष्य के व्यक्तित्त्व को ही अपने अधीन न कर लें। जिस होस्टल में वह रहती है, उसकी वार्डन मिस सोफया एक ऐसी सेक्स हंग्री औरत है, जो शादी से पहले तो अपने चौकीदार से कामाग्नि की तृप्ति करती है लेकिन शादी के बाद भी वह अपने पति से सन्तुष्ट नहीं होती। आखिर पति उसके लिए संगर सेठ नाम के एक पुरुष को इंगेज कर लेता है। पुरुषों की ही नहीं, स्त्रियों की भी मुक्त सेक्स की लालसा के कई उत्तेजक प्रसंग इसमें दिये गये हैं। जिन पर बहुत से लोगों को आपत्ति हो सकती है, लेकिन यह नवधनाढ्य लोगों का सच है। इससे नजरें चुराना अपने समय के चरित्र को जानबूझकर अस्वीकार करना माना जा सकता है। ब्रजेश गाँधी के ब्रह्मचर्य या इन्द्रिय निग्रह से नवगाँधीवाद को अलग रखना चाहते हैं, इसीलिए वे काम की अनिवार्यता को तो स्वीकारते हैं, लेकिन उसे खुली छूट देने के पक्ष में नहीं हैं।

वृन्दा और कान्त के बीच जो रोमांस शुरू होता है, वह चलता ही चला जाता है। उसका वर्णन लेखक ने जितनी गहराई में डूबकर किया है, वह अद्भुत है, लेकिन इस तेज गतिशील सदी में, जिसमें सब कुछ इंस्टेन्ट है, इस तरह के रोमांस के लिए समय कहाँ बचा है और युवक-युवती की भावनाओं में वह गहराई व उद्विग्नता कहाँ शेष रह गयी है। यह शंका उठनी स्वाभाविक है। लगता है यह सब दर्शाकर ब्रजेश प्यार की उस उदात्त परिकल्पना से अत्याधुनिक पीढ़ी का साक्षात्कार करवाना चाहता है। जो इस भागमभाग की दुनिया में एक विरल तृप्ति प्रदान कर सकती है। आनन्द भोग में तो होता ही है, इन्तजार में भी होता है। ब्रजेश का कवि इसके वर्णन में लगता है उपन्यास लेखक पर हावी हो गया है। कविताओं की बहुलता एवं बारम्बारता का औचित्य यह मानकर ही साबित किया जा सकता है, लेकिन यह प्रेम मात्र भोग केन्द्रित नहीं है, इसीलिए यह कान्त और वृन्दा को वह ऊर्जा देता है, जिससे उनका जीवन एक महान उद्देश्य के लिए समर्पित हो जाता है।

कान्त का अटूट विश्वास है कि आधुनिक विकास से उपजी विडम्बनाओं को दूर करने का उपाय गाँधी के पास है, लेकिन गाँधी के विचारों को ज्यों का त्यों जीवन में उतार लेने का हठ करना स्वयं गाँधी की अवमानना करना है, क्योंकि गाँधी जीवन भर एक जिज्ञासु सत्यान्वेषी की तरह जीते रहे हैं और कहते रहे हैं कि मेरा किया, कहा अन्तिम सत्य नहीं है। इसीलिए कान्त कहते हैं, 'इस रोगक्षयी सभ्यता का इलाज नवगाँधीवाद के पास है। गाँधी से नयी पीढ़ी असहमत है। इसलिए यह

वाद मानता है—'मॉडर्न बनो, फैशन में रहो, सुख भोगो, पर धरती का ऋण भी चुकाओ।' दूसरों का गला काटकर खुद के लिए सुख तलाशना सबसे बड़ी हिंसा है? गाँधी का जो कुछ ग्राह्य नहीं लगता, उसे छोड़कर आगे बढ़ो, यही नवगाँधीवाद है।' यह सभ्यता उन्हें रास आ रही है, जिनके पास पैसा है, यौवन है और सत्ता की ऊष्मा है। पैसा इसे वह सुख नहीं दे सकता है, जो कविता दे सकती है। कविता नहीं होगी तो उजाड़ और जिन्दगी के बीच फर्क कौन करेगा। यह सदी गद्य की शुष्कता में ही मर जाएगी।

नवगाँधीवाद की अपनी अवधारणा को अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, 'मैं औद्योगिक विकास और तकनीकी सभ्यता के खिलाफ नहीं हूँ। उनके अन्धेपन और बहशीपन के खिलाफ हूँ। मिश्रित अर्थ व्यवस्था चाहता हूँ। वह खराब नहीं है। उसे स्वार्थी लोगों ने खराब किया है। अघोषित हिंसा घोषित हिंसा से अधिक खतरनाक होती है। हम ईमानदारी मिश्रित अर्थव्यवस्था चाहते हैं और हथियारविहीन हरी-भरी दुनिया चाहते हैं। साम्यवादी इंकलाब का नारा जरूर लगाते हैं, लेकिन सबसे ज्यादा पढ़ते और बहस भी वे ही करते हैं। इसलिए यह लगता है और प्रचारित भी किया जाता है कि दुनिया में हिंसक वारदाताओं के जनक वे ही हैं। इसके विपरीत पूंजीवादी चिल्लाते नहीं है। केवल वारदात को अंजाम देते हैं। चुपचाप, हँसते हुए, शालीनता के साथ।

अपने इसी विचार को लकर कान्त हार्वर्ड विश्वविद्यालय से होते हुए योरोप के सभी प्रमुख देशों में घूमते हैं। नवगाँधीवाद का घोषणा पत्र एक अहिंसक, कर्मठ, समतावादी प्रगतिशील युवा विश्व की स्थापना का एजेंडा दुनिया के सामने रखता है। इसका नयापन आम लोगों को आकर्षित करता है, लेकिन उन लोगों की इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया होती है, जिनके स्वार्थ इससे खतरे में पड़ सकते है। वे कहीं हिंसक तो कहीं वैचारिक स्तर पर इसका विरोध करते हैं। दुनिया भर के पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों को यह आशंका घेर लेती है यदि विकास का यह मॉडल फेल होता है तो उदारीकरण भी नहीं रहेगा और उनका विश्वव्यापी कारोबार ठप्प हो जाएगा। सरकारें भी उनके सुर में सुर मिलाने के लिए तत्पर हो जाती है, क्योंकि वे अपनी निर्णायक क्षमता इनके पास गिरवी रख चुकी होती हैं। इसलिए कान्त 'सरकार बड़ी या उद्योगपति' की बहस दुनिया भर में छेड़ने में कामयाब हो जाते हैं। जाहिर है सरकारें अपने मतदाताओं, देशवासियों के सामने यह कैसे कह सकती हैं कि वे असहाय हैं। फ्रांस की सरकार तो सबसे पहले कान्त को अपना समर्थन देती है, क्योंकि उसकी समस्त प्राचीन, समृद्ध विरासत को अमरीका ने हड़प लिया है।

द गैलेक्सी फॉर गैलेक्सी बैंक की लूट के विरोध में किया गया आन्दोलन सत्याग्रह के युगानुरूप प्रयोग की मिसाल बन जाता है। मार्क्सवाद की ब्रजेश इसलिए आलोचना करते हैं, क्योंकि यह देश के इतिहास को एक ही फीते से नापना चाहता है। मार्क्सवाद गाँधी तक को बुर्जुआ घोषित करता है, क्योंकि उसे गाँधी से शास्त्रों की बू आती है, लेकिन हर बुराई के लिए इसे दोषी बताना कहाँ की बुद्धिमानी है।

काम मनुष्य के जीवन के लिए एक अनिवार्य कर्म है। उसे सामन्ती घोषित कर कालिदास और जयदेव को नहीं समझा जा सकता। भगवान कृष्ण ने जिस प्रकार हमारी सभ्यता को वर्जनाओं से मुक्त किया है, वही काम साहित्य में कालिदास और जयदेव ने किया है।

दूसरी तरफ वृन्दा अपने ही देश को नवगाँधीवाद के प्रयोग का केन्द्र बनाती है। उसकी अगुआई में औरतों को समाज में पुनः सम्मान दिलाने के लिए जो 'डिग्निटी मार्च' निकलता है, वह जन-मन को भीतर तक झकझोर डालता है। राजनैतिक दलों को इस आन्दोलन को मिले अभूतपूर्व सहयोग-समर्थन से अपना भविष्य अन्धकारमय दिखलाई देने लगता है। राज्यों और केन्द्र की सरकारें समझ नहीं पाती कि वे इस बवंडर का कैसे मुकाबला करें। धर्मान्ध लोग इसका प्रतिरोध करने के लिए हिंसा पर उतर आते हैं। निरस्त्र, अहिंसक जन सैलाब को रोकने के लिए जब वे आगे बढ़ते हैं, तब यह देखकर हैरान हो जाते हैं कि जिन्हें वे मारने जा रहे हैं, वे तो कोई प्रतिक्रिया ही नहीं कर रहे हैं, मरने को तैयार खड़े हैं। इनमें वृन्दा और उसके साथी सबसे आगे हैं। ठीक ऐसा ही दृश्य एटिनबरो की फिल्म 'गाँधी' में भी दिखाई देता है, जब विभाजन के बाद नोआखली में हुए दंगों को रोकने के लिए गाँधी वहाँ जाकर अनशन करते है और पगलाई भीड़ उन्हें मारने को उतारू हो जाती है। ऐसे हिंसक माहौल में निहत्थे नेहरू भीड़ के सामने जाकर कहते हैं, 'पहले मुझे मारो फिर गाँधी पर हाथ उठाओ।'

इस तरह उपन्यास जॉर्ज ओरवेल के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'उन्नीस सौ चौरासी' की तरह अपने समय से आगे की दुनिया को विजुएलाइज करने का एक प्रयास है। यह वर्तमान पर नजर रखते हुए भावी की कल्पना करता है। इसे पढ़ने के लिए पाठक से भी यह अपेक्षा रखना आवश्यक है कि वह अपना नजरिया पिछली सदी से हटाकर आगे आनेवाले समय पर फोकस करे। तभी वह इसकी घटनाओं को सही परिप्रेक्ष्य में देख सकेगा। ऐसा न करने पर उसे इस उपन्यास में बहुत कुछ अनैतिक, अस्वाभाविक एवं असम्भव भी लग सकता है।

लेखकों के परिचय

एजाज अहमद : जन्म मुजफ्फरनगर के शामली कस्बे के निकट कैरी गाँव में हुआ था। 1958 में वहीं के इस्लामिया हाईस्कूल से दसवीं पास कर पाकिस्तान चले गये। अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. करने के बाद गोर्वमेंट कॉलेज शाहीवाल से अध्यापन की शुरूआत की। शोध के लिए अमेरिका गये, ग़ालिब की ग़ज़लों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय, सिटी यूनिवर्सिटी न्यूयॉर्क जैसे प्रतिष्ठित विश्व विद्यालय में पढ़ाया। प्रतिबद्ध मार्क्सवादी हैं और उनकी गिनती विश्व के प्रतिष्ठित बुद्धिजीवियों में होती है। इन थ्योरी : क्लासेज नेशनल लिटरेचर, सीनीएज ऑफ द प्रजेन्ट जैसी चर्चित किताबों के लेखक।

ओमप्रकाश : शौकिया अनुवादक। सम्पर्क : छोटा लोहारपुरा, शिवपुरी-473551 (म.प्र.)

इस्माइल सिराजिल्दिन : जन्म-1944 गिजा। हावर्ड विश्वविद्यालय से एम.ए. और पी-एच.डी। अरबी फ्रेंच और अंग्रेजी में दक्ष। कॉलेज डि फ्रांस (College De France) में 'गरीबी के खिलाफ ज्ञान' (Savoirs Centre Pauvrete) चेयर के प्रोफेसर हैं। अनेक शैक्षणिक, शोध सम्बन्धी वैज्ञानिक अन्तर्राष्ट्रीय सलहकार समितियों के अध्यक्ष एवं सदस्य के रूप में सम्बद्ध। बायो टेक्नोलोजी, ग्रामीण विकास तथा समाज के लिए विज्ञान के महत्त्व जैसे विषयों पर साठ से अधिक पुस्तकें और मोनोग्राफ्स प्रकाशित।

गंगानन्द झा : जन्म 1935, देवधर (झारखंड)। डी.ए.वी. कॉलेज सीवान (बिहार) में वनस्पति शास्त्र के अध्यापक पद से सेवा निवृति। पिछले 15 वर्षों से चण्डीगढ़ निवास। सम्पर्क : 9876881983

पी. साईनाथ : जन्म 1957, मद्रास। जेएनयू से शिक्षा प्राप्त की और फिर लगभग 10 वर्षों तक साप्ताहिक ब्लिट्ज से जुड़े रहे। 1993 में उन्हें टाइम्स ऑफ इंडिया फेशोशिप प्राप्त हुई। पी. साईनाथ इस पीढ़ी के उन गिने-चुने पत्रकारों में से हैं जिन्होंने गरीबी, शोषण, भुखमरी समाज के दलित और उत्पीड़ित वर्ग पर होने वाले अत्याचार तथा नयी आर्थिक नीति उदारीकरण एवं औद्योगीकरण के फलस्वरूप आम आदमी पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को ही अपनी पत्रकारिता का विषय बनाया और हर तरह का जोखिम उठाते हुए इन मुद्दों पर लगातार लिखते रहे हैं।

स्वतंत्र मिश्र : अनुवादक, लेखक व पत्रकार हैं विभिनन पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहे हैं कुछ महत्वपूर्ण लेखों का अनुवाद भी इन्होंने किया है। फिलहाल 'बिजनेस भाष्कर' में कार्यरत हैं। सम्पर्क : 9873091977

गिरीश मिश्र : दिल्ली विश्वविद्यालय के किरोड़ीमल कॉलेज में अर्थशास्त्र विभाग में वरीय अध्यापक रहे हैं और आर्थिक इतिहास के विशेषज्ञ माने जाते हैं। काशी विद्यापीठ, वाराणसी और दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स में भी अध्यापन कार्य किया है। 1982-85 में नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लाइब्रेरी के फेलो रहे। कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के लेखक। सम्पर्क : एम-112, साकेत, नयी दिल्ली-110017

विनोद शाही : जन्म-1 जनवरी 1955, चरखी दादरी पूर्व पंजाब। शिक्षा-एम.ए., पी-एच.डी.। श्रवणकुमार की खोपड़ी अचानक अजनबी, ब्लैक आउट, इतिहास चोर (कहानी संग्रह), शिविर, अणु से इथर तक, नये आदमी का जन्म (कविता संग्रह), प्रयोजनमूलक हिन्दी एवं जयशकर प्रसाद : पुनर्मूल्यांकन (आलोचना) प्राच्यवाद और प्राच्य भारत (विचार), गाँधी का अहिंसक

इनक्लाब और हिन्द स्वरज (सम्पादन) प्रकाशित। सम्प्रति- स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय होशियारपुर में प्राध्यापक। सम्पर्क-9, धामीनगर, चीमानगर एक्सटेंशन, मिठनपुर रोड, जालंधर (पंजाब)। मो. 9814658098

जावरीमल्ल पारख : जन्म 1952, जोधपुर (राजस्थान), शिक्षा एम.ए. (हिन्दी), पी-एच.डी.। नयी कविता का वैचारिक परिप्रेक्ष्य, 'जनसंचार माध्यमों का सामाजिक चरित्र, 'हिन्दी सिनेमा का का समाजशास्त्र' सहित अनेक पुस्तकें प्रकाशित। फिलहाल इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली में हिन्दी के प्रोफेसर और मानविकी विद्यापीठ के निदेशक। सम्पर्क-जे-1, यमुना इग्नू कैम्पस, मैदानगढ़ी, नयी दिल्ली-110068 मो. 9810606751

वैभव सिंह : जन्म 4 सितम्बर 1974, उन्नाव (उ.प्र.)। जेएनयू नयी दिल्ली से हिन्दी साहित्य में एम.ए., एम.फिल्. और पी-एच.डी.। प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में गम्भीर आलोचनात्मक लेखन। टेरी ईगल्टन और पवन कुमार वर्मा की पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद, इतिहास और राष्ट्रवाद (आलोचना) प्रकाशित। सम्प्रति : विभिन्न शोध परियोजनाओं में सक्रिय। सम्पर्क : vaibhav.newmail@gmail.com मो. 9711312374, 9888384855

जगदीश्वर चतुर्वेदी : जन्म 1957, मथुरा (उ. प्र.)। जेएनयू नयी दिल्ली से एम.ए., एम. फिल, पी-एच.डी.। जनमाध्यम और मासकल्चर, सूचना समाज, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, जनमाध्यम सैद्धान्तिक सहित अनेक किताबें प्रकाशित। फिलहाल कोलकाता विश्वविद्यालय कोलकाता में प्रोफेसर। सम्पर्क : 9331762360

रंजीत वर्मा : पिछले तीस वर्षों से सृजनरत। पहल, वसुधा, संवेद, साक्षात्कार वर्तमान साहित्य, समकालीन भारतीय साहित्य, पाखी, जन संस्कृति, नयी संस्कृति सहित कई अन्य पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं प्रकाशित। 'पीछे न छोड़ते निशान' कविता संग्रह प्रकाशित। सम्पर्क : 80 डी, पॉकेट-बी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली, 110095 मो. 880535376

वन्दना राग : 1990 में हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली से इतिहास में एम.ए.। चर्चित कथाकार। एरिक हाब्सबौम की किताब 'एज ऑफ कैपिटल' का अनुवाद 'पूंजी का युग' तथा कहानी संग्रह 'यूपोटिया' प्रकाशित। सम्पर्क 9922085625

आलोक पाण्डेय : दिनमान की पत्रकारिता पर जे.एन.यू. से शोधकर्य करने के बाद अपने कैरियर की शुरुआत टीवी पत्रकारिता से की। अध्यापकीय जीवन कुशीनगर से शुरू कर के हवाई विश्व विद्यालय, अमेरिका से होते हुए 2006 से हैदराबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एसोसियेट प्रोफेसर हैं। कुछ कविताएँ, कुछ लेख और कुछ किताबें भी। सम्पर्क : 9989273470, dralokpandey@gmail.com.

राकेश बिहारी : जन्म 11 अक्टूबर 1973, शिवहर (बिहार)। शिक्षा-बी.कॉम, एम.बी.ए.। हंस, वागर्थ, कथाक्रम, अन्यथा, पाखी, प्रगतिशील वसुधा और द पब्लिक अजेंडा में कहानियाँ प्रकाशित। वह सपने बेचता था (कहानी संग्रह) प्रकाशित। सम्प्रति एनटीपीसी लि. में कार्यरत; सम्पर्क एनएच 3/सी76, एनटीपीसी विंध्याचल, पो, विंध्यगनर सिगरौली-486885, मो. 9425823033

विजेन्द्र : 10 जनवरी 1935, काशी हिन्दू विवि से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए.। राजस्थान के विभिन्न कॉलेजों में अध्ययन कार्य। अब तक दस कविता संग्रह और दो काव्य नाटक प्रकाशित। राजस्थान साहित्य अकादमी के सर्वोच्च मीरा पुरस्कार से पुरस्कृत। प्रथम 'पहल' सम्मान से अलंकृत। के.के. बिड़ला फाउण्डेशन के बिहारी पुरस्कार से सम्मानित। सम्प्रति-'कृतिओर' साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन, चित्रकर्म तथा स्वाध्याय। सम्पर्कः सी-133, वैशाली नगर, जयपुर-302021, मो. 9829408231

नूरजहीर : प्रसिद्ध रंगकर्मी और सामाजिक कार्यकर्ता। 'शुर्ख कारवां के हम सफर' 'मेरे हिस्से की रोशनाई' (संस्मरण) रेत पर खून (कहानी), बड़ उड़ैये (उपन्यास) पत्थर के सैनिक (बाल नाटक) प्रकाशित। सम्पर्कः 20/17, गुलमोहर रोड, शिप्रा सनसिटी इन्दिरापुरम्, गाजियाबाद-201012 मो. 981177236।

विभा रानी : प्रतिष्ठित रंगकर्मी, अनुवादक और लेखक। मैथिली के महत्त्वपूर्ण रचनाओं का हिन्दी अनुवाद। फिल्म, महिला, बच्चा और सामयिक विषयों पर लेखन। कई पुरस्कारों और सम्मानों से विभूषित। नाट्य लेख और अभिनय में समान रूप से सक्रिय। सम्प्रति : इंडियन वायल लि. चेन्नई में वरिष्ठ प्रबन्धक। सम्पर्क : 9444914237

जयश्री रॉय : जन्म-हजारी बाग (झारखंड), गोवा यूनिवर्सिटी से एम.ए.। अनकही (कहानी संग्रह), तुम्हारे लिए (कविता) प्रकाशित। प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ प्रकाशित, सम्पर्क : 9822581137

रोहिणी अग्रवाल : जन्म 3 दिसम्बर 1959, शिक्षा-एम.ए., पी-एच.डी.। इतिवृत्त की सरंचना और संरूप, एक नजर कृष्णा सोबती पर, समकालीन कथा साहित्यः सरहदें और सरोकार (आलोचना) प्रकाशित। लगभग डेढ़ दर्जन कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। सम्प्रतिः महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक में प्रोफेसर। सम्पर्क : 258, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, रोहतक (हरियाणा)

ज्योतिष जोशी : जन्म 6 अप्रैल 1965, धर्मगता, गोपालगंज (बिहार)। दिल्ली वि. वि. से एम.ए., जेएनयू से पी-एच.डी.। आलोचना की छवियाँ, विमर्श और विवेचना, साहित्यिक पत्रकारिता, उपन्यास की समकालीनता समेत दो दर्जन से अधिक पुस्तकों का लेखन-सम्पादन। अनेक सम्मानित शिक्षावृत्तियों के अलावा बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना का साहित्य सेवा सम्मान, हिन्दी अकादमी दिल्ली का साहित्यिक कृति सम्मान तथा आलोचना के लिए देवीशंकर अवस्थी सम्मान। हिन्दी अकादमी दिल्ली के सचिव रहे फिलहाल ललित कला अकादेमी (संस्कृत मंत्रालय, भारत सरकार) के हिन्दी सम्पादक हैं। सम्प्रति—डी-4/37, एम.आई.जी. फ्लेट (दूसरी मंजिल), सेक्टर-15 रोहिणी, दिल्ली-110085 मो. 9818603319

अशोक गुप्ता : जन्म 29 जनवरी, 1947, देहरादून। किसी तरह राह भटक कर बने इंजीनियर, लेकिन लेखक होने की नियति से दामन नहीं छूटा। कहानियाँ, कविताएँ लेख, समीक्षाएँ और प्रेमपत्र लिखे हैं...अब भी लिख रहे हैं। देश की विविध पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित। इसलिए, तुम घना साया (कहानी संग्रह) उत्सव अभी शेष है (उपन्यास) प्रकाशित। सम्पर्क—बी-11/45, सैक्टर-18, रोहिणी, दिल्ली-10085, ashok267@gmail.com मो. 9871187875

गुरमीत बेदी : हिन्दी के चर्चित कवि, कहानीकार और व्यंग्यकार। 'मौसम का तकाजा', (कविता संग्रह) 'कुहासे में एक चेहरा' (कहानी संग्रह), 'नाक का सवाल', 'इसलिए हम हँसते हैं' (व्यंग्य संग्रह) प्रकाशित। सम्प्रति-जिला लोक सम्पर्क अधिकारी, ऊना-174303 (हिमाचल प्रदेश)

सुनील कुमार पाठक : जन्म 8 फरवरी 1964, बगौरा, सीवान (बिहार)। एम.ए.। आजकल, हंस, पाखी, हिन्दुस्तान आदि पत्र-पत्रकाओं में कविताएं प्रकाशित। भोजपुरी का प्रथम हाइकु संग्रह—'नेवान' प्रकाशित। सम्पर्क-जी-3/84, ऑफिसर्स फ्लैट, भारतीय स्टेट बैंक के पास, न्यू यूनाइचक, पटना-800023, मो. 9431283596

राहुल झा : जन्म 12 दिसम्बर 1980, बनारस (उ. प्र.)। विज्ञान स्नातक। वागर्थ, कथादेश, हंस, सम्बोधन, समकालीन भारतीय साहित्य, शेष, आजकल, समकालीन सृजन, नया ज्ञानोदय आदि प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित। सम्प्रति-स्वतंत्र लेखन और पत्रकारिता। सम्पर्क : द्वारा श्री अनिरुद्ध सिन्हा, गुलजार पोखर, मुंगेर-811201 मो. 09835434138

प्रभु जोशी : जन्म 12 दिसम्बर, 1950 देवास (म.प्र.) के एक गाँव में। जीव विज्ञान में स्नातक, रसायन विज्ञान में स्नातकोत्तर के बाद अंग्रेजी में एम.ए.। पहली कहानी 1973 में धर्मयुग में प्रकाशित। नयी दुनिया के सम्पादकीय तथा फीचर पृष्ठों का कई वर्षों तक सम्पादन। पत्र-पत्रिकाओं में हिन्दी और अंगेजी में कहानियाँ प्रकाशित। चित्रकारी बचपन से। जल रंग में विशेष रुचि। कला आलोचना में भी सक्रिय। सम्पर्क : prabhu.joshi@gmail.com मो. 9425346356

हितेन्द्र पटेल : जन्म 1968, मुंगेर (बिहार)। जेएनयू, नयी दिल्ली से एम.फिलृ, पी-एच.डी.। अंग्रेजी और हिन्दी में इतिहास की चार पुस्तकें, तथा एक उपन्यास 'हारिल' प्रकाशित। लगभग 40 आलेख हिन्दी बांग्ला और अंग्रेजी में प्रकाशित। सम्प्रति : रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता के इतिहास विभाग में एसोसियेट प्रोफेसर। सम्पर्क : चेतना अपार्टमेंट, 493/बी, पर्णश्रीपल्ली, कोलकाता-700060 मो. 9230511567

रामदेव सिंह : जन्म 15 नवम्बर, 1954, मधेपुरा (बिहार), विज्ञान स्नातक। एक कहानी संग्रह 'काले कोट का सफेद दिन' प्रकाशित। अभिनय और रंगमंच में गहरी दिलचस्पी। सम्पर्क : 1115 सी.डी. इंडियन इंस्टीट्यूट कॉलोनी, मुगलसराय-232101 (उ.प्र.) मो. 9454061301

डेनियाला ब्रेडी : उर्दू भाषा, इस्लाम और परवाद्य सभ्यता की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की विदुषी।

मनोज कुमार झा : जन्म 7 सितम्बर 1976, शंकरपुर माँउ-बेहट (दरभंगा)। विज्ञान में स्नातकोत्तर। विभिन्न प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में कविताएँ, आलेख एवं समकालीन चिन्तकों का अनुवाद प्रकाशित। कविता के लिए भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार, मैथिली और अंग्रेजी में भी लेखन। सम्पर्क : द्वारा श्री सुरेश मिश्र, दीवानी तकिया, कटहल बाड़ी, दरभंगा-846004 (बिहार) मो. 9973410548

अरुण कुमार : जन्म 5 मार्च 1953, सियारी, सीतामढ़ी (बिहार)। जेएनयू नयी दिल्ली से हिन्दी में एम.ए., राँची विश्वविद्यालय से पी-एच.डी.। 'साम्प्रादायिकता : अतीत और वर्तमान, 'सिनेमा और हिन्दी सिनेमा' 'भारत में साम्प्रदायिकता का दौर' पुस्तकें प्रकाशित। सम्प्रति : आर.एल.एस.वाई. कॉलेज, राँची में रीडर। सम्पर्क : 2के/81,हाउसिंग कॉलोनी, बरिया, राँची-834003, मो.9835196472

उर्मिला जैन : जन्म 4 मार्च 1940 आरा (बिहार), शिक्षा-एम.ए. डी. फिल.। आधुनिक हिन्दी काव्य में क्रांति की विचारधाराएं (शोधप्रबन्ध), देश-देश में गाँव-गाँव में (यात्रा वृतान्त), साहित्य के नये सन्दर्भ (महेन्द्र राजा जैन के साथ, अछूते विषयों पर कुछ विचार) प्रकाशित। कई पत्रिकाओं का सम्पादन। 1965 से 1980 तक विदेश प्रवास, अब तक 44 देशों की यात्रा। निराश्रित और गरीब महिलाओं के सेवा-कार्य में सक्रिय। सम्प्रति : संस्कृतिकर्म और लेखन। सम्पर्क : सन्दर्भ- 8ए, बन्द रोड, एलनेगंज, इलाहाबाद-211002 मो. 9415347351

प्रेमपाल शर्मा : जन्म 15 अक्तूबर 1956, बुलन्दशहर (उ. प्र.)। तीसरी चिट्ठी, पिज्जा और छेदीलाल, अजगर करे ना चाकरी (कहानी संग्रह), चौराहे (उपन्यास), आदमी को तलाशते हुए (कविता संग्रह), समय समाज और संस्कृति, हिन्दी पट्टीः पतन की पड़ताल (लेख) प्रकाशित। सम्प्रति-96, कला विहार अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-I, दिल्ली-110091 मो. 9910487550

सुरेश पण्डित : जन्म 8 जुलाई 1932, हरियाणा के हासी जिला के हिसार कस्बे में बी.एच. यू. से अंग्रेजी में एम.ए., राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से हिन्दी में एम.ए.। राजस्थान के शिक्षा विभाग में अध्यापन से शुरु कर प्रशासनिक अधिकारी के रूप में सेवानिवृत। समाज वैज्ञानिक नजरिये से साहित्य को परखने में दिलचस्पी। सम्पर्क : 383, स्कीम नं. 2, लाजपत नगर, अलवर-301001, मो. 8085725639

❑ ❑ ❑